सत्याग्रह-मीमांसा

लेखक

श्री रंगनाथ दिवाकर

●

अनुवादक

श्री बाबूराव जोशी

१९४९

सस्ता साहित्य मंडल

नई दिल्ली

प्रकाशक :
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मण्डल.
नई दिल्ली

पहली बार : १९४९

मूल्य

साढ़े तीन रुपए

बालकृष्ण, एम
युगान्तर प्रकाशन लि

विषय-सूची

P. C.

भूमिका

महात्माजी ने बहुत लिखा है और विविध विषयों पर लिखा है। उस सब को देखकर साधारण आदमी चक्कर में पड़ जाता है। उनका जीवन मानो सत्य के प्रयोग की एक लम्बी श्रृङ्खला ही है। उन्होंने अपनी आत्मकथा का नाम 'सत्य के प्रयोग' रखा है। यह उपयुक्त नाम उनके जीवन की ही स्थिति को अभिव्यक्त करता है। उनके इस लेखन में सत्य के इन प्रयोगों के परिणाम और प्रक्रिया ही निहित हैं। गांधीजी द्वारा निर्मित साहित्य बहुत है। यद्यपि खास-खास विषयों पर उनके लेखों और पत्रों का संकलन करके उन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित किया जा चुका है। फिर भी यदि पाठक किसी विशेष विषय पर उनके विचार जानना चाहें तो बड़ी जल्दी किसी निश्चित स्थान पर संक्षिप्त रूप में उनका मिलना बड़ा कठिन है। इसका कारण यह है कि अपने दर्शन पर उन्होंने कोई क्रमबद्ध शास्त्रीय पाठ्य पुस्तक लिखने का प्रयत्न नहीं किया। अतः यह आवश्यक है कि जिन्होंने गांधीजी के दर्शन का केवल अध्ययन ही नहीं किया, बल्कि उसके अनुसार अपने जीवन को बनाने का भी प्रयत्न किया है, वे जीवन-योगी साधक उस दर्शन के विविध पहलुओं पर तथा दूसरे विशेष विषयों पर पाठ्य पुस्तकें लिखें। गांधीजी का सारा दर्शन सत्य और अहिंसा पर अधिष्ठित है। सत्याग्रह गतिशील रूप में सत्य है जिसमें नाममात्र के लिए भी हिंसा का स्थान नहीं है। वास्तव में तो अहिंसा सत्य का एक पहलू है। घर के छोटे-मोटे प्रश्नों को हल करने के लिए उन्होंने जिस प्रकार सत्याग्रह का आश्रय लिया उसी प्रकार हिन्दुस्तान की आजादी के लिए भी उसीका आश्रय लिया। उन्होंने व्यक्तिगत रूप से तथा असंख्य लोगों के साथ भी सत्याग्रह किया है। उन्होंने जिस प्रकार सत्याग्रह करने का आदेश एक व्यक्ति को दिया उसी प्रकार अनेक समूहों को भी दिया। किन्हीं-किन्हीं प्रसंगों पर तो उसकी

सफलता अनुपम और आश्चर्यजनक हुई है। एक बहुत बड़े पैमाने पर किया गया सत्याग्रह सशस्त्र युद्ध की अपेक्षा कई गुना ज्यादा अच्छा और श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण और सर्वांगीण पर्याय सिद्ध हो, यह उसका उद्देश्य है। दो पक्षों के झगड़े को मिटाने के हिंसक तरीके और इस तरीके में मूलभूत फर्क यह है कि सत्याग्रह के तरीके में सत्याग्रही अपने कर्तव्य-पालन का सतत विचार रखकर उसके लिए जितनी भी मुसीबतें आती हैं उन्हें उठाने के लिए तैयार रहता है; लेकिन अपने विपक्षी को थोड़ा-सा भी कष्ट देना नहीं चाहता। वह द्वेष को द्वेष से नहीं प्रेम से जीतना चाहता है। लड़ाई का परिणाम चाहे कुछ हो सत्याग्रही विपक्षी के मन में कड़वाहट नहीं रहने देता। सत्याग्रही के लिए मानसिक और नैतिक शिक्षा तथा अभ्यास की आवश्यकता है। शरीर और मन के आरोग्य की भी जरूरत है। सशस्त्र सेनाओं के सैनिक के लिए शारीरिक शिक्षा और उसके साथ ही थोड़ी-सी मानसिक शिक्षा की जो जरूरत रहती है उससे थोड़ी-सी भी कम जरूरत सत्याग्रही के लिए नहीं होती। सत्याग्रह का एक स्वतन्त्र तन्त्र है और उसकी अपनी स्वतन्त्र युद्ध-प्रणाली है। सत्याग्रह ने अबतक अपने आस-पास ऐसी अनेक घटनाओं का निर्माण कर लिया है और उनको संसार के सामने रखा है। इससे मानव-समाज के इतिहास में उन घटनाओं को एक चमकता हुआ प्रसिद्ध स्थान प्राप्त हो गया है और इसीलिए सत्याग्रह एक अत्यन्त आकर्षक एवं मनोरंजक अध्ययन का विषय बन गया है। इस विषय पर श्री० आर० आर० दिवाकर ने पाठ्य पुस्तक जैसी एक पुस्तक लिखकर बहुत बड़ी सेवा की है। उन्होंने इस विषय का प्रतिपादन केवल पुस्तकों के अध्ययन के आधार पर ही नहीं बल्कि जीवन की प्रयोगशाला में व्यावहारिक आचरण के नियमित पाठ पढ़कर भी किया है। श्री० आर० आर० दिवाकर की मूल पुस्तक की भूमिका भाई श्री किशोरलाल मशरूवाला ने लिखी है। श्री किशोरलाल भाई गांधी तत्वज्ञान का अत्यन्त सूक्ष्म और तीव्र अध्ययन करने वालों में से हैं। गांधीजी के

साहचर्य और निकटता प्राप्त करने वाले व्यक्ति के शब्दों को जो अधिकार प्राप्त हो जाता है उसपर ध्यान दिये विना नहीं रहा जा सकता। मुझे आशा है कि पुस्तक को केवल जिज्ञासा और कौतुक से पढ़ने वाले पाठक ही नहीं किन्तु गांधी-जीवन-पद्धति का ज्ञान प्राप्त करके उसके अनुसार जीवन व्यतीत करने वाले जितने जीवन-प्रेमी विचारक और विद्यार्थी हैं वे भी इसे पढ़ेंगे।

सदाकत आश्रम
२-१-१९४९

—राजेन्द्रप्रसाद

प्रस्तावना

करीब-करीब विगत ४० वर्षों में सत्याग्रह के नाम से सब परिचित हो गये हैं। वह सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रों में सारे अन्यायों का प्रतिकार करने का एक तरीका है। सत्य और प्रेम उसके अधिष्ठान हैं। सत्याग्रह का अर्थ है अहिंसात्मक प्रत्यक्ष प्रतिकार। सन् १९०६ में दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह-संग्राम के समय उसकी पहिले-पहल शुरूआत हुई। उस समय उसने टालस्टॉय जैसे बड़े-बड़े विचारकों का ध्यान आकर्षित कर लिया। हिन्दुस्तान में राष्ट्रव्यापी पैमाने पर उसका प्रयोग देखकर इस बात पर विचार करने वाले प्रत्येक मनुष्य का ध्यान उसके ऊपर केन्द्रित हो गया है कि मनुष्यों के आपसी झगड़े किस प्रकार शान्ति के साथ निबटाये जा सकते हैं।

सत्याग्रह के प्रारम्भ, इतिहास, तत्त्वप्रणाली और तन्त्र का संक्षिप्त वृत्तान्त देने का यह एक अल्प प्रयत्न है। सत्याग्रह-शास्त्र की शुरूआत और उसके विकास का श्रेय गांधीजी को होने के कारण इस वृत्तान्त में उनका प्रमुख स्थान होना स्वाभाविक ही है। जिस प्रकार सत्याग्रह के इतिहास में गांधीजी का अटल स्थान है उसी प्रकार जीवन-सिद्धान्त के रूप में सत्याग्रह का सविस्तर वर्णन किये बिना यह वर्णन सार्थक या पूरा नहीं होगा। उस तत्त्व-प्रणाणी में से ही इस सत्याग्रह-पद्धति का विकास हुआ है।

यह स्वीकार करना चाहिए कि अभी सत्याग्रह-शास्त्र प्रगति ही कर रहा है। उसके प्रणेता अभी जीवित हैं और वे उसके विकास में मदद कर रहे हैं। इस प्रकार की प्रगत अवस्था में रहने वाले किसी भी शास्त्र का विवेचन परिपूर्ण और निर्णायक नहीं हो सकता। लेकिन आज सत्याग्रह-पद्धति एक ऐसी अवस्था में पहुँच गई है कि उसका

वृत्तान्त लोगों की आवश्यकता पूरी करके उसके लिए उपयोगी हो सकेगा।

मैंने इस वृत्तान्त को, जहाँ तक हो, संक्षेप में देने का प्रयत्न किया है; अतः सत्याग्रह-संग्राम का वर्णन करते हुए केवल महत्त्वपूर्ण घटनाओं का ही निर्देश किया है। मैसूर, त्रावणकोर तथा कुछ अन्य रियासतों के सत्याग्रह की जानकारी देने की भी मेरी इच्छा थी, लेकिन समय पर तत्सम्बन्धी आवश्यक जानकारी प्राप्त न हो सकने के कारण मुझे यह विचार छोड़ देना पड़ा।

समय-समय पर जिन मित्रों ने मुझे उपयुक्त सुझाव देकर मेरे काम में मदद की है उनका तथा उन ग्रन्थों के लेखकों का मुझे आभार मानना चाहिए, जिनका परिशीलन मैंने इस विषय का अध्ययन करते हुए किया।

यह कह देना भी अप्रस्तुत न होगा कि इस विषय का सूक्ष्म निरीक्षक होने के कारण लेखक ने स्वयं हिन्दुस्तान और खासकर कर्नाटक के अनेक सत्याग्रहों में प्रत्यक्ष रूप से भाग लिया है।

नई दिल्ली
१–४–४६

—रंगनाथ दिवाकर

प्रास्ताविक विचार

इस पुस्तक में मेरे मित्र रंगराव दिवाकर ने संक्षेप में निरूपण किया है कि सत्याग्रह की शक्ति ने अपने वर्तमान हिन्दुस्तानी स्वरूप में किस प्रकार गांधीजी के हृदय में जन्म लिया और वह विगत चालीस-पैंतालीस वर्षों में—पहिले दक्षिण अफ्रीका में और बाद में हिन्दुस्तान में—उनके जीवन के साथ विकसित होती गई। इसी ग्रन्थ में इसी विकास के इतिहास का निरूपण किया गया है। इसमें उन्होंने सत्याग्रह-सिद्धांत एवं उसके प्रकारों का विस्तृत विवेचन किया है। अतः इन्हीं बातों की दुबारा चर्चा करके मैं पाठकों का समय नहीं लेना चाहता। यहां तो मैं पाठकों के सामने इस विषय में अपने स्वतन्त्र एवं पूरक विचार ही रख रहा हूँ।

सत्याग्रह की व्याख्या करते हुए गांधीजी ने उसे 'आत्मबल' 'आध्यात्मिक या अहिंसक शक्ति', अथवा परमेश्वर पर अनन्य एवं दृढ़ श्रद्धा रखने से प्राप्त सामर्थ्य कहकर उसके स्वरूप का वर्णन किया है। गांधीजी के मतानुसार अहिंसा की सफलता के लिए परमेश्वर पर अनन्य श्रद्धा रखना अनिवार्य है। वे कहते हैं—

"सत्याग्रही की अहिंसा में दृढ़ निष्ठा होनी चाहिए। परमेश्वर पर अनन्य श्रद्धा रखे बिना इस प्रकार की निष्ठा कायम नहीं रह सकती। सत्याग्रही के लिए ईश्वर के बल और अनुग्रह के अतिरिक्त किसी अन्य शक्ति की सहायता नहीं हो सकती। द्वेष, क्रोध, भय एवं प्रतिकार-वृत्ति को मन में तनिक भी स्थान न देकर मृत्यु का आलिंगन करने के धैर्य के बिना परमेश्वर का अनुग्रह प्राप्त नहीं हो सकता।"

(हरिजन, १८-६-१९३८)

गांधी-सेवा संघ में बोलते हुए भी उन्होंने कहा है—

"सत्याग्रही के हृदय में अनन्य श्रद्धा होनी चाहिए; क्योंकि उसकी एकमात्र सामर्थ्य है—परमेश्वर पर अचल श्रद्धा। इस श्रद्धा के बिना वह सत्याग्रह किस प्रकार कर सकता है?" "न तो तनिक-सी चूंचपड़ किये और न मन में गुस्सा ही लाए सब प्रकार के कष्ट सहन करने का धैर्य केवल मानवी प्रयत्नों के बल पर प्राप्त करना असम्भव है। वह तो परमेश्वर की कृपा से ही प्राप्त होता है। बल्कि परमेश्वर की कृपा ही सत्याग्रही का बल है। जो मनुष्य उस अनन्त शक्ति पर अपनी सारी चिन्ताओं का भार डाल सकता है उसीके लिए कहा जा सकता है कि उसकी ईश्वर पर अटल श्रद्धा है।"

(हरिजन, १३-५-३६ और ३-६-३६)

यदि इन शब्दों का कोई और भी ज्यादा खुलासा चाहे तो गांधीजी कहेंगे—"परमेश्वर का अर्थ है सत्य अथवा सत्य ही परमेश्वर है।" अथवा "प्रेम और अहिंसा ही परमेश्वर का स्वरूप है। उसमें द्वेष और युद्ध की सम्भावना नहीं।" "आत्मबल अथवा आध्यात्मिक शक्ति पाशवी शक्ति से बिलकुल भिन्न है।" वे यह भी कहेंगे—"परमेश्वर सब के अन्तःकरण में है। उसकी सन्निधि में भय का कोई कारण नहीं।" "परमेश्वर की सर्वव्यापकता के ज्ञान का अर्थ है भूतमात्र से—अपने विरोधियों और गुण्डों से भी—प्रेम।" प्रेमस्वरूप ईश्वर पर अटल श्रद्धा रखने का अर्थ है सारे मानवों के साथ समान प्रेम। (उपर्युक्त सारे अवतरण ऊपर बताये हुए हरिजन के अङ्कों से लिये गये हैं)

जबतक साधारण मनुष्य की बुद्धि किसी विशेष तत्वज्ञान या साम्प्रदायिक वाद को मजबूती से ग्रहण नहीं कर लेती तबतक उसे—फिर वह चाहे किसी देश या धर्म का हो—उपर्युक्त बातें स्पष्ट और पर्याप्त प्रतीत होती हैं। उसे परमेश्वर, आत्मा, आत्मबल, पशुबल, अहिंसा, द्वेष इत्यादि शब्दों का अर्थ सरलता से समझ में आने जैसा लगता है। जिस प्रकार वह मीठे और कड़वे, प्यास और भूख, मित्रता

और शत्रुता का अर्थ और उसका भेद साफ-साफ समझता है उसी प्रकार उपर्युक्त शब्दों के अर्थ और उनके भेद भी उसकी समझ में आने जैसे लगते हैं। और जिस अर्थ में वह इन शब्दों को समझता है उसी अर्थ में उसे गांधीजी के विवेचन से नित्य जीवन के लिए उपयोगी मार्ग-दर्शन भी प्राप्त होता है। साधारण प्रसङ्गों पर वह अपनी विवेक-बुद्धि पर विश्वास रखकर अपने जीवन की नीति बना लेता है।

लेकिन जब एक बार मनुष्य तत्वज्ञान के वादों और तार्किक चर्चाओं में फँस जाता है तो उससे छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। फिर तो उसके लिए साधारण से शब्द का अर्थ और रहस्य अगम्य हो जाता है। कितने ही वर्षों से मेरा यह मत हो गया है कि हमारे तथा अन्य देशों में तत्वज्ञान जिस दिशा में जा रहे हैं वह मूलतः ही गलत है। इसमें विभिन्न पन्थ और उपपन्थों ने विचारों की स्पष्टता के स्थान पर अस्पष्टता ही बढ़ाई है।

नतीजा यह हुआ है कि बहुत-से विद्वान् यह समझते हैं कि गांधीजी का सत्याग्रह का सन्देश और अहिंसा, सत्य, परमेश्वर, आत्मबल आदि की व्याख्या समझना बहुत कठिन है। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि गांधीजी या तो एक रहस्यपूर्ण और दूसरों की पकड़ में न आ सकने वाली भाषा का जान-बूझकर तथा योजनापूर्वक प्रयोग करते हैं अथवा उनका विवेचन ऊटपटांग और अस्पष्ट है। मेरा अपना विचार यह है कि हमें गांधीजी और उनका संदेश दुर्बोध लगने का कारण यह है कि उस विषय को देखने की हमारी पद्धति ही गलत है। जिस विषय का परिचय प्राप्त करने के लिए अत्यन्त सरल और प्रत्यक्ष प्रयोग की ही आवश्यकता है और जिसे प्रत्यक्ष आचरण से ही अनुभव किया जा सकता है वह विषय केवल तात्विक वाद-विवाद से एक सीमा के बाद कभी नहीं जाना जा सकता। जिसने कभी मिठाई का स्वाद नहीं लिया यदि उसके सामने मिठाई की निश्चित एवं शास्त्रशुद्ध व्याख्या की गई

तो भी वह कभी नहीं जान सकेगा कि किसी पदार्थ की मिठास कैसी होती है। और गुड़ और शक्कर की मिठास का अन्तर मालूम करना तो उससे भी ज्यादा असम्भवनीय होगा। और यदि कोई दुनिया का सबसे बड़ा वैज्ञानिक भी मिठाई का प्रत्यक्ष स्वाद लिए बिना ही मिठास का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगे तो जो ज्ञान मिठाई का स्वाद लेने वाले एक छोटे-से बच्चे को होता है वह उस बड़े वैज्ञानिक को भी नहीं हो सकता।

केवल तार्किक पद्धति से तत्व-विचार करने की आदत का यह परिणाम हुआ है कि संसार में तर्कवाद निर्माण करने में कुशल जितने विद्वान् हैं उतने ही तत्वज्ञान के पंथ बन गये हैं। आत्मा, परमात्मा आदि सब मिथ्या हैं; इन सब में केवल एक प्रकृति तत्व ही है, जिनका यह निश्चित विचार है कि वे लोग एक सिरे पर हैं तो दूसरे सिरे पर वे लोग हैं जो यह प्रतिपादन करते हैं कि प्रकृति जैसी कोई चीज नहीं है। केवल एक शुद्ध-सनातन आत्मतत्व ही है। पहिले मत के लोगों की दृष्टि से अहिंसात्मक सत्याग्रह-व्यवहार-बुद्धि से लाभ-हानि का विचार करके निश्चित की गई एक प्रकार की व्यूह-रचना युद्ध-नीति अथवा पैंतरा है। हिन्दुस्तान की परिस्थिति में भले ही उसका अवलम्बन कीजिये; लेकिन उसकी निरर्थक धार्मिक, आध्यात्मिक महिमा मत गाते रहिये। दूसरे मत वालों का कहना इससे बिलकुल उलटा है। वे कहते हैं कि आधिभौतिक जैसी कोई शक्ति ही नहीं है। शक्ति तो केवल आत्मा की आध्यात्मिक ही है। शेर का भयङ्कर शरीर-बल, एटम बम की विनाशक शक्ति और उसके आविष्कारक की बौद्धिक कुशलता भी उतनी ही आध्यात्मिक शक्ति है जितनी सुकरात, ईसा, प्रह्लाद या गांधीजी के अहिंसात्मक प्रतिकार और अद्वेषभाव से कष्ट-सहन करने में दिखाई देने वाले धैर्य-बल में है। अतः आधिभौतिक या पशुबल और आध्यात्मिक या आत्मबल जैसे भेद करने का कोई कारण नहीं है। दोनों पथों का अन्तिम निष्कर्ष एक ही है। वह यह कि तात्विक दृष्टि से

पशुबल (हिंसा) तथा सत्याग्रह-बल (अहिंसा) में अच्छे-बुरे का भेद नहीं किया जा सकता। व्यावहारिक दृष्टि से किस समय किस नीति का अवलम्बन ठीक होगा, इसका विचार करके जो ठीक मालूम हो वही निश्चित करना चाहिये। दोनों ही यह अनुभव करते हैं कि हिन्दुस्तान की वर्तमान परिस्थिति में सत्याग्रह का मार्ग ही व्यावहारिक है। लेकिन गांधीजी सत्याग्रह की जिस विश्वव्यापकता का और उसे सृष्टि का नियम आदि कहकर उसको माहात्म्य कहते हैं, वह व्यर्थ है।

विद्यापीठ के अनेक पदवीधारी नवयुवकों ने मेरे पास आकर कहा है—"गांधीजी के लेखों में बार-बार ईश्वर के उल्लेख तथा उठते-बैठते सत्य-अहिंसा के मन्त्रजाप से हमारा जी ऊब गया है। बन्द हो अब यह परमेश्वर-पुराण और अहिंसा-माहात्म्य।"

दूसरी ओर मुझे कुछ ऐसे प्रौढ़ वेदान्ती भी मिले हैं जो गांधीजी की ईश्वरपरायण वृत्ति का तो आदर करते हैं लेकिन साथ ही उन्हें गांधीजी के अज्ञान पर तरस भी आता है। वे कहते हैं—"यह कहना होगा कि गांधीजी को आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं है। आत्मा तो हिंसा-अहिंसा दोनों के परे है। सत्यासत्य और अहिंसा-हिंसा आदि द्वन्द्व आत्मा को स्पर्श नहीं कर सकते। यदि वे आत्मज्ञान प्राप्त करके निरहंकार अवस्था प्राप्त कर लें तो वे हिंसा-अहिंसा के वाद में नहीं उलझेंगे। समय आने पर सारे संसार का भी संहार करने की शक्ति उनको प्राप्त हो जायगी। वे उस काम को निर्विकार रूप से कर सकेंगे। ऐसा हो जाय तो भारतमाता का अमर्याद पुरुषार्थ जो आज अहिंसा के बन्धन में जकड़ा हुआ है मुक्त हो जायगा और वे बड़े-बड़े कार्य कर सकेंगे।"

इन दोनों छोरों के बीच धर्म और तत्त्वज्ञान के ऐसे बहुत-से पंडित हैं जिन्हें यह प्रतीत होता है कि गांधीजी हिंसा का जो अत्यन्त निषेध करते हैं, वह धर्म और तत्त्वज्ञान के अनुकूल नहीं है। भिन्न-भिन्न धर्म-पन्थों के अनुयायियों के बीच तो मानो इस विषय में स्पर्धा ही हो

रही है। इसमें कितने ही बौद्ध और जैन पंडितों का भी समावेश होता है। प्रत्येक यह सिद्ध करके दिखाता प्रतीत होता है कि उसके पन्थ में हिंसा का सर्वथा निषेध नहीं है। बल्कि उन पन्थों ने तो यह भी स्वीकार किया है कि कुछ प्रसंगों के ऊपर हिंसा पवित्र और धार्मिक कर्त्तव्य हो जाता है।

इस पांडित्यपूर्ण चर्चा को सुनकर तो ऐसे साधारण व्यक्ति भी भ्रम में पड़ जाते हैं जिनको पहिले गांधीजी के उपदेशों के विषय में कोई शंका नहीं थी।

ऐसी स्थिति में सत्याग्रह-तत्त्व के सम्बन्ध में किस प्रकार विचार करना ठीक होगा ?

यहां मैं अपने विचार रखता हूं। मेरे विचारों की उत्क्रान्ति में अनेक धार्मिक और तात्त्विक संस्कारों का हाथ है। लेकिन आज मेरी निष्ठा किसी विशेष धर्मपंथ अथवा दर्शन से चिपटी हुई नहीं है और न वह किसी भी शास्त्र के शब्द-प्रमाण ही मानती है। लेकिन कुछ इतिहास-प्रसिद्ध सत्याग्रही, कुछ मेरे अपने परिचित सत्याग्रही और मेरा अपना थोड़ा-बहुत अनुभव, इन सबके आधार पर मैं यह ढूंढ़ने का प्रयत्न करूंगा कि सत्याग्रही की निष्ठा के मूल में किस प्रकार का धैर्य और बल काम करता है।

इससे मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में दो विशेष प्रकार के बलों के बीज रहते हैं। मैं एक को नीतिबल और दूसरे को तेजोबल कहूँगा।

इनमें नीतिबल का स्वरूप इस प्रकार है—मनुष्य को तरह-तरह के ऐहिक लाभ तथा मानसिक एवं ऐन्द्रिक सुखों की इच्छा रहती है और उन्हें प्राप्त करने के लिए वह रात-दिन प्रयत्न किया करता है। लेकिन उसे अपने पर संयम रखने की एक ऐसी शक्ति प्राप्त रहती है

जिससे वे प्रयत्न एक नियत मर्यादा के अन्दर रह सकें। यदि वह शक्ति अच्छी तरह बढ़ जाय तो वह हमें उस सुख की परवाह न करने का बल देती है जो कि उस निश्चित मर्यादा को छोड़े बिना प्राप्त होना सम्भव नहीं होता। अत्यन्त कठिन परिस्थितियों में तथा बड़े-बड़े प्रलोभनों के वश में भी न होने का मनोबल उस व्यक्ति को प्राप्त हो जाता है। वह अपनी सुखेच्छा पर उस समय तक संयम रख सकता है जबतक कि वह यह नहीं समझता कि किसी भिन्न प्रकार की विचार-धारा या संगति के वश होकर उस मर्यादा को तोड़ने में कोई हर्ज नहीं है। इस प्रकार अपने ऐहिक लाभ और सुख को किसी विशेष मर्यादित मार्ग से ही प्राप्त करने की स्वनियमन शक्ति ही मनुष्य का नीतिबल है। मनुष्य की जंगली अथवा सुधरी हुई सभ्यता से अथवा उसकी आर्थिक समृद्धि या दरिद्रता से अथवा उसके वैज्ञानिक या साहित्यिक विकास से इस बल की प्रगति का अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। उसका मनुष्य की तार्किक शक्ति अथवा शास्त्रीय पांडित्य से भी हमेशा सम्बन्ध नहीं रहता है। अपना सुख-प्राप्ति का मर्यादा-मार्ग या तो वह स्वयं ही निश्चित कर लेता है अथवा वह उसे उसके जीवन पर संस्कार डालने वाले व्यक्ति या समाज की ओर से प्राप्त होता है। हो सकता है कि यह बल किसी अत्यन्त बुद्धिमान्, राजनीतिज्ञ, विद्वान् शास्त्री अथवा बड़े वैज्ञानिक में बहुत कम भी हो और किसी जंगली या अशिक्षित के अन्दर भरपूर भी हो। किसी छोटे-से किशोर बालक में बहुत अधिक हो सकता है और उसके पिता या पितामह में बहुत कम भी हो सकता है। अकाल, युद्ध, महामारी, भयङ्कर दरिद्रता आदि विषम परिस्थितियों में नीतिबल ठेठ नीचे की सतह पर पहुँचता हुआ दिखाई देगा ; लेकिन ऐसा कोई व्यक्ति नहीं हो सकता जिसे इस बल की जानकारी ही न हो। यद्यपि साधारणतः यह बल धर्म और तत्त्व-ज्ञान से सम्बद्ध दिखाई देता है तथापि उससे इसका अविच्छेद सम्बन्ध नहीं है। उल्टे इस बल को क्षीण करने वाले अथवा इसकी अवहेलना

करने की शिक्षा देने वाले भी कुछ धर्मपन्थ और ज्ञान-मार्ग संसार में हैं।

यहां मुझे इस नीतिबल के आदि स्वरूप या मूल कारण के सम्बन्ध में विवेचन नहीं करना है। एक निश्चित सीमा तक उस शक्ति के बढ़ जाने पर साधारण समझदार व्यक्ति को उसमें छिपी हुई जिस मनोवृत्ति की ठीक-ठीक जानकारी होने लगती है उसके स्वरूप पर विचार करना ही पर्याप्त होगा। हमारा व्यक्तिगत जीवन अच्छा हो और अपने आस-पास के संसार से भी हमारा सम्बन्ध वैसे ही भलेपन का हो। संक्षेप में इस मनोवृत्ति की इच्छा होती है—'भले बनें और भला करें'। यदि विस्तारपूर्वक कहना हो तो कह सकते हैं कि हमारे जीवन और कार्यपद्धति में शुद्धता हो, सब से मैत्री हो और सब के सहायक बनने की इच्छा भी हो। यदि गांधीजी के शब्दों में कहना हो तो यह मनुष्य के हृदय में रहने वाली अहिंसा वृत्ति है।

प्राणिमात्र में यह इच्छा रहती है कि वह सुखी हो। इसके साथ ही मनुष्य के हृदय में यह दूसरी इच्छा होती है कि हम भले बनें और भला करें। ये दोनों इच्छाएं प्रवृत्तिप्रेरक हैं। इनमें भलेपन की इच्छा में से जो प्रवृत्ति पैदा होती है वह सुखेच्छा पर नियन्त्रण रख सकती है। सुखेच्छा की अपेक्षा यह जितनी प्रबल होती है उस व्यक्ति का नीतिबल उतना ही अधिक प्रभावशाली सिद्ध होता है; क्योंकि भलेपन की इच्छा से ही नीतिबल को पोषण मिलता है। भलेपन की इच्छा न रखने वाला मनुष्य नहीं होता। इसलिये जिसमें नीतिबल नहीं, वह भी मनुष्य नहीं। लेकिन भलेपन की मन्दता-तीव्रता के अनुसार ही नीतिबल की कार्यशीलता सुस्त या तेज होती है।

प्रत्येक मनुष्य के हृदय में रहने वाली दूसरी शक्ति है उसका तेजोबल। यह शक्ति हमेशा व्यक्त या जाग्रत नहीं रहती; यह तो सुप्त रहती है। लेकिन ऐसा कोई मनुष्य नहीं होता जिसमें यह शक्ति न

हो। जब किसी मनुष्य में यह तेजबल जाग्रत हो जाता है तब उसके हाथ से असाधारण काम हो जाते हैं और उसमें अपार आत्म-बलिदान करने का साहस हो जाता है। वह आगा-पीछा देखे बिना अपने सारे ऐहिक सुखों को तिलाञ्जलि दे सकता है, मौका पड़ने पर अपने आप्तजन, धन-सम्पत्ति और प्राणों को भी होम कर सकता है और आने वाली यातनाओं को सहन कर सकता है। वह शक्ति जब अपना पूर्ण सामर्थ्य प्रकट करती है तब भय का नैसर्गिक भाव भी मिट जाता है और अनुभव होने लगता है कि हमारे जीवन का एक विशिष्ट हेतु है; उसके लिए हममें अपना सारा जीवन लगा देने की दृढ़ता उत्पन्न होती है। सुप्तावस्था से प्रवृत्तिशील अवस्था में तेजोबल का जो रूपान्तर होता है उसमें से ही सारी क्रान्तियों का निर्माण होता है। फिर वह क्रान्ति धार्मिक, राजनैतिक या और किसी प्रकार की ही क्यों न हो। यह तेजोबल पहिले किस व्यक्ति में जाग्रत होगा और कब तथा किस प्रकार प्रकट होगा, इसका कोई नियम दिखाई नहीं देता। किसी आकस्मिक कारण से तथा जिस व्यक्ति के सम्बन्ध में कोई ख्याल नहीं कर सकता उसमें भी वह जाग्रत हो सकता है। आगे चलकर यह तेजोबल अग्नि अथवा संक्रामक रोग की भांति फैलने वाला बनकर बहुत-से मनुष्यों को—सारे समाज को—अपने घेरे में ले लेता है और जिसे उसका स्पर्श होता है वे उसके साधन बनकर उसके प्रचारक बन जाते हैं। इस बल से जो व्यक्ति और समाज जाग्रत बनता है उसमें वह अजेय निश्चय बल उत्पन्न कर देता है।

लेकिन यह अनुभव नहीं हुआ है कि इस तेजोबल तथा पूर्वोक्त नीतिबल में हमेशा एकस्वरता रहती है। नीतिबल के प्रायः क्षीण होने पर भी जाग्रत तेजोबल के अनेक उदाहरण दिखाई देते हैं। मान लीजिये कि एक मोटर ड्राइवर मोटर चला रहा है, उसे मालूम है कि उसे कहां जाना है और उस स्थान की ओर वह तेजी से अपनी गाड़ी चला रहा है। रास्ते में किसीको धक्का लगे या दुर्घटना हो तो वह

न उसकी तनिक भी चिन्ता करता है और न ब्रेक को ही हाथ लगाता है। यह है नीतिविहीन तेजोबल का काम। जिस व्यक्ति का केवल तेजोबल ही जाग्रत हो जाता है उसे यह तो मालूम होता है कि उसका ध्येय क्या है और उसे प्राप्त करने का निश्चय भी वह रखता है; लेकिन साधन के सम्बन्ध में वह लापरवाह रहता है। उदाहरणार्थ, जिस शक्ति से हिटलर ने एक पीढ़ी के अन्दर ही जर्मनी को एक बलवान राष्ट्र बना दिया वह नीति निरपेक्ष तेजोबल का ही एक प्रकार थी और इसी प्रकार के तेजोबल से चर्चिल, स्टालिन तथा रूजवेल्ट ने मित्रराष्ट्रों की हार को जो बिल्कुल नजदीक आ गई थी दूर भगा दिया और धुरी-राष्ट्रों को पराजित कर दिया। हमारे देश में भी एक ओर ब्रिटिश साम्राज्य को मजबूत बनाये रखने के दृढ़ निश्चय में जो सामर्थ्य दिखाई देता है उसमें तथा दूसरी ओर राष्ट्रीय महासभा के स्वराज्य के निश्चय में जो सामर्थ्य दिखाई देता है उसमें दो तेजोबलों का ही गजग्राह-विग्रह चालू है। तेजोबल के इन सब भिन्न-भिन्न उदाहरणों में हिटलर, चर्चिल, रूजवेल्ट, स्टालिन या ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रतिनिधियों की शक्ति को कोई सत्याग्रह-बल नहीं कह सकता। लेकिन कॉंग्रेस की सामर्थ्य को सत्याग्रह-बल कहते हैं। कम-से-कम कॉंग्रेस के नेता—अर्थात् गांधीजी के प्रयत्न और उद्देश्य के लिये तो ऐसा कहने में कोई हर्ज नहीं है। ऐसा क्यों है? दोनों में क्या अन्तर है?

हिटलर या चर्चिल एण्ड कम्पनी का साधन की शुद्धता-अशुद्धता के सम्बन्ध में कोई आग्रह नहीं है। यदि यह प्रतीत हो कि किसी साधन में विजय प्राप्त करवा देने की शक्ति है तो बस यह उनके लिए सही है। उन साधनों का प्रयोग करने में नीति-अनीति का प्रश्न उन्हें स्पर्श नहीं करता और हम जानते ही हैं कि संसार में धन तथा बल में श्रेष्ठ अमेरिका जैसे प्रजातन्त्रीय राष्ट्र ने विजय प्राप्त करने के लिए ऐसे महा भयंकर अत्याचार किये जो पहिले इतिहास में कभी देखे नहीं गये हैं। इन राष्ट्रों का अपना तेजोबल तथा इनके द्वारा बनाये हुए

एटम बम का तेजोबल नैतिक अधिष्ठान की दृष्टि से एक ही कोटि के—अर्थात् नीतिशून्य—हैं। दोनों के पीछे किसी प्रकार का नैतिक नियन्त्रण नहीं है। यही कोरे तेजोबल और सत्याग्रह में अन्तर है।

हमारा जीवन व मार्ग शुद्ध हो। सबसे हमारा व्यवहार, न्याय, मित्रता तथा सहायता-वृत्ति से पूर्ण हो; संक्षेप में यह कि हमारी वृत्ति व्यवहार में भलापन–अहिंसा–आनी चाहिये। मनुष्यमात्र में इस प्रकार की जो अन्तस्थ प्रेरणा रहती है उसका नियन्त्रण स्वीकार करने की छटपटाहट कभी भी उपर्युक्त राष्ट्रों को नहीं दिखाई दी। नीतिबल पर उनकी श्रद्धा नहीं थी। उन्हें यह प्रतीत नहीं होता था कि नीतिबल ही सत्य का मूल अधिष्ठान है। और उनको ऐसा प्रतीत नहीं होता था, तभी तो नीति-अनीति के किसी भी विधि-निषेध का ख्याल न करते हुए उनके हाथ जो साधन पड़ गया और जो मार्ग उन्हें सूझ पड़ा उसका अवलम्बन उन्होंने किया। आखिर उनके तेजोबल का पर्यवसान एटम बम में हुआ।

जो तेजोबल मनुष्य के नीतिबल से बेमेल है वह आसुरी (हिंसा) सम्पत्ति है। यदि यही तेजोबल नीतिबल के साथ पूरी तरह मेल खा जाय तो वह है सत्याग्रह (अहिंसा-रामराज्य-दैवी सम्पत्ति)। किसी प्रवृत्ति का ध्येय उदात्त और न्यायपूर्ण भी हो सकता है। उस ध्येय को प्राप्त करने के लिए कार्यकर्त्ता में अजेय इच्छाशक्ति–तेजोबल भी हो सकता है। फिर भी केवल इतने से ही उस प्रवृत्ति को सत्याग्रह नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि सत्याग्रह के लिए सद्हेतु के साथ-साथ अहिंसक वृत्ति से तथा ऐसे किसी भी साधन का उपयोग न करने का संयम बल भी होना चाहिए जो अहिंसक व्यवहार से बेमेल हो। ऐसा होने पर ही उसे सत्याग्रह कह सकेंगे।

प्रत्येक मनुष्य के हृदय में सत्याग्रह के बीज हैं। वे बीज हैं अपने ध्येय से तिल भर भी न डिगने वाले और अजेय जाग्रत या सुप्त तेजोबल

तथा वह नीतिबल जो उसके अनुकूल आचरण की शक्य रखने वाली अलेपन की वृत्ति से पैदा होता है। यदि अपने अन्तःकरण में स्थित इस दुहेरे बल की पहिचान हमें हो गई तो फिर गांधीजी के—'परमेश्वर यानी सत्य, अहिंसा, प्रेम, सत्याग्रह यानी आत्मबल' आदि धर्म की परिभाषा में किया हुआ निरूपण और उसपर बार-बार जोर देने का कारण समझना हमारे लिए कठिन न होगा।

× × ×

जिन भिन्न-भिन्न प्रकारों से सत्याग्रह की सामर्थ्य व्यक्त की जाती है उनका निरूपण श्री दिवाकरजी ने अनेक उदाहरण देकर इस पुस्तक में किया है। प्रस्तावना में उन सब की फिर से चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है। उनमें से केवल उपवास-सत्याग्रह के सम्बन्ध में ही मैं थोड़ी चर्चा करूँगा; क्योंकि उसके सम्बन्ध में लोगों में काफी गलतफहमी है। उपवास एक प्रकार की जबरदस्ती ही है—यह कहकर उसकी टीका की जाती है। गांधीजी के जीवन में उपवासात्मक सत्याग्रह के कितने ही प्रसंग आ चुके हैं। इन इतिहास-प्रसिद्ध उपवासों में एक 'राजकोट का उपवास-सत्याग्रह' भी था। बाह्य दृष्टि से वह उपवास सौ फीसदी सफल हुआ था। लेकिन उसकी सफलता का लाभ मिलते-मिलते ही गांधीजी ने उस सत्याग्रह के सम्बन्ध में कहा कि "वह सत्याग्रह एक प्रकार की जबरदस्ती" ही था। इस स्वीकृति से उपवास-सत्याग्रह के आलोचकों का महात्माजी ने मानो खुद ही समर्थन कर दिया। गांधीजी ने अपने ही कार्य का निषेध करके उसकी सफलता के लाभ को भी स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। इससे गांधीजी के विरोधियों को खासकर उन लोगों को जिनका उपवास-सत्याग्रह पर विश्वास नहीं है यह प्रतीत हुआ कि इसके बाद गांधीजी उपवास-सत्याग्रह के शस्त्र को कभी नहीं उठाएँगे। उन्होंने यह सोचकर शायद संतोष की साँस ली होगी कि यह मुसीबत तो टली। लेकिन गांधीजी ने फिर १९४२ में आगाखाँ महल की जेल में तीन सप्ताह के

उपवास की घोषणा की। उस समय वाइसराय (लार्ड लिनलिथगो) ने गांधीजी को ५ फरवरी, १९४३ को एक पत्र भेजा। उसमें उन्होंने "अब आप कोई सरल रास्ता निकालना चाहते हैं" इस प्रकार का व्यंग कसकर आगे कहा था—

"राजनैतिक उद्देश्य के लिए उपवास का आश्रय लेना एक प्रकार की अनैतिक धमकी (Blackmail) होने के कारण हिंसा ही है। नैतिक दृष्टि से उसका समर्थन नहीं किया जा सकता। मैंने जब आपके पुराने लेख पढ़े तब मैं समझा कि पहिले आपका भी यही मत होगा।"

यहां अनैतिक धमकी का प्रयोग अंग्रेज़ी शब्द Blackmail के भाव को व्यक्त करने के लिए किया गया है। इस अंग्रेज़ी शब्द का अर्थ है—किसी गुप्त बात को प्रकट करने की या झूठे आरोप लगाकर बदनाम करने की धमकी देकर पैसे मार लेना। यह बात तो स्पष्ट है कि गांधीजी का उद्देश्य उपवास के द्वारा न तो सरकार से पैसे मारना था और न किसी गुप्त बात को प्रकट ही करना था और उनके ऊपर धमकी देने का आरोप लगाना भी निराधार था। जो कुछ आरोप थे वे तो पहिले ही दोनों पत्रों पर प्रकट कर दिये गये थे। और उल्टे इस बात की मांग की गई थी कि गांधीजी पर जो आरोप लगाये गये हैं उनकी खुली जांच हो। इससे स्पष्ट है कि वाइसराय ने Blackmail शब्द का प्रयोग वास्तविक अर्थ की दृष्टि से नहीं किन्तु आलङ्कारिक ढंग से ही किया था। इस आलङ्कारिक अर्थ के अनुसार तो यदि कोई बहू अपनी सास या पति के दुर्व्यवहार के विरोध में रोए और अन्न छोड़ दे तो क्या उसे भी कहेंगे कि वह अनैतिक धमकी देती है या 'हिंसा' करती है।

इसी सिलसिले में एक-दूसरे शब्द 'ज़बरदस्ती' (Coercion) का प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ है—किसी मनुष्य को यह डर दिखाकर काम करवाना कि यदि उसने फलाँ-फलाँ काम नहीं किये तो

उसको नुक़सान उठाना पड़ेगा। उपवास-सत्याग्रह में यह बात बिलकुल नहीं है। तो फिर यही समझना चाहिए कि इस शब्द का प्रयोग भी एक विचित्र अलङ्कार के रूप में ही किया गया है। यह सम्भव है कि जिसके विरुद्ध उपवास-सत्याग्रह का अवलम्बन किया जाय वह उससे कठिनाई में पड़ जाता होगा। इससे उसे गुस्सा भी आ सकता है। यदि उपवास करने वाला व्यक्ति अपने विरोधी की अपेक्षा ज्यादा लोकप्रिय हो और उसका पक्ष न्यायपूर्ण एवं निरुत्तर कर देने वाला हो तो विरोधी को ज्यादा ही गुस्सा आएगा। यदि सत्याग्रही की मांग तर्कशुद्ध और न्यायपूर्ण हो और जिन लोगों के मत की अपेक्षा विरोधी भी पूरी तरह नहीं कर सकता हो, यदि उन लोगों के मन में उसकी मांग से सहानुभूति हो तो बहुत सम्भव है कि उस विरोधी की स्थिति दिन-प्रति-दिन अधिकाधिक पेचीदा होती जायगी। विरोधी इस कठिनाई में पड़ जाता है कि एक ओर तो वह सत्याग्रही की माँग मंजूर नहीं करना चाहता और दूसरी ओर उसकी मृत्यु से उत्पन्न संकट का सामना करने की ताक़त भी उसमें नहीं होती। उसकी इच्छा रहती है कि सत्याग्रही की मांग भी टाल दी जाय और अपनी बदनामी भी न हो। ऐसी स्थिति में यदि वह उपवास-सत्याग्रह को 'ज़बरदस्ती' कहे तो इसमें क्या आश्चर्य ? लेकिन इस 'ज़बरदस्ती' को विरोधी द्वारा प्रयुक्त एक अपशब्द ही समझना चाहिए।

एक कहावत है 'अपनी नाक कटवाकर दूसरे का अपशकुन करना'। बड़े जिद्दी विरोधी के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। लार्ड लिनलिथगो को उपवासोन्मुख गांधीजी के सम्बन्ध में यही लगा होगा। उन्होंने समझा कि सरकार को मात देने के लिए गांधीजी आत्महत्या करने के लिए ही तैयार हो जायंगे। लेकिन यदि खुदबखुद कष्टों का स्वागत करना 'जबरदस्ती' या 'अनैतिक धमकी' है तो फिर कहना होगा कि सत्याग्रह के सारे प्रकार इसी कोटि के हैं। क्योंकि 'सत्याग्रह' शब्द में तो अपने ध्येय के लिए स्वयं कष्ट अंगीकार करना ग्रहीत ही

रहता है। जिसमें कुछ प्राप्त न हो ऐसा सत्याग्रह सम्भव ही नहीं है। उसी ध्येय को प्राप्त करने के लिए हिंसात्मक मार्ग की अपेक्षा सत्याग्रह अहिंसा का मार्ग है। प्रतिपक्षी के साथ द्वेष-भावना रखकर तथा उसे कष्ट देकर जो कुछ प्राप्त किया जाता है उसीको उसके प्रति सद्भावना रखकर तथा स्वयं कष्ट उठाकर प्राप्त करना ही सत्याग्रह है। 'जबरदस्ती' और 'अनैतिक धमकी' में स्वयं कष्ट उठाने तथा प्रतिपक्षी के साथ अहिंसक वृत्ति से व्यवहार करने की अपेक्षा नहीं की जाती है। उसमें तो उल्टे उसे द्वेषपूर्ण शब्दों से चोट पहुंचाने और अनेक तरह से नुकसान पहुंचाने की वृत्ति होती है।

तो फिर यह समझने के लिए कि राजकोट के उपवास-सत्याग्रह में 'जबरदस्ती' करने जैसी क्या बात थी, उसकी भूमिका समझ लेनी चाहिए।

इस उपवास के पहिले सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में राजकोट दरबार तथा प्रजा में कुछ महीनों से सत्याग्रह-आन्दोलन चल रहा था। उसके परिणामस्वरूप राजकोट के ठाकुरसाहब तथा सरदार पटेल के बीच एक समझौते का ठहराव हुआ। लेकिन ठाकुरसाहब ने उसी समय उस समझौते को ठुकरा दिया। अतः गांधीजी बीच में पड़े और उन्होंने ठाकुरसाहब तथा उनके सलाहकारों से उस समझौते को प्रामाणिकतापूर्वक पालन करवाने के लिए प्रयत्न किया। उनका प्रयत्न सफल नहीं हुआ। तब ठाकुरसाहब की विवेक-बुद्धि जाग्रत करने के लिए कहिए या उनके ऊपर नैतिक दबाव डालने के लिए कहिए, गांधीजी ने उपवास करने का निश्चय किया।

कोई भी व्यक्ति यह अपेक्षा करेगा कि एक बार शुद्ध सत्याग्रह का मार्ग स्वीकार कर लेने के बाद उसके स्वाभाविक रूप से अन्त होने तक वह सत्याग्रह चालू रहेगा। इस अवसर पर तीन प्रकार से उसका अन्त सम्भव था—या तो ठाकुरसाहब समझौते का पालन करें या गांधीजी के प्राण जांय, या दोनों पक्षों की सम्मति से एक दूसरा समझौता हो।

लेकिन उनमें से किसीके भी होने के पूर्व गांधीजी ने कहा—"अविचार से मैंने गलत रास्ता पकड़ लिया।"

वह गलती यह थी कि उन्होंने सत्याग्रह के हथियार के साथ-ही-साथ एक और हथियार चला दिया था। वह हथियार था सर्वोच्च सरकार को जल्दी ही बीच में डालकर ठाकुरसाहब से उनके समझौते को पालन करवाने का दबाव डालने के लिए दौड़-धूप करना।

गांधीजी ने सर्वोच्च सरकार से जो प्रार्थना की, वह स्वीकार कर ली गई। लार्ड लिनलिथगो बीच में पड़े और परिणामस्वरूप फेडरल कोर्ट के प्रधान न्यायाधीश सर मॉरिस ग्वायर को इसमें पंच बनाया गया। उन्होंने सरदार वल्लभभाई पटेल के पक्ष में—प्रजा के पक्ष में—फैसला दिया। अब ठाकुरसाहब के लिए समझौते को ठुकराने का कोई रास्ता नहीं रहा। यदि वे पंच-फैसले को ठुकरा देते तो सर्वोच्च सरकार (वह ईमानदारी से काम लेगी ऐसा मानें तो) उनसे उस निर्णय को स्वीकार करवाने के लिए जरूरत पड़ने पर सख्ती करके भी उनसे वैसा करवाती।

इस प्रकार यह उपवास-सत्याग्रह की नहीं बल्कि सर्वोच्च सरकार की विजय थी। फिर वह सर्वोच्च सरकार की दण्डशक्ति की ही विजय थी। इस प्रकार इस उपवास में जबरदस्ती के तत्व ने प्रवेश किया।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि गांधीजी के लिए वैधानिक रीति से सर्वोच्च सरकार से प्रार्थना करके प्रजा पर होने वाले अत्याचारों को दूर करने का रास्ता खुला था तो जबतक वह बन्द नहीं हुआ तबतक उपवास-सत्याग्रह का अपरोक्ष मार्ग स्वीकार करना कहां तक ठीक था? दूसरी ओर यहां यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि जब उपवास के अपरोक्ष मार्ग को अवलम्बन करने योग्य परिस्थिति पूरी तरह निर्माण हो चुकी थी तब फिर उन्होंने वाइसराय को बीच में क्यों डाला?

इस प्रकार दोनों ओर से गांधीजी का यह उपवास-सत्याग्रह के तत्व से बेमेल हो गया। इस विसंगति के उत्पन्न होते ही उसी समय

उन्होंने पश्चात्ताप किया और उसके प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में उन्होंने उसकी विजय के फल को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया।

गांधीजी की विशेषता अपने द्वारा खोजे हुए नवीन तन्त्र (सत्याग्रह) का अचूक उपयोग करने में नहीं है, बल्कि अपनी गलती स्वीकार करके मिली हुई सफलता को ठुकरा देने और अपने दोषों का परिमार्जन करने में है। उनकी भूल का इतना ही अर्थ है कि कठिन प्रसंगों पर अहिंसा के मार्ग को एक ओर छोड़ देने का मोह मनुष्य में हो जाता है। इस प्रकार का मोह मानव जीवन का एक भाग ही है। दृढ़ सत्याग्रही भी एक-आध बार पथभ्रष्ट हो सकता है। तथापि उसे अहिंसा के मार्ग पर फिर चलने का प्रयत्न सतत करना चाहिए।

सत्याग्रह के भविष्य के सम्बन्ध में दिवाकरजी ने एक स्वतन्त्र अध्याय लिखा है। मैं उनसे सहमत हूँ। फिर भी यहां अपने तरीके से उस विषय का थोड़ा विवेचन करता हूँ।

* सत्याग्रह की शक्ति मानव संस्कृति जितनी ही प्राचीन है। संस्कृति उदयकाल से ही उसका विकास होता चला आ रहा है। जैसा कि ऊपर कहा है सत्ता (हिंसा) और भलेपन (अहिंसा), शैतान (आसुरी सम्पत्ति) और ईश्वर (दैवी सम्पत्ति) के ध्येय हमेशा अलग-अलग नहीं होते। लेकिन अनेक बार उस शक्ति का व्यापार परस्पर एक स्वर से नहीं चलता। अतः उद्देश्य एक होने पर भी उनमें अनेक बार परस्पर विरोध पैदा हो जाता है। सत्ता आक्रमणशील है; अतः उसके भलेपन से दूर चले जाने की बहुत सम्भावना रहती है। और भलेपन में उसपर हमेशा नियन्त्रण रखने की सामर्थ्य दिखाई नहीं देती। कई बार सत्ता पर नियन्त्रण रखने के लिए भलापन कुछ प्रयत्न करता है और वह वहीं रुक जाता है। इससे सत्ता को जबरदस्त वेग से आगे बढ़ते रहने का और उत्तरोत्तर अपना प्रभाव बढ़ाते रहने का मौका बारबार मिलता है।

कुछ भी हो, भलेपन के नियन्त्रण से सत्ता कभी भी पूरी तरह नहीं छूट सकती और जिस समय सत्ता का प्रभाव पराकाष्ठा पर पहुँचता हुआ सा दिखाई देता है उसी समय कहीं-न-कहीं अनपेक्षित दिशा से एकाएक भलेपन की शक्ति प्रकट हो जाती है। अन्य शक्तियों की भांति भलेपन की शक्ति का उद्गम भी अत्यन्त सूक्ष्म होता है। जैसे-जैसे वह बढ़ती जाती है वैसे-वैसे उसमें वेग आता जाता है और अन्त में जबरदस्त भूकम्प के धक्के की भांति भलेपन के शक्तिशाली धक्के से सत्ता के आधार पर खड़ा रहने वाला संसार ढह जाता है। भले ही सत्ता का संगठन बिलकुल योजनाबद्ध और अद्यतन (Uptodate) हो तो भी वह नये स्वरूप में प्रकट होने वाले भलेपन की ताकत के सामने टिक नहीं पाता। जैसे कोई ग्रह एक सूर्य की कक्षा में से निकल जाने का प्रयत्न करता है और इतने में ही वह दूसरे सूर्य की कक्षा में चला जाता है और परिणामस्वरूप भस्म हो जाता है या उसके आस-पास घूमते रहने की नौबत उस ग्रह पर आती है, वही स्थिति सत्ताबल की भी है। इसी घटना को इतिहास में 'क्रान्ति' और धर्मग्रन्थों में 'धर्म का पुनःस्थापन' कहते हैं। लेकिन इस भलेपन की शक्ति में अनेक बार एक विचित्र दुर्गुण-सा दिखाई देता है। एक नई सभ्यता को जन्म देकर और अपने पैरों पर खड़े होने तक उसका पोषण करके भलेपन की शक्ति पुनः सुप्त-सी काम करने लगती है। परिणाम यह होता है कि नये युग में एक बार फिर सत्ता की उपासना प्रारम्भ होती हुई दिखाई देती है।

इस प्रकार सत्ता और भलेपन का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न कालखण्डों में कम-ज्यादा सुसंवादी दिखाई देता है और प्रत्येक की जो उन्नति-अवनति दिखाई देती है वही मानव इतिहास है।

हमारे समय में 'आधुनिक सभ्यता' ने कितनी मंजिल तय कर ली है और प्रत्येक क्षण उसका प्रवाह कितनी तेजी से बढ़ता चला जा रहा है, यह बात हम प्रत्यक्ष ही देख रहे हैं। सत्ता का बल फिर एक बार

बेतहाशा बढ़ गया है। उसे प्रतिकार का भय नहीं रहा है, उसे नीति-अनीति की परवाह नहीं है और अपनी अच्छी-बुरी सारी इच्छाएँ वह संसार पर लाद देना चाहता है। बीच-बीच में उसकी भाषा ऊपर-ऊपर से तो ठीक लगती है; लेकिन अन्त में उसके बोलने का हेतु यही रहता है कि संसार के सारे दुर्बल, परतन्त्र और छोटे राष्ट्र उसकी इच्छानुसार चलें या मिटने के लिए तैयार हो जायं।

इस 'आधुनिक सभ्यता' को यदि कम-से-कम किसीका डर मालूम होता है तो वह है हिन्दुस्तान। लेकिन आश्चर्य यह है कि सत्याग्रह की शक्ति ने फिर एक बार अत्यन्त छोटे स्थान में ही जन्म लेने का निश्चय कर लिया है। केवल इतना ही नहीं कि अपनी जन्मभूमि के रूप में उसने हिन्दुस्तान को पसन्द किया है, बल्कि उसमें भी एक साधारण श्रेणी के साधारण हिन्दू को उसने पसन्द किया है।

सत्याग्रह के इस नये अवतार में उसने अपने जनक (महात्मा गांधी) के नेतृत्व में जो कुछ काम किया उसीका संक्षिप्त वर्णन इस पुस्तक में किया गया है। वह काम केवल काल की दृष्टि से ही नवीन नहीं है ब... रचना और प्रकार की विविधता की दृष्टि से भी नवीन है।

यह शक्ति कभी निष्फल नहीं हो सकती। वह इस देश में एक नवयुग का आरम्भ स्थान तो हो ही गई है और शायद वह एक नई संसारव्यापी संस्कृति और सभ्यता का भी आरम्भ-स्थान हो जाय। लेकिन यह भी असम्भव नहीं है कि नवभारत भी भलेपन के मार्ग को एक ओर छोड़कर सत्ता के मार्ग पर जाने को प्रवृत्त हो जाय।

यदि केवल इतिहास की पुनरावृत्ति भी होनी है तो भी कालान्तर में ऐसा परिणाम निकलना अपरिहार्य ही मालूम होता है। लेकिन यदि यह परिणाम निकलना अपरिहार्य है तो सत्याग्रह-शक्ति का बार-बार जन्म लेना भी अपरिहार्य है और शायद उस समय गांधीजी से भी अधिक निम्न सामाजिक स्तर से सत्याग्रह का पुनर्जन्म हो।

केवल मनोराज्य खड़ा करने की लहर में मैं यह वाग्विस्तार नहीं कर रहा हूँ। संसार में समय-समय पर भलेपन की शक्ति पीछे क्यों रह जाती है। सत्ता को अपना प्रभाव मनमाना फैलाने का मौका क्यों मिल जाता है? और उससे उसके साथ ही संसार के नाश होने का मौका क्यों उत्पन्न हो जाता है। सत्ता (हिंसा) तो केवल प्रचण्ड संगठन के बल पर सामुदायिक रूप में अपना काम दिखा सकती है परन्तु भलापन (अहिंसा) अक्सर व्यक्तिगत एवं अव्यवस्थित रूप से तथा मर्यादित क्षेत्र में ही अपना काम दिखाती है; ऐसा क्यों? इन दो प्रकार की शक्तियों में क्या निसर्गतः ही ऐसे गुण-धर्म हैं जिनसे यह क्रम अपरिहार्य है। या इसका इतना ही अर्थ है कि अभी मनुष्य का पूरा विकास नहीं हुआ है? मैं इन प्रश्नों पर विचार कर रहा हूँ।

कुछ लोग सचमुच यह अनुभव करते हैं कि हिंसा का थोड़ा-बहुत प्रयोग किये बिना—खासकर बड़े पैमाने पर संगठन और व्यवस्था करना और उसे टिकाना सम्भव नहीं होता। अतः अहिंसा को अपना कार्य छोटे-छोटे क्षेत्रों में दिखाकर ही संतोष मान लेना चाहिए। उनका मत है कि कोई भी संगठन हिंसा के बिना संभव नहीं है। अतः छोटे संगठन भी तात्विक दृष्टि से उचित नहीं हैं। लेकिन इसे मानवी दुर्बलता को दी हुई थोड़ी-सी छूट ही मानना चाहिए।

यदि यह प्रकृति का ही नियम है तो मैं नम्रतापूर्वक यही कहूंगा कि अहिंसा एक व्यक्तिगत गुण ही बन सकता है। उसके लिए संगठित होना संभव नहीं है और इसीलिए अपनी शक्ति के बल पर सारे संसार को एकत्र करने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। यदि यही नियम है तो फिर समाज को अहिंसा का बहुत थोड़ा उपयोग है। क्योंकि तब तो समाज की दृष्टि से शैतान और परमेश्वर में शैतान को ही बड़प्पन का स्थान देना पड़ेगा। अपने स्वार्थ के लिए वह अपने बड़े भाई (परमेश्वर) को ठगता रहे और उसे ज्यों-त्यों करके पेट भरने लायक अन्न-वस्त्र दे दे तो बस। इस पृथ्वी पर 'रामराज्य' या 'धर्मराज्य' अथवा 'ईश्वर का

राज्य' स्थापित होने की मानवी मन की अमर आशा केवल आकाश-कुसुम ही समझना चाहिए। यह हवा का महल हवा में ही रहना चाहिए।

लेकिन मुझे निश्चय नहीं होता कि यही प्रकृति का नियम है। यदि आजकल के इतिहास का यही सार हो और यदि कुछ आगामी पीढ़ियों तक भी यही अनुभव होता रहे तो भी मुझे ऐसा नहीं लगता है कि वह कोई अचल नियम है। मैं तो उस इतिहास का उतना ही अर्थ समझता हूँ कि वह मनुष्य के अधूरे प्रयत्नों का एक विवरण है। अधिक-से-अधिक अल्डुस हक्सले के शब्दों में कहा जा सकता है कि मनुष्य ने अभी साध्य-साधन समन्वय के सिद्धान्त को नहीं समझा है। अब भी वह यही अनुभव करता है कि दूषित साधनों से निर्दोष या उच्च साध्य प्राप्त किया जा सकता है। एक मूर्ख ग्रामीण का यह दृढ़ एवं प्रामाणिक विश्वास होता है कि यदि देवी को बकरे की बलि दे दी गई या भंगी को मारते-मारते बेहोश कर दिया गया तो महामारी का प्रकोप शान्त हो जाता है। उपर्युक्त विश्वास भी इसी प्रकार का है। लेकिन जबतक यह लोकभ्रम (फिर चाहे वह मूर्खतापूर्ण हो चाहे निराधार हो) कायम है तबतक यह सब ऐसा ही होता रहेगा। युद्धों को रोकने के लिए और शान्ति, न्याय, समता व सर्वसाधारण वैभवशाली जगत् निर्माण करने के लिए फिर से नवीन युद्ध करने की योजना का प्रयोग मनुष्य-जाति ने इससे पहिले किया है और आगे भी करेगी। फौजी, व्यापारिक तथा इसी प्रकार के अन्य साम्राज्यों की स्थापना करना और कानून एवं सुव्यवस्था के नाम पर भयंकर कृत्य करते रहना—ये सब बातें पहिले हो चुकी हैं और आगे भी होती रहेंगी। कारण यह है कि अब भी लोगों के सामने यह स्पष्ट नहीं हुआ है कि सदुद्देश्य और (उसे प्राप्त करने के) सन्मार्ग में अत्यावश्यक साहचर्य होना ही चाहिये। अतः ईश्वरी तन्त्र के बजाय शैतान के तन्त्र को ही पूर्णता पर पहुँचाने का सरल दिखाई देने वाला रास्ता मनुष्य

पकड़ लेता है। यह केवल शासन-कार्य में ही नहीं होता बल्कि सब जगह होता है। "छड़ी बाजे छम-छम, विद्या आवे धम-धम।" यह कल तक हमारे शिक्षा-शास्त्र का भी सिद्धान्त था न? और यह नहीं कह सकते कि अब भी उसके ऊपर हमारी श्रद्धा नहीं रही है। कई प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री यह अनुभव करते हैं कि बालक की बुद्धि और चारित्र्य को सुधारने के लिए 'सजा' देने का मार्ग बालक से प्रेम करके, सतत प्रयत्न करके अनुकूल वातावरण का निर्माण करके, उसकी बौद्धिक और नैतिक उन्नति करने के दण्ड-भय की अपेक्षा अधिक कार्यसाधक है। धर्म का बोध देने में भी हम इसी पद्धति का अवलम्बन करते हुए देखते हैं। इस लोक में धर्मगुरुओं द्वारा दण्ड दिलवाकर अथवा परलोक में भयंकर सजा देने वाले परमेश्वर का नाम रखकर हम डांट-धमक के रास्ते से ही धार्मिकता बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। जहाँ अहिंसा के उपासकों द्वारा प्रस्थापित धर्म ही हिंसा पर श्रद्धा रखने के कारण छिप गया है वहां मानवी जीवन में यदि दूसरी प्रवृत्तियां भी उसी पद्धति से चलाई जांय तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

यदि अहिंसा का कार्य वैयक्तिक स्वरूप का, अधूरा और निरुत्साह से चलता हुआ दिखाई दे तो इसमें मुझे बिलकुल शंका नहीं कि उसमें अहिंसा के उपासकों की ही शिथिलता है। कई बार निष्क्रियता को ही अहिंसा समझ लिया गया है। और निष्क्रियता को हमेशा व्यक्तिवाद ही माफिक आता है। इसीलिए अहिंसा को भी व्यक्तिनिष्ठ मान लिया गया है। यह मान लिया गया है कि उसके आधार पर संगठन नहीं किया जा सकता। उल्टे यह माना जाता है कि ऐसे प्रयत्नों से तो अहिंसा-मार्ग भ्रष्ट होता है। इसी धारणा से अहिंसा को आचरण में लाने का प्रत्यक्ष प्रयत्न और उसे पूर्णता तक पहुंचाने के प्रयत्न लंगड़े सिद्ध हो गये हैं। लेकिन जहां इस प्रकार के प्रयत्न व्यवस्थित रूप से तथा दृढ़ श्रद्धा के साथ किये गये हैं वहां समाज का कल्याण हुआ है। उदाहरणार्थ, जबतक ईसाई मिशनरियों ने अपने

काम में राजनैतिक आदि अन्य उद्देश्य और हिंसक शक्ति का आश्रय नहीं लिया तबतक उन्होंने जो-जो प्रवृत्तियां चलाईं उनके द्वारा, यह कहा जा सकता, है कि उन्होंने मानव-जाति की काफी सेवा की और उसमें अहिंसक संगठन का अच्छा परिचय दिया।

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सक्रिय और संगठित रूप में अहिंसा का आचरण करने का कार्यक्रम पहिलेपहल ईसाई धर्म ने पेश किया। गांधीजी ने उसकी पुनर्रचना करके हिन्दुस्तान के लिए उस योजना के एक विशेष भाग को व्यापक स्वरूप दिया। उसका नाम है "रचनात्मक कार्यक्रम"। इस कार्यक्रम का ध्येय है मनुष्य की प्रकृति-प्रदत्त अहिंसा-वृत्ति को बढ़ाने के लिए अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करना और उसमें इतनी शक्ति भर देना कि वह हिंसक प्रवृत्तियों का नियन्त्रण कर सके। दरिद्रता, अज्ञान, रोग, संकीर्णता, विषमता, संसार को नरक बना देने वाली प्रच्छन्न या प्रकट गुलामी को निर्मूल करने का प्रयत्न युगों से हो रहा है। उस काम की गाड़ी को ठीक रास्ते पर लाना ही रचनात्मक कार्यक्रम का ध्येय है।

यदि आस्तिक लोग इतना ही कहें कि परमेश्वर तो केवल स्वर्ग में रहता है, उसका इस भूतल से कोई सम्बन्ध नहीं है, तो नास्तिक लोग उनसे वादविवाद नहीं करेंगे। इससे उल्टे यदि नास्तिक यह स्वीकार कर लें कि मनुष्य में अहिंसा (भलेपन) के प्रति झुकाव मूलभूत है और मन की हिंसात्मक प्रवृत्ति की अपेक्षा वह ज्यादा कीमती देन है तो फिर आस्तिकों को कुछ और कहना नहीं है। अनन्तकाल तक परमेश्वर के अस्तित्व और स्वरूप पर व्यर्थ धार्मिक और तात्विक वादविवाद करते रहने की अपेक्षा भलेपन (अहिंसा) का बलवान प्रभाव संसार में फैलाने की दृष्टि से भलेपन (अहिंसा) के संगठन और प्रगति के लिए यदि सब एक हो सकें तो जैसे-जैसे यह कार्य पूर्णता तक पहुँचेगा वैसे-वैसे ईश्वर पर श्रद्धा या अश्रद्धा का प्रश्न अपने आप हल होता जायगा। आस्तिकों का परमेश्वर भलेपन का ही

रूपक है और उस स्वरूप में उसका अस्तित्व पृथ्वी पर दिखाई देने लगेगा। जिस प्रकार स्वर्ग में उसकी इच्छा अबाध रूप से पूर्ण होती है (ऐसा आस्तिक लोग मानते हैं) उसी प्रकार वह इस संसार में भी निष्कण्टक होकर व्याप्त हो रहा है, यह अनुभव होने पर यह प्रश्न ही नहीं रहेगा कि परमेश्वर है या नहीं है।

हिंसा को रोकने और अहिंसा की शक्ति व्यक्त करने—इन दोनों बातों में ही सत्याग्रह का तेज प्रकट होता है। निष्क्रियता की निद्रा में रहते हुए या हिंसा की उपासना करते हुए मनुष्य अपना ध्येय भूल जाता है। जब विस्मृति का ऐसा अन्धेरा फैला हुआ होता है तब किसी भी समय उसे जाग्रत करने वाली और मार्ग दिखाने वाली सत्याग्रह की तेजस्वी ज्योति एकाएक प्रदीप्त हो जाती है। एक महाकवि के शब्दों में सुविधानुसार फेर-फार करके मैं कहूँगा कि—जब दूर भटक जाने से सत्याग्रह की ज्योति न दिखाई दे और उसकी स्मृति क्षीण हो जाय तब फिर वह पुनः प्रकट होगी और अधिक प्रखर तेजोबल से युक्त होकर मनुष्य को फिर से प्रेरणा देगी।

जब-जब मनुष्य सत्ता या निष्क्रियता के चंगुल में फँस जायगा तब-तब सत्याग्रह बार-बार प्रकट होगा।

यदि मृत्यु ने सत्याग्रही व्यक्ति को अदृश्य कर दिया और दीर्घ काल ने उसे ढक रखा तो भी सत्याग्रह की ज्योति मनुष्य के मन की शोध करती रहेगी और वह शोध कभी भी व्यर्थ नहीं जायगी।

और सत्याग्रह जो भलापन–अहिंसा–प्राप्त करेगा वह मनुष्य के मन में स्थित भलेपन की नैसर्गिक वृत्ति को विशेष अनुकूल रूप में स्पष्ट और पोषक दिखाई देगा।

मेरे मन में अहिंसा-विषयक जो दृढ़ श्रद्धा है उसका स्वरूप इसी प्रकार है।

—किशोरलाल घ० मशरूवाला

लड़ाई का अहिंसक मार्ग था ही नहीं। मजदूरों की हड़ताल अधिकांश में अहिंसक मार्ग ही है और वह काफी प्रचलित भी है। लेकिन अल्डुस हक्सले के कथनानुसार वह बीच-बीच में व अव्यवस्थित रूप से प्रयोग में आया है। एक स्वतन्त्र तन्त्र के रूप में कभी भी उसका विस्तार नहीं किया गया। अथवा गांधीजी की तरह तथा उनकी ही भांति व्यापक रूप में राजनैतिक या किसी अन्य क्षेत्र में उसका अवलम्बन नहीं किया गया। दूसरा कुछ भी करने की क्षमता न होने के कारण दुर्बल का हथियार मानकर उसका अवलम्बन किया जाता है लेकिन गांधीजी उसे शक्तिशाली लोगों के तथा कई गुना श्रेष्ठ हथियार के रूप में उसका उपयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त गांधीजी ने उसे सैद्धान्तिक भूमिका का अधिष्ठान दिया है और उसे एक पूर्ण शास्त्र बना दिया है। अन्याय का विरोध करनेवाली सत्याग्रह-पद्धति की यह विशेषता उसकी नवीनता को और भी बढ़ा देती है।

गांधीजी के सत्याग्रह की विशेषता निश्चित रूप से किस बात में है? इसमें कोई सन्देह नहीं कि महावीर बुद्ध, ईसा, मुहम्मद और नानक जैसे असाधारण व्यक्तियों, पैगम्बरों और धर्माचार्यों ने अपने जीवन में सत्याग्रह सिद्धान्त को अपनाया है। उन्होंने उसकी शिक्षा भी सफलतापूर्वक दूसरों को दी है। गांधीजी ने ईसा के सम्बन्ध में कहा है कि ईसा अहिंसक प्रतिकार के ही प्रवक्ता थे। उन्होंने आगे कहा है कि उस अहिंसक प्रतिकार में सत्याग्रह ही अभिप्रेत होना चाहिए। बुद्ध और ईसा के प्रत्यक्ष प्रतिकार के बारे में उन्होंने कहा है कि "बुद्ध ने शत्रु के ठेठ दर्वाजे तक लड़ाई ले जाकर उद्दण्ड भिक्षुकों का हृदय परिवर्तन किया। ईसा ने जेरुसेलम के मन्दिर से दलालों को निकाल भगाया और ढोंगी तथा फारसी लोगों को ईश्वरी कोप का भाजन बनाया। दोनों ही प्रत्यक्ष प्रतिकार के जबर्दस्त समर्थक थे और मैं तो केवल उनके पदचिह्नों पर चल रहा हूं।" प्रत्येक देश के सुकरात जैसे अनेक साधु पुरुषों को तो जहांतक उनके वैयक्तिक जीवन से सम्बन्ध

है सत्याग्रही ही कहना चाहिए। लेकिन अभी तक सत्याग्रह भी एक व्यक्तिगत एवं धार्मिक प्रवृत्ति ही समझी जाती थी। गांधीजी का उदय होने तक आर्थिक सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र से अन्याय या असहायता को मिटाने के लिए सामाजिक हथियार के रूप में उसको विधिवत चलाने का विचार किसीके भी मन में नहीं आया। "अहिंसा केवल ऋषि मुनियों के लिए ही नहीं है साधारण जनता के लिये भी वह उतनी ही उपयोगी है। यह बात डंके की चोट करने की निर्भयता गांधीजी में थी। श्री० मुंशी के कथनानुसार "गांधीजी का जीवन मानो एक ऐसा पाठ है जो सिखाता है कि सामाजिक शक्ति के रूप में सत्याग्रह का किस प्रकार उपयोग किया गया। मर्यादित अथवा आमरण उपवास जैसे अहिंसक प्रतिकार के उच्च स्वरूप का अंगीकार करके उन्होंने अत्यन्त समृद्ध तन्त्र निर्माण करने का प्रयत्न किया है। अहिंसक सत्याग्रह को सामाजिक शक्ति का रूप देकर स्वतन्त्रता और स्वाधिकार की लड़ाई के लिए उन्होंने नया एवं शक्तिशाली हथियार मानवता को दिया है। गांधी-युग के पहिले हिंसात्मक लड़ाई के अतिरिक्त कोई दूसरा साधन ही नहीं था अथवा हिंसा का आश्रय लिये बिना सामुदायिक रूप से प्रतिकार करने का दूसरा कोई रास्ता खुला नहीं था।"

बहुत दिनों पूर्व जब गांधीजी से कहा गया कि इतिहास में इस प्रकार के सामुदायिक सत्याग्रह का कोई उदाहरण नहीं मिलता तो उन्होंने कहा कि इस कारण धैर्य छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। सन् १९३२ के आंदोलन के प्रारंभ में जब गांधीजी बम्बई में थे तब एक बार वे कर्नाटक प्रांत के कार्यकर्त्ताओं की बैठक में उपस्थित हुए थे। उस समय एक कार्यकर्त्ता ने उनसे कहा—"इतिहास में अहिंसा से स्वराज्य प्राप्त करने का एक भी उदाहरण नहीं मिलता।" इसपर गांधीजी मुस्कराये और कहने लगे कि हम इतिहास के नये पृष्ठ लिख रहे हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि सामुदायिक झगड़ों के लिए

सत्याग्रह का आश्रय लेना ही गांधीजी की विशेषता नहीं है बल्कि वे पूरी तरह से यह जानते थे कि उनका मार्ग एकदम नवीन था।

इस दृष्टि से १६३० ई० में लन्दन के किंग्सवे हाल में अमेरिकन लोगों के लिए गांधीजी ने रेडियो पर जो भाषण दिया वह याद रखने योग्य है। उस समय उन्होंने भारतवर्ष के सत्याग्रह संग्राम का इस प्रकार वर्णन किया था—"आज सारे संसार का ध्यान हमारी लड़ाई की ओर आकर्षित हो गया है इसका कारण यह नहीं है कि हम हिन्दुस्तानी लोग अपनी आजादी के लिए लड़ रहे हैं बल्कि यह है कि हमने अपनी आजादी प्राप्त करने के लिए ऐसे रास्ते को अपनाया है जिसे आज तक के ज्ञात इतिहास में किसीने भी नहीं अपनाया था। रक्तपात, हिंसा या जिसे आजकल राजनीतिज्ञता कहा जाता है उस तरह का दुतर्फा व्यवहार करना हमारा ध्येय नहीं है। बल्कि शुद्ध और स्पष्ट रूप में सत्य एवं अहिंसा का अवलम्बन ही हमारा मार्ग है।"

दीनबन्धु एन्ड्रूज ने 'ह्वाट आइ ओ टू क्राइस्ट' नामक पुस्तक में गांधीजी का उल्लेख किया है। सन् १६१३ में जब कि गांधीजी इतने प्रसिद्ध नहीं हुए थे दक्षिण अफ्रीका में उनकी दीनबन्धु से मुलाकात हुई। उस समय वहां लड़ाई जोरों पर थी। सन् १६३१ में श्री० एन्ड्रूज ने इस मुलाकात के सम्बन्ध में लिखा—"पहिले से ही सहज प्रेरणा से मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि उनके रूप में स्त्री पुरुषों को अत्यन्त स्वार्थत्याग में प्रवृत्त करने-वाला एक उच्च कोटि का धार्मिक व्यक्ति ही नहीं बल्कि आकाश के तारे अथवा चिरकालीन पर्वत की भांति सनातन किन्तु नये संसार के लिए अपरिचित जैसा एक धार्मिक तत्त्व ही संसार में उदय हो रहा है। उनका एक ही आदेश था कि दीर्घकालीन कष्टसहन और प्रेम की वर्षा ही एकमात्र अजेय है। ....दक्षिण अफ्रीका की सारी लड़ाई में मुझे इसी बात का दृढ़ विश्वास हुआ।"

इस प्रकार यह पुरानी धारणा छूटकर कि सिद्धान्त केवल अपवादात्मक व्यक्तियों के लिए ही है उसका उपयोग समुदाय की ओर से जीवन के दैनिक प्रश्नों के सम्बन्ध में होने लगा।

गांधीजी के स्वभाव के सम्बन्ध में लिखते हुए रोम्यारोलाँ ने कहा है कि "इस अविराम योद्धा की भांति किसी दूसरे को निष्क्रियता से इतनी जबरदस्त चिढ़ नहीं होगी।" गांधीजी प्रतिकार करने वाले व्यक्तियों के एक अत्यन्त जगमगाते हुए प्रतीक हैं। उनके आंदोलन की आत्मा हिंसा के द्वारा व्यक्त होने वाला प्रत्यक्ष प्रतिकार नहीं है बल्कि प्रेम विश्वास और त्याग की कर्मप्रवण शक्ति पर आधारित प्रत्यक्ष प्रतिकार है। उनकी छत्रछाया में किसी भी कायर-भगोड़े व्यक्ति को आश्रय नहीं मिल सकता। वे कहते हैं कि कायरता से तो हिंसा ही अच्छी है। 'यदि कायरता और हिंसा में से किसीको चुनने का मौका आये तो मैं हिंसा को ही चुनने की सलाह दूंगा।........मैं दूसरों न मारकर आत्म-बलिदान का मूक धैर्य प्राप्त करने का प्रयत्न रता हूँ। लेकिन जिसमें यह धैर्य नहीं है उसे संकट के समय भाग जाने का लज्जास्पद मार्ग अपनाने के बजाय मरने और मारने की सलाह दूंगा। क्योंकि जो भागता है वह मानसिक हिंसा करता है। दूसरों को मारते समय जब उसमें स्वयं मरने की हिम्मत नहीं रहती तो वह भाग जाता है। सन् १९२० में ही गांधीजी ने लिखा था कि हिंसा की अपेक्षा अहिंसा कई गुना श्रेष्ठ है और दण्ड देने की अपेक्षा क्षमा करना ज्यादा वीरोचित है। यह हमारा दृढ़ विश्वास है। गांधीजी कहते थे कि सत्याग्रह और अन्याय बिल्कुल परस्परविरोधी हैं। इससे प्रतीत होता है कि गांधीजी के मन और प्रवृत्ति में कोई खास बात प्रधान रूप से थी तो वह यह कि जैसे भी हो अन्याय का प्रतिकार अवश्य किया जाय। उनके मतानुसार 'अन्याय का प्रतिकार मत करो'; इसका अर्थ यह है कि अन्याय का प्रतिकार अन्याय से मत करो बल्कि अन्याय का

प्रतिकार सद्प्रवृत्ति से करो; लेकिन किसी भी तरह प्रतिकार किये विना मत रहो। कायरों जैसी निष्क्रियता की अपेक्षा प्रतिकार बहुत अच्छा है।

इसी प्रकार "खुद अपने जैसा अपने पड़ोसी पर भी प्रेम करो।" इसमें वे इतना और बढ़ायेंगे कि—"और प्रत्येक मनुष्य ही नहीं प्राणीमात्र तुम्हारा पड़ोसी है" इस प्रकार वे प्रेम और उदारता दोनों की व्याप्ति बढ़ायेंगे।

वे अन्याय और अन्यायी में जो विभेद करते थे वह और अन्याय के साथ वे जो असहयोग करते थे वह दोनों तत्त्व बहुत उपयोगी हैं। एक बार फिर यदि रोम्यारोलाँ के शब्दों में कहें तो "जब कि मानव जाति को ईश्वर ने प्राणियों को पैदा करने की शक्ति नहीं दी है तो उसे जीवित क्षुद्र प्राणियों को मारने का भी अधिकार नहीं हो सकता।' किसीके प्रति—प्रत्यक्ष अन्याय करने वाले के प्रति भी—द्वेष-भावना नहीं रखना चाहिए। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि अन्याय को चुपचाप सहन कर लें। यदि जनरल डायर बीमार हो जाय तो गांधी-जी उनकी भी सेवा करेंगे। लेकिन यदि खुद उनका लड़का भी लज्जा-स्पद जीवन व्यतीत करने लगे तो वे उसे आश्रय नहीं देंगे। उल्टे (गांधीजी के ही शब्दों में) 'मेरे हृदय में उसके प्रति जो प्रेम है वही मुझे अपना आश्रय हटा लेने की प्रेरणा करेगा। फिर वह मर जाय तो भी चिन्ता नहीं।' शारीरिक शक्ति के बल से किसीको सद्-प्रवृत्त बनाने का अधिकार हमें नहीं है।

पुनः गांधीजी के शब्दों में "लेकिन उससे असहयोग करके—फिर उसका परिणाम चाहे जो हो—उसका प्रतिकार अवश्य करना चाहिए। और जब वह पश्चात्ताप-दग्ध हो जाय तब उसे हृदय से लगा लेना चाहिए।"

सत्याग्रह का अधिष्ठान

सत्याग्रह जीवन की ओर देखने का एक दृष्टिकोण ही नहीं, एक आचार धर्म भी है। किसी भी परिस्थिति में और कितनी ही भारी कीमत देकर भी सत्य प्रेम अथवा अहिंसा के द्वारा सत्य का ज्ञान, उपासना तथा तदनुरूप आचार इन तीनों बातों का आग्रह ही सत्याग्रह का अधिष्ठान है।

सत्याग्रह का अन्तिम ध्येय सत्य है। अतः अहिंसा या प्रेम ही उसका एकमात्र साधन है। एक ही सिक्के के ये दो पहलू हैं। यदि कोई गांधीजी से पूछे कि इन दोनों में ज्यादा महत्त्व किसका है तो वे कहेंगे कि —'सत्य' का। सत्य का नम्बर पहिला है। लेकिन यदि किसीको सत्य का स्पष्ट दर्शन न हो तो वह अहिंसा, प्रेम और कष्ट-सहन का रास्ता अपना ले। इससे वह अन्त में सत्य तक अवश्य पहुँच जायगा।

लेकिन सत्य केवल सब धर्मों, तत्त्वज्ञानों और समस्त बड़ी-बड़ी विभूतियों का ही ध्येय हो सो बात नहीं है। बल्कि नेपोलियन, सिकन्दर या हिटलर जैसे विजेता भी यही कहते हैं कि वे उसीका अवलम्बन कर रहे हैं जो उन्हें सत्य प्रतीत होता है तो फिर सत्याग्रह की विशेषता क्या है? उसमें कुछ-न-कुछ विशेषता अवश्य है जिसके कारण मनुष्य उसकी ओर खिंच जाता है और वह है प्रेम के द्वारा सत्य। यही मर्म उसका आधारस्तंभ है। सत्याग्रह का अर्थ है प्रेम, कष्टसहन और अहिंसा के द्वारा ही सत्य की खोज। इसीमें उसकी विशेषता निहित है। वह अहिंसा या प्रेम के द्वारा सत्य तक पहुँचाने का सिद्धान्त है। इस स्थान पर अहिंसा और प्रेम दोनों समान अर्थ रखते

है। हम यह भी कह सकते हैं कि कार्य-प्रवण या क्रियाशील अहिंसा का अर्थ है प्रेम और अव्यक्त प्रेम का अर्थ है अहिंसा। दूसरों का भला हो और उनका भला किया जाय, इस उद्देश्य से सत्याग्रही खुशी-खुशी त्याग करेगा। कम-से-कम प्रारम्भ में वह किसीको कष्ट तो नहीं पहुंचायेगा। यदि अहिंसा का शब्दशः अर्थ करें तो वह दूसरे प्रकार का होने पर भी प्रतिदिन के व्यवहार में खासकर गांधीजी के लेखों, कष्टसहन और अन्तिम त्याग के लिये तैयार रहने वाले सम्पूर्ण विकसित कार्य प्रवृत्त और आक्रमक प्रेम के रूप में ही अहिंसा शब्द की व्याख्या पाई जाती है।

आइये, अब सत्याग्रह-सिद्धान्त के गूढ़वादात्मक तत्वज्ञान-सम्बन्धी नैतिक, विकासशील, मानसिक और वास्तववादी अधिष्ठान की ओर देखें।

गूढ़वाद या रहस्यवाद सत्य के प्रत्यक्ष और स्फूर्त ज्ञान पर ही टिका हुआ है। केवल बुद्धि द्वारा ग्रहीत ज्ञान ही नहीं बल्कि आत्मा को प्रतीत हुआ सत्य का अन्तःप्रेरित ज्ञान ही उसका आधार है। पहिले तो कुछ समय तक वह बुद्धि को जंचता नहीं है लेकिन बाद में बुद्धि को उसका निश्चय हुए बिना न रहेगा। बुद्धि निश्चित रूप से विवरणात्मक है। नई-नई घटनाओं की छानबीन करने, उनको अलग-अलग करने, उसमें प्रवीणता प्राप्त करने और एक ही मार्ग से जाने में बुद्धि को आनन्द अनुभव होता है। उसे बुद्धि की सहज प्रवृत्ति ही समझिए। लेकिन अन्तःप्रेरणा समन्वयशील होती है और अविभाज्य एवं सम्पूर्ण रूप से सत्य को ग्रहण करती है। सब समय के और सब देशों के रहस्यवादियों ने आत्मा, ज्ञान और जीवन की एकरूपता का अनुभव किया है। अनन्त से एकरूप होकर उस अनुभूति को प्रत्यक्ष जीवन में उतारना ही उनका सर्वोच्च ध्येय होता है। इस ऐक्य भावना से सत्याग्रही पूरी तरह सहमत रहता है। परमोच्च अनुभव के समय उसे उस एकरूपता की अनुभूति होती है और वह उससे समरस होता

है। अपने दैनिक जीवन में उस एकरूपता की अनुभूति करते रहने के लिये उसकी दौड़-धूप निरन्तर चलती रहती है। संसार में पराये जैसा कोई है ही नहीं। प्रेम का अर्थ है तादात्म्य प्राप्त करना। यह सत्य का महत्त्वपूर्ण गुण-धर्म है। अतः यह कहा जा सकता है कि सबसे एक-रूपता अनुभव करना प्रेम का उपसिद्धान्त है। अल्डुस हक्सले ने कहा है कि "अहिंसा भूतमात्र की एकता के विश्वास का व्यावहारिक स्वरूप है।" 'तुम दूसरों से जैसे व्यवहार की अपेक्षा करते हो वैसा ही व्यव-हार दूसरों के साथ करो।' इस प्रकार के वाक्य मानो ऐक्यपूर्ण जीवन के दिव्य अनुभवों की अस्पष्ट प्रतिध्वनि है। इसीलिए गांधीजी कहते हैं—"सारे जीव पवित्र हैं किसी भी जीव को सताना स्वयं को ही सताने जैसा है—दूसरे शब्दों में ईश्वर को ही सताने जैसा है।"

यह अनुभूति सत्याग्रह की रहस्यवादात्मक बुनियाद है। इससे यह अपने आप सिद्ध हुआ कि सत्याग्रही को जो सत्य प्रतीत हुआ है उसका अनुभव वह आचरण द्वारा ही प्राप्त करने का प्रयत्न करें। जिन-जिन लोगों के साथ काम पड़े उन-उन लोगों के साथ पृथक्ता की भावना धीरे-धीरे नष्ट करके एकरूपता अनुभव करने से ही यह बात साधी जा सकेगी। भावना के क्षेत्र में जहां वह सबसे प्रेम करता है, सारे विश्व के साथ एकरूपता अनुभव करता है वहां प्रत्यक्ष व्यवहार में उसका आरम्भ पास-पड़ौसियों से ही होगा। यह प्रेम की प्रवृत्ति है। प्रेम अपना सर्वस्व दान करने की, जिनको हम प्रेम करते हैं, उनके लिए आत्मबलिदान करने की, स्फूर्ति देता है। दुखाना, सताना, तिरस्कार, क्रोध और इन सबसे भी बढ़कर अर्थात् इनकी कारणभूत स्वार्थी इच्छा के लिए प्रेम-राज्य में स्थान नहीं है। सत्याग्रही का जीवन क्या है, सबका भला करने की अखण्ड प्रवृत्ति। यदि उसके मार्ग में कठि-नाइयां आ जाय तो आवश्यकता पड़ने पर वह कष्टसहन का और आत्यन्तिक त्याग का मार्ग पसन्द करता है। या तो वह प्रतिगामी शक्तियों को बदल देने या झुका देने में सफल होता है या प्रयत्न करते-

करते मृत्यु का आलिङ्गन कर लेता है। दोनों ही प्रकारों से जीव की एकतारूपी सत्य का समान रूप से समर्थन होता है। अतः दोनों में से कोई भी परिणाम निकालने पर वह उसमें अपनी विजय ही मानता है। अपने बच्चे को बचाने के प्रयत्न में मृत्यु का आलिङ्गन करने वाली माँ जितनी सुखी होती है उतनी ही वह माँ भी सुखी होती है जिसको उसके लिये मृत्यु का आलिंगन नहीं करना पड़ा है। उसे अपने जीवन का बड़ा मूल्य नहीं मालूम पड़ता। यदि उसके लिए किसी बात का महत्त्व है तो वह अपने प्रेम का। अपने बच्चे को बचाने का प्रयत्न करते हुए यदि उसे मृत्यु दिखाई दे तो वह प्रसन्न-वदन से और इस भावना से कि यह मेरी ही विजय है मृत्यु को गले लगाती है और यदि वह बच्चे को बचाने में सफल हो जाय तो भी उसे उसमें उतनी ही विजय मालूम होती है।

यदि सत्यानुभूति के लिए रहस्यवाद का दारोमदार अन्तःप्रेरणा पर है तो तत्त्वज्ञान का आधार बुद्धि और तर्कशास्त्र पर होता है। यदि तादात्म्य और चिन्तन में रहस्यज्ञान प्राप्त होता है तो दार्शनिक ज्ञान निरीक्षण, तर्क और अनुमान की पद्धति से प्राप्त होता है। एक ही चित्शक्ति सारे विश्व में व्याप्त है। भिन्न-भिन्न दिखाई देने वाली वस्तुओं के मूल में भी वही शक्ति निवास करती है। तत्त्वज्ञ लोग अब इस निर्णय पर पहुँच गये हैं और वैज्ञानिक लोग जड़ वस्तुओं के सम्बन्ध में भी इसी सिद्धान्त को मानने लगे हैं। यद्यपि ऊपर-ऊपर देखने वाले को सृष्टि में भिन्नता दिखाई देती है तो भी इस भिन्नता के मूल में एकता ही है। भिन्नता भ्रम नहीं, सापेक्ष सत्य है। ज्ञान की ऊँची सीढ़ी पर इससे भी ज्यादा श्रेष्ठ सत्य निवास करता है और यह चुनाव करना हमारा काम है कि क्या हमें भिन्नता और पृथकता की सतह पर रहना है या ऐक्य और एकरूपता की सतह पर। पहिला मार्ग पृथकता, भीति, एकाकीपन, अहंभाव, झगड़ा, तिरस्कार और विनाश की ओर ले जाता है—दूसरा मार्ग एकरूपता, प्रेम, त्याग, आनन्द, ऐक्य,

श्रेष्ठज्ञान, एकात्म जीवन और तदन्तर्गत दिव्यता की ओर ले जाता है। यह सम्भव है कि जबतक मेरा शरीर है और मुझे उसका भान है तबतक मुझे आत्मा की एकता की पूर्ण प्रतीति नहीं होगी। लेकिन पृथक्ता के बजाय एकरूपता के, लड़ाई के बजाय मेल-मिलाप के और द्वेष के बजाय प्रेम के रास्ते पर मैं विश्वासपूर्वक अपने क़दम मोड़ सकूंगा। मनुष्य इतना ही कर सकता है और यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो वह अपने रास्ते का खतरा बचा नहीं सकेगा।

आइये, अब हम सत्याग्रह के नैतिक पहलू पर विचार करें। जो मार्ग हमें ऐक्य, सुसंवादित्व—एकतानता और मानवीजीवन के सौख्य के सर्वोच्च शिखर तक ले जाता हो वह सर्वदा सबके लिए हितकारी है। वहां दूसरी ओर उसकी बिलकुल विरुद्ध दिशा में जाने वाला मार्ग अहित का—अकल्याण का है। अतः हमें स्वभावतः सत्पथ का अवलम्बन करना और कुपथ छोड़ना चाहिए। नीतिशास्त्र सत्याग्रह और सत्याग्रही के दृष्टिकोण का सदैव ही पृष्ठपोषण करता है। व्यक्ति के लिए एक तथा समूह और राष्ट्र के दूसरे, इस प्रकार रूढ़ दुमुहे नैतिक मूल्यों के कारण ही कूटकपट, देशभक्ति के नाम पर हत्या, षड्यन्त्र और द्वन्द्व-फन्द को सद्गुण का महत्त्व प्राप्त होता है। सत्याग्रह को नीतिशास्त्र का दोमुहापन मंजूर नहीं है इसीलिए उसका नैतिक आधार बहुत मजबूत है। प्रेम तथा सत्य से बढ़कर उत्तम अधिष्ठान कौनसा हो सकता है? इसी कारण यदि उससे किसी राष्ट्र के व्यक्ति या कुटुम्ब का हितसाधन होता हो तो वह सम्पूर्ण संसार तथा मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के लिए भी हितकर होना ही चाहिए। लेकिन आज वस्तुस्थिति ऐसी नहीं दिखाई देती तो यह हमारी दुर्बलता और मूर्खता का परिणाम है। हमें अपनी कमज़ोरी छोड़ने की ही देर है कि वे तेजस्वी गुण हमारा मार्गदर्शन करने के लिए तैयार दिखाई देंगे।

संसार में अहिंसा की दिशा में होने वाली मानवप्रगति का सिंहावलोकन करते हुए गांधीजी कहते हैं (हरिजन ११-८-४०) "जहांतक

का इतिहास हमें ज्ञात है तबसे आजतक के काल पर यदि हम नज़र डालें तो हमें मालूम होगा कि मानव जाति ने शनैः शनैः अहिंसा की ओर प्रगति की है। हमारे प्राचीन पूर्वज नरमांसभक्षी थे। बाद में एक ऐसा समय आया कि उन्हें नरमांस से घृणा हुई और वे पशु-पक्षी के शिकार के द्वारा निर्वाह करने लगे। इसके बाद की अवस्था में मनुष्य अपने भटकैये शिकारी जीवन से शर्माने लगा। तब उसने अपना ध्यान खेती में लगाया और अपनी खाद्य-सामग्री के लिए पृथ्वी पर अवलम्बित रहने लगा। इस प्रकार खानाबदोषी जीवन छोड़कर मनुष्य ग्रामों और शहरों पर आधारित सुसंस्कृत और स्थिर जीवन व्यतीत करने लगा और जो एक कुटुम्ब की इकाई था वह एक समूह और राष्ट्र की इकाई बन गया। यह सब प्रगतिशील अहिंसा एवं अस्ताचलगामी अहिंसा के नमूने हैं। लेकिन यदि इससे उल्टी बात होती तो जिस प्रकार अनेक निम्न प्राणियों की जातियां नष्ट हो गईं उसी प्रकार मानव-जाति भी नष्ट हो गई होती।

मानव जाति का विकास हिंसा और विनाश का अनुसरण करने से नहीं हुआ है बल्कि इसके विपरीत आज मानवी विकास ने जो प्रगति तेज़ी से की है वह हिंसा और विनाश को यथासम्भव टालकर या उनसे दूर रहकर ही की है। सुरक्षितता, सहकारिता और पारस्परिक सहायता के ये सूत्र समाज के गृहीत कार्य हैं। संसार में अनेक भयंकर युद्ध हो चुके हैं और दुर्भाग्य से आगे भी बहुत-सी लड़ाइयां अनिवार्य दिखाई देती हैं लेकिन मानव-प्रगति इन युद्धों से नहीं हुई है। वह तो इतने युद्धों के बावजूद हो गई है। जो थोड़े-से लोग युद्धों का समर्थन करते हैं वे भी केवल इस ग़लत ख़याल से कि युद्ध से वीरोचित गुणों का विकास होता है। बहुत-से लोग युद्ध को एक अटल-अनिवार्य दुष्कर्म मानकर अनिच्छा से उसका अवलम्बन करते हैं। यदि अहिंसक मार्ग की कार्यक्षमता का उन्हें कोई विश्वास करा दे तो वे सबसे पहिले उस हिंसा-मार्ग को छोड़ देंगे। परिवार ही स्वभावतः

श्रेष्ठज्ञान, एकात्म जीवन और तदन्तर्गत दिव्यता की ओर ले जाता है। यह सम्भव है कि जबतक मेरा शरीर है और मुझे उसका भान है तबतक मुझे आत्मा की एकता की पूर्ण प्रतीति नहीं होगी। लेकिन पृथक्ता के बजाय एकरूपता के, लड़ाई के बजाय मेल-मिलाप के और द्वेष के बजाय प्रेम के रास्ते पर मैं विश्वासपूर्वक अपने क़दम मोड़ सकूंगा। मनुष्य इतना ही कर सकता है और यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो वह अपने रास्ते का खतरा बचा नहीं सकेगा।

आइये, अब हम सत्याग्रह के नैतिक पहलू पर विचार करें। जो मार्ग हमें ऐक्य, सुसंवादित्व—एकतानता और मानवीजीवन के सौख्य के सर्वोच्च शिखर तक ले जाता हो वह सर्वदा सबके लिए हितकारी है। वहां दूसरी ओर उसकी बिलकुल विरुद्ध दिशा में जाने वाला मार्ग अहित का—अकल्याण का है। अतः हमें स्वभावतः सत्पथ का अवलम्बन करना और कुपथ छोड़ना चाहिए। नीतिशास्त्र सत्याग्रह और सत्याग्रही के दृष्टिकोण का सदैव ही पृष्ठपोषण करता है। व्यक्ति के लिए एक तथा समूह और राष्ट्र के दूसरे, इस प्रकार रूढ़ दुमुहे नैतिक मूल्यों के कारण ही कूटकपट, देशभक्ति के नाम पर हत्या, षड्यन्त्र और द्वन्द्व-फन्द को सद्गुण का महत्त्व प्राप्त होता है। सत्याग्रह को नीतिशास्त्र का दोमुहापन मंजूर नहीं है इसीलिए उसका नैतिक आधार बहुत मजबूत है। प्रेम तथा सत्य से बढ़कर उत्तम अधिष्ठान कौनसा हो सकता है? इसी कारण यदि उससे किसी राष्ट्र के व्यक्ति या कुटुम्ब का हितसाधन होता हो तो वह सम्पूर्ण संसार तथा मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के लिए भी हितकर होना ही चाहिए। लेकिन आज वस्तुस्थिति ऐसी नहीं दिखाई देती तो यह हमारी दुर्बलता और मूर्खता का परिणाम है। हमें अपनी कमज़ोरी छोड़ने की ही देर है कि वे तेजस्वी गुण हमारा मार्गदर्शन करने के लिए तैयार दिखाई देंगे।

संसार में अहिंसा की दिशा में होने वाली मानवप्रगति का सिंहावलोकन करते हुए गांधीजी कहते हैं (हरिजन ११–८–४०) "जहांतक

का इतिहास हमें ज्ञात है तबसे आजतक के काल पर यदि हम नज़र डालें तो हमें मालूम होगा कि मानव जाति ने शनैः शनैः अहिंसा की ओर प्रगति की है। हमारे प्राचीन पूर्वज नरमांसभक्षी थे। बाद में एक ऐसा समय आया कि उन्हें नरमांस से घृणा हुई और वे पशु-पक्षी के शिकार के द्वारा निर्वाह करने लगे। इसके बाद की अवस्था में मनुष्य अपने भटकैये शिकारी जीवन से शर्माने लगा। तब उसने अपना ध्यान खेती में लगाया और अपनी खाद्य-सामग्री के लिए पृथ्वी पर अवलम्बित रहने लगा। इस प्रकार खानाबदोषी जीवन छोड़कर मनुष्य ग्रामों और शहरों पर आधारित सुसंस्कृत और स्थिर जीवन व्यतीत करने लगा और जो एक कुटुम्ब की इकाई था वह एक समूह और राष्ट्र की इकाई बन गया। यह सब प्रगतिशील अहिंसा एवं अस्ताचलगामी अहिंसा के नमूने हैं। लेकिन यदि इससे उल्टी बात होती तो जिस प्रकार अनेक निम्न प्राणियों की जातियां नष्ट हो गईं उसी प्रकार मानव-जाति भी नष्ट हो गई होती।

मानव जाति का विकास हिंसा और विनाश का अनुसरण करने से नहीं हुआ है बल्कि इसके विपरीत आज मानवी विकास ने जो प्रगति तेज़ी से की है वह हिंसा और विनाश को यथासम्भव टालकर या उनसे दूर रहकर ही की है। सुरक्षितता, सहकारिता और पारस्परिक सहायता के ये सूत्र समाज के गृहीत कार्य हैं। संसार में अनेक भयंकर युद्ध हो चुके हैं और दुर्भाग्य से आगे भी बहुत-सी लड़ाइयां अनिवार्य दिखाई देती हैं लेकिन मानव-प्रगति इन युद्धों से नहीं हुई है। वह तो इतने युद्धों के बावजूद हो गई है। जो थोड़े-से लोग युद्धों का समर्थन करते हैं वे भी केवल इस ग़लत ख़याल से कि युद्ध से वीरोचित गुणों का विकास होता है। बहुत-से लोग युद्ध को एक अटल-अनिवार्य दुष्कर्म मानकर अनिच्छा से उसका अवलम्बन करते हैं। यदि अहिंसक मार्ग की कार्यक्षमता का उन्हें कोई विश्वास करा दे तो वे सबसे पहिले उस हिंसा-मार्ग को छोड़ देंगे। परिवार ही स्वभावतः

मानव-समाज का घटक या इकाई होना चाहिए और अहिंसा, प्रेम, पारस्परिक स्नेह, ममत्व एवं आदर की नींव पर ही उसकी रचना होनी चाहिए। शारीरिक शक्ति पर आधारित अनियन्त्रित सत्ता से प्रारम्भ होकर न्याय तथा पारस्परिक आवश्यकता पर स्थित सम्पूर्ण समता में ही पारिवारिक जीवन का विकास हुआ है। इस प्रकार हिंसा की स्थिति से अहिंसा और प्रेम का विकास दिखाया जाता है। कानून, न्यायालय, समाज-संगठन तथा पागल और अपराधी के प्रति हमारा आज जो व्यवहार है वह अहिंसा और प्रेम के सिद्धान्त को मिलने वाली उत्तरोत्तर मान्यता का ही सूचक है। आज हम अपराधियों के साथ घृणा और तुच्छता का व्यवहार नहीं करते। यह बात अब सर्व-मान्य हो चुकी है कि सहृदयता और दयापूर्ण व्यवहार के द्वारा ही हम पागल और अपराधियों का सुधार कर सकेंगे। बच्चों के प्रति हमारे व्यवहार में भी काफ़ी परिवर्तन हो गया है। ये सारे परिवर्तन यही सिद्ध करते हैं कि हम अहिंसा के द्वारा ही अपना विकास कर रहे हैं और हिंसा, घृणा तथा ज़ुल्म के मार्ग को निश्चित रूप से त्याग रहे हैं।

विभिन्न राष्ट्रों या राष्ट्रसमूहों के आर्थिक, सामाजिक और राज-नैतिक सम्बन्धों के बारे में इस आशामय मार्ग की शक्यता-अशक्यता आज़माने का अवसर आ गया है। यदि सामञ्जस्य और न्याय में हमारा विश्वास हो तो हमारे लिए इसके अलावा दूसरा मार्ग नहीं है। पाशवी शक्ति का अर्थ न्याय नहीं है। न्यायान्याय की परवाह न करने वाली पाशवी शक्ति को निष्प्रभ कर देने वाले संगठन के बनाने का उत्तरदायित्व उन्हींपर आ पड़ता है जो यह अनुभव करते हैं कि न्याय की विजय होनी चाहिए। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' ही यदि संसार का नियम बन जाय तो समझ लेना चाहिए कि समझदारी, न्याय, मनुष्यता तथा अन्य महान् सिद्धान्तों तथा स्थित नैतिक नियमों पर अन्तिम परदा गिर जायगा। फिर वे सिद्धान्त केवल मृगमरीचिका या

कविकल्पना ही रह जायेंगे। शक्ति या सामर्थ्य की तात्कालिक विजय से सत्याग्रही निराश नहीं होता। वह कभी भी 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाले सिद्धान्त के सामने सिर नहीं झुकाता। सत्याग्रह का विश्वास है कि मनुष्य का विकास प्रेम और अहिंसा पर ही अवलम्बित रहता है। सत्याग्रह मानता है कि अधिक बाहुबल के द्वारा नहीं बल्कि अपने अङ्गभूत नैतिक बल के और प्रेम तथा कष्टसहन के साधनों के द्वारा ही अन्त में न्याय की विजय होनी चाहिए। यह स्पष्ट है कि शान्ति और सुख की दिशा से ही मनुष्य का विकास हो रहा है। सत्याग्रह की प्रकृति विधायक है। अतः मानवी प्रगति के मार्ग में अज्ञान, आलस्य, भीरुता, स्वामित्व की भावना, आक्रमण और शोषण की प्रवृत्ति, महत्वाकांक्षा, लालसा, सत्तालोभ तथा अन्य दूसरी कठिनाइयां दूर करने के लिए सत्याग्रह अविरत परिश्रम करता रहता है। मानवता को उच्च कोटि की एकरसता श्रेष्ठ प्रकार की शान्ति और स्वर्गीय सुख की ओर ले जाने वाले विकास की नैसर्गिक प्रेरणा की एक अविभाज्य इकाई के रूप में ही सत्याग्रह का कार्य जारी रहता है।

मानवी मन का सूक्ष्म अध्ययन और उसकी नैसर्गिक प्रवृत्ति व प्रेरणा के अवलोकन पर ही सत्याग्रह की रचना हुई है। इस प्रकार सत्याग्रह को एक मनोवैज्ञानिक अधिष्ठान भी प्राप्त हो गया है। शान्ति-काल में शान्ति, ज्ञान और सुख के विकास व प्रगति के लिए आवश्यक स्नेह और वात्सल्यपूर्ण शक्ति के नाते सत्याग्रह का कार्य चालू रहता है। सत्य उसका आधार और प्रेम स्फूर्ति-निधान है। लेकिन विरोधी शक्ति से झगड़ा होने पर सत्याग्रह अपने ऐसे विशिष्ट मार्ग व रीति-नीतियों का अवलम्बन करता है जो हिंसा-मार्ग के लिए अपरिचित है। सत्याग्रह-संग्राम और फौजी युद्ध-तन्त्र की विस्तृत तुलना रिचर्ड ग्रेग की 'पावर ऑफ नान वायलेन्स' नामक पुस्तक में की गई है। उसके कुछ खास मुद्दों पर विचार करें।

ऊपर शान्तिकालीन और युद्धकालीन सत्याग्रहों का जिक्र किया

गया है। सत्य का उपासक होने के कारण सत्याग्रही अपने जीवन का प्रत्येक क्षण सत्य की खोज में लगाता है और प्रेममय जीवन होने के कारण वह दूसरों का हित करने में मग्न रहता है। यह सब करना मानो उसका स्वभाव धर्म ही हो जाता है। वह नहीं मानता कि ऐसा करते हुए वह कोई विशेष बात करता है या उदारता दिखला रहा है। वह विनम्र परोपकारी और मिलनसार होता है। और वह जिस समाज में रहता है तथा जिनके साथ उसका सम्बन्ध होता है उनके हित के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। वह सत्ता-लोभ से दूर रहता है। उसे दूसरों पर शासन करने की इच्छा नहीं होती, परन्तु खुद अपने पर पूरा शासन व नियन्त्रण होता है। वह जिन लोगों में रहता है, उनपर उसके आचार-विचार का प्रभाव रहता है और इससे उनका हित करने की उसकी शक्ति बढ़ती रहती है। वह ठेठ लोगों के हृदय को स्पर्श करता है और उनके साथ उसके सम्बन्ध बड़े घनिष्ट होते हैं। जहाँ-जहाँ विरोध उत्पन्न होता है वहाँ-वहाँ वह कष्टसहन और त्याग के द्वारा उसे मिटाने का प्रयत्न करता है। इस कारण उसका आसपास के लोगों पर स्थायी प्रभाव रहता है और उसे दूसरों को कष्ट देने की जरूरत नहीं होती। इस प्रकार वह उत्तरोत्तर समाज का अत्यन्त उपयुक्त सुधार करने वाला घटक बन जाता है।

जिस समय सत्याग्रही लड़ाई के मैदान में उतरता है—उदाहरणार्थ सरकार के साथ—तब सबसे पहिले वह इस बात का विश्वास कर लेता है कि उसका कहना सत्य और नीतिविहित है। पहिले जन-मत तैयार करके बाद में प्रतिपक्षी को चुनौती देता है। वह कभी अपने को कमजोर नहीं समझता। स्वयं कष्ट-सहन करता है, परन्तु विरोधी को किसी भी प्रकार की हानि पहुँचाने की बात मन में नहीं लाता और इस तरह विरोधी पक्ष को लंगड़ा कर देता है। उसके द्वारा आविष्कृत विरोध की इस नई पद्धति से शत्रु चकित हो जाता है। यह देखकर कि सत्याग्रही थोड़ा भी प्रतिकार नहीं करता, विरोधी के

गुस्से की धार भोंटी हो जाती है। अहिंसक लड़ाई में के लिए वह और अद्भुत रम्यता या रोमाञ्चकता के लिए काफी अ
उदाहरणार्थ, आमरण अनशन के समय असीम शौर्य की आवश्यकता है। उसका सारा प्रयत्न विरोधी की हिंसक शक्ति को निस्तेज करके उसका नैतिक तेज मन्द करने के लिए ही होता है। इस प्रकार विरोधी को विश्वास हो जाता है कि उसकी शारीरिक शक्ति वेकार सिद्ध हो गई है और उसकी नैतिक भित्ति भी खिसक गई है। यह स्पष्ट है कि सत्याग्रही किसी भी अनैतिक उद्देश्य के लिये उदाहरणार्थ किसी राष्ट्र की स्वतन्त्रता का अपहरण करने के लिए अपने या स्वार्थ के लिए कभी नहीं लड़ सकता। इससे सिद्ध होता है कि सत्याग्रह की कल्पना और वृद्धि मानवी मन की क्रिया और प्रतिक्रियाओं का विचार करके ही की गई है। वह केवल ग्रहीत सिद्धांत या अनुमान नहीं है। सत्याग्रह शत्रु की नैतिक नींव कमजोर करता है, उसका मान-गौरव कम करता है और उसे अनुभव करा देता है कि वह अपने विलक्षण शत्रु के सामने निस्सहाय है। दूसरी ओर वह अपना नैतिक अधिष्ठान मज़बूत बनाता है। वह पराजय-वृत्ति को आश्रय नहीं देता, अत्यन्त उच्च गुण और समशीलता प्रदर्शित करता है और अपनी विजय एवं नैतिक श्रेष्ठता के लिए सदैव निःशंक रहता है।

किसी भी सिद्धान्त का महत्त्व उसके आचरण से आंका जाता है। यदि सिद्धांत निष्क्रिय है तो वह व्यर्थ है। कसौटी के समय यदि वह खरा न उतरे तो उसके सम्बन्ध में लिखे अनेक ग्रन्थ भी दो कौड़ी के न होंगे। अल्डुस हक्सले ने कहा है कि अहिंसा की व्यावहारिकता सिद्ध होनी चाहिए। अपनी 'एन्डस् एन्ड मीन्स' पुस्तक में सामूहिक रूप में किये गये भिन्न-भिन्न प्रकार के अहिंसक कृत्यों का वर्णन करते हुए वह कहता है—"अहिंसा अक्सर अव्यावहारिक या ज्यादा-से-ज्यादा हुआ तो अपवादात्मक लोगों का ही मार्ग माना जाता है।" अतः यह बताना आवश्यक हो गया है कि अहिंसापद्धति यद्यपि आजतक अव्यवस्थित

गया है। सत्य। से काम में लाई गई है और आज तक वह उसी तरह प्रत्येक क्षण लाई जा रही है तो भी वह कार्यक्षम और फलदायी सिद्ध वह दूस आरम्भ से भले ही यह पद्धति अव्यावहारिक मानी गई, तो भी उसगांजी के तथा दूसरे लोगों के सत्याग्रह के प्रयोगों के द्वारा उसकी व्यावहारिकता सिद्ध हो गई है। यह बात नहीं है कि सत्याग्रह केवल व्यावहारिक ही है बल्कि जब सारा वातावरण निराशामय बनने लगता है तब एक यही मार्ग शेष रह जाता है। सी० ई० एम० जोड कहते हैं कि गांधीजी नैतिक क्षेत्र में एक असाधारण विभूति हैं और आगामी पीढ़ी का मार्ग-दर्शन कर रहे हैं। लड़ाई-झगड़े मिटाने के लिए उन्होंने ऐसा रास्ता दिखाया है जो हिंसा-मार्गों को पीछे डाल देगा। इतना ही नहीं जबकि मानव-विनाश के साधन बढ़ रहे हैं, अपनी संस्कृति की रक्षा करने का एकमात्र वही मार्ग कारगर हो सकेगा। अल्डुस हक्सले ने यह दिखा दिया है कि पुलिस के अत्यन्त प्रभावी संगठन से सुसज्जित सरकार के मुकाबले यदि साधारण जनता को अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करना हो तो उसके लिए अहिंसक प्रतिकार के अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है।

: ६ :

सत्याग्रही का दृष्टिकोण

आइये, अब यह देखें कि सत्याग्रही जीवन तथा कर्तव्य-कर्म की ओर किस दृष्टि से देखता है। हम पहिले बता ही चुके हैं कि सत्य की पूर्ण प्रतीति का क्षण ही उसकी अन्तिम विजय और सर्वोच्च सुख का क्षण होता है। सारे संसार में व्याप्त सत्य की साधना करने के लिए, उस सत्य को प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिए, उसका चिन्तन करने के लिए, उसके साथ तादात्म्य पाने के लिए, उसके अनुरूप व्यवहार करने के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन उसके साथ समरस कर देने के लिए और

अपने जीवन में अन्तरात्मा का सहज आविष्कार करने के लिए वह निरंतर उद्योग करता है।

सत्याग्रही केवल आध्यात्मवादी के अव्यक्त सत्य का या कल्पना-विहारी कवि की तरह काव्यमय सत्य का उपासक नहीं होता। उसका उद्योग जीवन में अपने कर्म के द्वारा संपूर्ण सत्य का अनुभव करने के लिए होता है। वह चाहता है कि आध्यात्मिक जगत् की ही भांति भौतिक जगत् के सत्य को भी समझ कर उसके अनुसार व्यवहार करे। ईशावास्योपनिषद् में कहे अनुसार वह विद्या और अविद्या दोनों का ज्ञान प्राप्त करके अर्थात् दोनों का समन्वय करने वाले परमात्मा को समझने के लिए वह प्रयत्नशील रहता है। इस प्रकार एक ओर वह भौतिक सत्य की जानकारी के द्वारा रोग और मृत्यु से छुटकारा पाना चाहता है तो दूसरी ओर आध्यात्मिक जगत् की प्रतीति के द्वारा सबके साथ अमरत्व के आनन्द को अनुभव करना चाहता है।

केवल सत्य का चिन्तन करने से या केवल उसका आन्तरिक ज्ञान प्राप्त कर लेने से सत्याग्रही को संतोष नहीं होता। केवल बुद्धि के द्वारा सत्य की शोध करके अथवा उसे सत्य में रमता हुआ देखकर ही वह तृप्त नहीं होता। केवल भावनाओं के सत्य पर केन्द्रित होने से या सत्य के साथ तन्मय हो जाने से भी उसको संतोष नहीं होता। उसकी यह उत्कट इच्छा रहती है कि उसके जीवन के अणुरेणु में सत्य समा जाय। सत्याचरण के लिए वह अपने प्राण तक देने को तैयार रहता है। ज्ञान को कार्यरूप में परिणत करने के लिए वह व्याकुल रहता है। उसकी दृष्टि में आचारशून्य ज्ञान व्यर्थ की शोभा अथवा काग़ज़ का गुलदस्ता-मात्र रहता है।

सत्य की ओर जाने का उसका मार्ग कर्मयोगी की भांति होता है। वह खुद अपने शरीर, आसपास की परिस्थिति, अपने सगे-सम्बन्धी तथा उनके सुख-दुःखों से शुरू करके उनके पार जाने का प्रयत्न करता है। वह बीमारी, दरिद्रता, दुःख, मनुष्य का मनुष्य के प्रति घृणित

अन्याय गुलामी, विषमता के दुरन्त दुष्परिणाम, आक्रमण और शोषण के कठोर सत्यों से भागना नहीं चाहता। बल्कि उलटे उनका प्रतिकार करना वह अपना परम कर्तव्य समझता है। अनादि अनन्त शाश्वत सत्य का दर्शन करने तक वह इस सापेक्ष सत्य में ही लवलीन है। एक बार दृष्टि प्राप्त कर लेने पर अपने काम के लिए आवश्यक मार्ग-दर्शन एवं प्रोत्साहन के लिए वह उस दर्शन का उपयोग कर लेता है। वस्तुतः सापेक्ष में से और सापेक्ष के द्वारा पूर्ण सत्य की खोज करना ही उसका उद्देश्य होता है। सत्याग्रही का अर्थ कृत्रिम तितिक्षा के द्वारा अपनी भावनात्मक प्रतिक्रिया को दबा देने वाला कोई अस्तोन्मुख पन्थ का तपस्वी नहीं है। वह संसार की प्रत्येक घटना से होने वाली योग्य और नैसर्गिक प्रतिक्रियाओं का संवेदन बिना रोकटोक अपने मन पर होने देता है। वह अपने दैनिक अनुभवों के द्वारा वास्तविकता से परे की अनुभूति प्राप्त कर लेता है। उसे स्वर्गप्राप्ति की जल्दी नहीं पड़ी होती है। बल्कि जहां तक हो स्वर्ग को ही पृथ्वीतल पर उतारने का प्रयत्न वह करता रहता है।

उसे और उसके बन्धुबान्धवों को जो अनुभव होते हैं वे वास्तविक न होकर केवल दृष्टिभ्रम ही हैं—ऐसा मानकर वह उनकी उपेक्षा नहीं करेगा। दीन-दुःखियों की अन्दर घुसी हुई आंखें, पददलितों और पीड़ितों के आंसू, शोषितों की तीव्र यातना इन सबको वह अनुभव करता है। वह मानता है कि उनकी जगह समृद्धि, संतोष, समता, सद्भावना तथा सुख की स्थापना होनी चाहिए। शोषण करने वाले उद्दण्ड लोगों का अहंकार, पाशवी शक्ति के कारण अपने को सुरक्षित समझकर अत्याचार करने वालों की मनमानी को वास्तविक मानकर वह यह जानता है कि निर्भय एवं अहिंसक संग्राम या धर्मयुद्ध के अलावा उनसे छूटने का कोई दूसरा रास्ता नहीं है। उसकी इस सत्य-विषयक वृत्ति के कारण ही उसके हृदय को आकर्षित करने वाली मानवता की प्रेमभावना बढ़ती है। दूसरी सब इच्छाओं, प्रेरणाओं तथा आकांक्षाओं

का ही वह दिव्य स्वरूप होता है उसे एक वही धुन लगी रहती है। और इसी कारण उसके हाथों अपने बन्धुबान्धुओं की सेवा व त्यागयुक्त कृतियां होती रहती हैं। उसी उत्कट भावना के कारण वह कहने लगता है कि सारे प्राणी ईश्वर के ही अंश हैं और प्रत्येक प्राणी की सेवा करना ही मेरे सुख और सन्तोष का विषय है। इस तरह वह केवल सर्वश्रेष्ठ सत्यान्वेषी ही नहीं बल्कि सत्याचरणी भी होता है।

लेकिन जिसे वह सत्याग्रही अपना उपास्यदेव मानता है वह सत्य आखिर है क्या? क्या उसे ग्रहण करना, उसकी खोज करना, उसका अनुभव करना, उसके अनुसार आचरण करना एवं उसमें निमग्न रहना सरल है? ऐसा बिलकुल नहीं कह सकते। लेकिन उसके लिए दौड़धूप तो करनी ही होगी; क्योंकि सत्य ही सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात है। और यदि उसके लिए दौड़धूप न करें तो फिर किसके लिए करें? हमारे आचारों का मार्ग-दर्शन और किस तरह हो सकेगा। तब क्या असत्य का पल्ला पकड़ें? क्या झुठाई को ही महत्त्व दें? जीवन का जो समय सत्य के लिए नहीं दिया गया वह मानो कचरे-कूड़े की भांति हवा में फेंका हुआ जीवन है। वह बिना अर्थ समझे पुस्तक के पन्ने उलटने जैसा ही है अथवा उसे प्रेम की मिठास का अनुभव न होने वाले वैवाहिक जीवन की उपमा दी जा सकती है। केवल सत्य का ज्ञान ही जीवन को जीने योग्य बनाएगा और केवल सदाचार से ही आन्तरिक सन्तोष प्राप्त हो सकेगा। जो सत्य है वह शिव और सुन्दर भी है। सत्य से ही अस्तित्व का निर्माण हुआ है। अस्तित्व और निर्माण के ताने-बाने से सत्य गुँथा हुआ है। अनन्त में संचार करने वाले भूमण्डल का स्वरूप निरन्तर बदलता रहता है तथापि उसके मूल में स्थित सत्य शाश्वत और त्रिकालबाधित रहता है। सारे अस्तित्व के मूल में रहने वाला नियम ही सत्य है। उस स्वर्णमय तन्तु में ही घटनाओं के मोती गुँथे रहते हैं। सत्यमय जीवन का अर्थ है अस्तित्व के नियमों का उचित एवं सम्पूर्ण ज्ञान तथा तदनुसार अचूक व्यवहार। इसके अतिरिक्त

की गई सारी दौड़धूप केवल ग़लत रास्ते पर भटकना, नीतिभ्रष्ट होना, वास्तविकता से दूर जाना तथा मोती छोड़कर सीपी के पीछे दौड़ना है।

अब यह देखने का प्रयत्न करें कि यह सत्य क्या है ? जब मैं कहता हूँ कि मैं सत्य बोलता हूँ तब उससे मेरा क्या मतलब होता है ? उसका यह अर्थ है कि मुझे वस्तुस्थिति जैसी दिखाई दी मैं उसका हूबहू वर्णन कर रहा हूँ। जब मेरा कथन सुनने वाला मित्र कहता है—'हाँ यह सत्य है' तब उसका भी यही मतलब होता है कि उसे भी वस्तुस्थिति वैसे ही दिखाई दी है जैसी कि मैंने देखी है। जब बहुत-से लोग मेरे सत्य कथन की पुष्टि करते हैं तब उन सब लोगों को भी वस्तुस्थिति का दर्शन मुझ जैसा ही हुआ होता है। किसी विशेष घटना के सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण एवं अनुभव एक जैसा ही होता है। किसी घटना का ज्ञान और उसकी अभिव्यक्ति की एकरूपता का अर्थ है सत्य। मुझे सत्य का जो दर्शन हुआ है उसके अनुरूप यदि मैंने आचरण किया तो लोग मुझे सत्याचरणी कहेंगे। इस प्रकार वस्तुस्थिति, उसका दर्शन, उसकी अनुभवजन्य अभिव्यक्ति और उस दर्शन के अनुसार आचरण—इन सबके योग से ही सत्य के पूर्ण स्वरूप का दिग्दर्शन होता है। लेकिन यह भी हो सकता है कि किसी घटना का ज्ञान होने पर भी हम उसे व्यक्त न करें। वह ज्ञान हम अपने पास ही रख लेते हैं। फिर भी यह कहा जाना चाहिये कि हमें सत्य का दर्शन है। क्योंकि यहाँ वस्तुस्थिति का उसके नैसर्गिक रूप में यथार्थ ज्ञान हो गया है लेकिन यहाँ हमारा सत्याचरण केवल विचार रूप में ही है। मान लीजिये, हमें वस्तुस्थिति का ज्ञान है, हम उसे व्यक्त भी करते हैं; लेकिन हमारा आचरण उसके अनुसार नहीं होता। ऐसे समय यह कहा जायगा कि यद्यपि मैं विचारों और उनकी अभिव्यक्ति में सत्यवान हूँ तथापि प्रत्यक्ष आचरण में वैसा नहीं हूँ। लेकिन जब हमें वस्तुस्थिति का पूरा ज्ञान होता है, उस ज्ञान को हम पूरी तरह व्यक्त करते हैं और उसके अनुसार आचरण भी करते हैं

तभी यह कहा जायगा कि हमें सत्य का दर्शन हो गया है। हम सत्य को अभिव्यक्त करते हैं और सत्याचरण करते हैं। अर्थात् हम सब पूरी तरह सत्यवान हैं।

कई बार ऐसा भी हो सकता है कि सत्य को व्यक्त करना और उसके अनुसार आचरण करना हमारा कर्तव्य नहीं होता। ऐसे समय सत्य का ज्ञान प्राप्त करके रुक जाना भी पर्याप्त होगा। उदाहरणार्थ, कल्पना कीजिये कि मैं सूर्योदय का सुहावना दृश्य देख रहा हूँ। उस समय में उस सूर्योदय का केवल ज्ञान ही प्राप्त करता हूँ और इच्छा हो तो अपने मित्रों पर उसे प्रकट करता हूँ। लेकिन उस नैसर्गिक सत्य के अनुसार आचरण करने की ज़ुम्मेदारी मुझपर नहीं आती। लेकिन किसी विशेष स्थिति में सत्य व्यक्त करना या उसके अनुसार आचरण करना आवश्यक होने पर भी यदि किसी व्यक्ति ने वैसा नहीं किया तो अपने कर्तव्य से च्युत होने का दोषी वह निश्चित रूप से माना जायगा। आइये, और उदाहरण लीजिये। मनुष्य की हत्या पाप है और उसे होने देना ठीक नहीं। इसका मतलब यह है कि मैं जानता हूँ कि खून करना पाप है। इसके बाद यदि हम किसीका खून होता हुआ देखें तो अपने प्राणों को भी संकट में डालकर उसे बचाना हमारा कर्तव्य होगा। और जिनपर समाज के नियम व व्यवस्था क़ायम रखने की ज़िम्मेवारी है उन्हें वस्तुस्थिति की जानकारी कराना भी मेरा कर्तव्य है। लेकिन यदि हमने इसमें से कुछ भी नहीं किया तो यह कहा जायगा कि न तो हम सत्य बोलते हैं न सत्याचरण ही करते हैं। वह मेरे कर्तव्यपालन की सबसे बड़ी भूल होगी। अतः सत्य का कोरा ज्ञान होने से काम नहीं चलेगा। अनुभूति और ज्ञान का सौंदर्य न्यायोचित और सत्यपूर्ण भाषण एवं तदनुरूप आचरण में ही है। यथार्थ अनुभूति या सत्यज्ञान का अन्त केवल निष्क्रिय चिन्तन और व्याख्यानबाज़ी में ही नहीं होना चाहिए बल्कि जहाँ काम करने की आवश्यकता हो वहाँ अचूक व उपयुक्त कृति के द्वारा वह होना

चाहिये। अचूक व उपयुक्त कर्म अर्थात् सत्य का प्रत्यक्ष आचरण ही हमारी कसौटी है, यदि हम इसमें पिछड़ गये तो हमें सब कहीं पिछड़ना पड़ेगा। जीवन को पूर्ण बनाने की दृष्टि से या जीवन को सफल बनाने की दृष्टि से हम असफल ही सिद्ध होंगे।

यह भी हो सकता है कि हमें वस्तुस्थिति का यथार्थ ज्ञान ही न हो। हमारा ज्ञान त्रुटिपूर्ण या सदोष भी हो सकता है। ऐसे समय हम यही कर सकते हैं कि जितना सम्भव हो हमें सचेत, विकाररहित और निष्काम बनकर ज्ञान प्राप्त करने के साधन अधिकाधिक शुद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए। जब-जब हमें ज्ञान प्राप्त करने का मौक़ा मिले तब-तब अपनी त्रुटियों को सुधारने का भी मौक़ा मिला करेगा और जो चिन्ताएँ मैं कर रहा हूँ उसकी पुनः पुनः जांच-पड़ताल करके खुद इस बात का निश्चय या विश्वास कर सकूंगा कि मैं केवल सत्य की ही अनुभूति करने के लिए हद दर्जे का प्रयत्न कर रहा हूँ। किसी समय यह भी हो सकता है कि हमारा वस्तुस्थिति या सत्य का ज्ञान पर्याप्त विश्वसनीय होने पर भी केवल हमारी अभिव्यक्ति ठीक न हो। ऐसे समय पर भी जागरूकता और अचूक शब्दों का चुनाव अत्यन्त आवश्यक है। इसी प्रकार हमारे ज्ञान और उसकी अभिव्यक्ति के निर्दोष होने पर भी आचरण में निष्क्रियता आ सकती है। ऐसे समय में निर्भय साथ ही विनम्र स्पष्टवक्ता किन्तु निरभिमानी और सबसे अधिक उत्तम अर्थात् पराकाष्ठा के प्रामाणिक कर्मयोगी बनने का हम प्राणपण से प्रयत्न करेंगे। इस सबका यही मतलब नहीं है कि सत्य के प्रति अगाढ़े नैसर्गिक प्रेम-भाव, आत्म-शुद्धि व आत्मनिरीक्षण और सदैव सत्य के प्रखर प्रकाश में रहने का अविचल निश्चय करके इन गुणों को प्राप्त करने का हम प्रयत्न करेंगे।

मनुष्य अपूर्ण है, अतः वह विश्वास के साथ नहीं कह सकता है कि—'यही बात सत्य है'। लेकिन सत्य का ज्ञान धीरे-धीरे प्राप्त करने का प्रयत्न सभी कर सकते हैं और अपने ज्ञान एवं शक्ति के अनुसार

हमें जो अनुभूति हुई है उसे हम कह सकेंगे कि—'वह यह है'। अपनी सीमाओं के इस ज्ञान के कारण ही हमें विनम्र होना चाहिए। हमें सत्याग्रही बनने की हठ छोड़ देनी चाहिए और अपने मत को दूसरों पर लादने का मोह भी छोड़ देना चाहिए। और केवल इतने भर के लिए ही दूसरों पर क्लेश लादने के बजाय हमें खुद उसे सहन करना चाहिये।

अग्नि जलाती है, प्रकाश अन्धेरा दूर करता है, अन्न जीवनदायी है, भूखे को भोजन कराना चाहिये, दुःख मिटाना चाहिये, पापों का अन्त करना चाहिये, अन्याय का प्रतिकार करना चाहिये, अन्त में सत्य की ही विजय होती है—ये सब बातें सत्य हैं। कभी-कभी इन नियमों का हमें अनुभव होता है और उसके आधार पर हम इनपर थोड़ा-बहुत विश्वास भी करते हैं। कुछ अस्पष्ट रूप से क्यों न हो लेकिन हम सबमें सत्य के और जीवन के नियमों का ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति रहती है। अन्यथा एक क्षण के लिए भी हमारा जीवित रहना असम्भव हो गया होता। अवास्तविकता के आधार पर कोई भी इमारत खड़ी नहीं हो सकती। लेकिन हमें सत्य को देखने की अपनी शक्ति को भी अचूक और तीक्ष्ण बनाना चाहिये। स्वच्छ आइने में ही वस्तु का हूबहू प्रतिबिम्ब दिखाई देगा, शान्त स्वच्छ पानी में ही ऊपर का आकाश ज्यों-का-त्यों दिखाई देगा। अतः सत्य का पूर्ण अनुभव करने के लिए हमें अपना मन भी स्वच्छ बनाना चाहिये और आत्मशुद्धि करते रहना चाहिये।

समान गुण—धर्म तुरन्त एक-दूसरे के पास आ जाते हैं। उसी प्रकार सत्य को सत्य की और आत्मा को आत्मा की प्रतीति या अनुभूति बड़ी जल्दी होती है। इसीलिए जबतक हम स्वयं ही आत्म-स्वरूप नहीं बनते तबतक विश्व भर में व्याप्त रहने वाली आत्मा का ज्ञान हमें नहीं हो सकता। फिर उससे तदाकार हो जाना तो उससे भी ज्यादा मुश्किल है। जबतक हम अपने ही प्रति सत्यनिष्ठ नहीं होते

तबतक हमें सत्य का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। सम्पूर्ण सत्य की अनुभूति करना, उसके अनुसार व्यवहार करना और उसीमें निमग्न रहना—यह सच्चा आदर्श है। हमें अपने इस नश्वर जीवन में यदि कभी उसकी परिपूर्ण अनुभूति नहीं हुई हो तो वह अधिकांश में अवश्य हो सकती है। इसके लिये हमें सिर्फ इतना ही करना है कि उस आदर्श को अपने जीवन में उतारने के लिए हम अपने जीवन का एक-एक क्षण शक्ति भर प्रयत्न में व्यतीत करें।

सत्य की ओर बढ़ने का यदि कोई एकमात्र साधन हमारे पास है तो वह है हमारा मन। यह साधन यदि अपूर्ण और ऊटपटांग है तो वह उतना ही आश्चर्यजनक भी है। हमारी पाँचों इन्द्रियाँ मन का साधन हैं। वे उच्च कोटि की हों सो बात नहीं। तो भी हमें उन्हींपर अवलम्बित रहना है। पंचेन्द्रिय और मन के आइने में ही हमें सत्य को देखना होगा। सत्य का प्रतिबिम्ब ठीक-ठीक पड़ने देने के लिए उन साधनों को हमें स्वच्छ रखना चाहिये। अर्थात् शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से हमारा जीवन शुद्ध और सुदृढ़ रहना चाहिये और सत्याग्रही के जीवन में जो अनुशासन, संयमन, अनासक्ति, स्वार्थत्याग, शान्ति, धैर्य आदि गुणों का महत्त्वपूर्ण स्थान है वह इसी-लिए। वस्तुतः शुद्ध और अडिग चारित्र्य की पूञ्जी से ही सत्याग्रही अपना जीवन प्रारम्भ करता है।

परन्तु केवल सत्य को समझ लेने से आधा भी काम नहीं हो सकता। सत्यानुसार आचरण करने से ही सत्याग्रही को वह पद प्रधानतः प्राप्त होता है। विशेषतः अत्याचारी या प्रतिगामी शक्ति का विरोध हो जाने पर वह ऐसे ही समय अपने कर्तव्यपालन का स्वतन्त्र मार्ग काम में लाता है। वह सदैव बिना किसी अपवाद के सत्याचरण करता है और उसे बेरोक अहिंसा के द्वारा ही करता है।

सत्याग्रही केवल प्रेम के ही द्वारा सत्य प्राप्त करने में विश्वास रखता है। यह विश्वास ही उसका मूलाधार है। यह उसका धर्म ही

है। उसपर उसकी निर्विकल्प निष्ठा होती है। उसके इस विश्वास के ऐसे कारण भी होते हैं। वस्तुतः सत्य ही विश्व का आधार है जिसका अस्तित्व है उसका अनुसरण करके जो रहता है वह है सत्य; यह उसका मूल अर्थ है। वह शाश्वत और अविनाशी है। सत्य—विश्व के क़ानून पर—यदि हम विश्वास न रखें तो फिर दूसरे किसपर रखेंगे। हज़ारों वर्ष पहिले से ही हिन्दी तत्त्व-ज्ञानियों ने—'सत्यमेव जयते', 'सत्यान्नास्ति परोधर्मः' आदि आदेश दे रखे हैं।

दक्षिण अफ्रीका में अपने सत्याग्रह आन्दोलन की पहिली अवस्था की बिलकुल शुरुआत में ही गांधीजी को स्पष्टतः अनुभव हुआ कि सत्य की साधना तथा द्वेष अथवा प्राणियों की हत्या और सम्पत्ति का नाश आपस में एकदम बेमेल हैं। सत्यमय एवं प्रामाणिक जीवन में थोड़ा-सा भी असत्य और द्वेष तथा अत्यन्त क्षुद्र प्राणियों के प्रति भी निर्दयता अथवा हानि पहुँचाने की भावना तिलमात्र नहीं रह सकती।

प्रेम मानवी जीवन का सिद्धान्त है। प्रेम के आधार पर ही समाज की रचना हुई है। यदि ऐसा न होता तो कोई भी समाज अस्तित्व में न आया होता और मानव जाति भी अबतक नष्ट होगई होती। प्रेम का द्वेष पर, अहिंसा का हिंसा पर और सृजनात्मक शक्ति का विनाशात्मक शक्ति पर प्रभुत्व होने के कारण ही जीवन सुसह्य, समृद्ध और अखण्ड रहा है। सच पूछिये तो जीवन का उदय ही प्रेम से हुआ है। जीवन प्रेम की बदौलत ही क़ायम रहता है और प्रेम के कारण ही उसे पूर्णता प्राप्त होती है। अतः प्रेम मार्ग के अवलम्बन से ही केवल प्रेम की अनुभूति होती है। द्वेष और हिंसा का मार्ग केवल असत्य की ही ओर ले जाता है। हिंसा तो जंगली जीवन का नियम है और अहिंसा अथवा प्रेम मानवी समाज का नियम है। इसलिए सत्याग्रही सत्य की साधना करता है और वह भी अहिंसा के ही द्वारा।

इसके अतिरिक्त हम जैसे नश्वर, पापक्षम जीवों के लिए अहिंसा ही सबसे ज्यादा सुरक्षित मार्ग है क्योंकि हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि जिसे हम सत्य मानते हैं और उस समय हमें जिस बात में सत्य का विश्वास हो जाता है सम्भव है कि वह पूरी तरह सत्य न हो। और यदि इस बीच हमने अपने उस अर्द्ध सत्य को दूसरों पर लादने के लिए हिंसा का अवलम्बन किया तो हमसे एक घोर प्रमाद हो जायगा और दूसरों को व्यर्थ ही कष्ट देने जैसा हो जायगा। लेकिन यदि इसके विरुद्ध अहिंसा का मार्ग अपनाया तो हमें ही वह कष्ट उठाना पड़ेगा। हम शुरू में ही यह स्वीकार कर लेते हैं कि सत्य का अर्थ लगाने में हमसे ग़लती हो सकती है और इसीलिए दूसरों को कष्ट देने की अपेक्षा हम खुद ही उसे उठाने को तैयार हो जाते हैं। इस प्रकार दूसरों को हमारे मत के कारण या भूल के कारण कोई कष्ट न उठाना पड़ेगा और हमारा कष्टसहन भी व्यर्थ नहीं जायगा, क्योंकि उससे हमारी आत्मशुद्धि होगी। हमें बड़प्पन मिलेगा और दूसरे लोगों में भी समझदारी आवेगी। और यदि सत्य हमारे पक्ष में हैं, हमारा त्याग पूरा-पूरा शुद्ध है तो अवश्य ही विरोधियों के विचार बदल जायेंगे। किसी को दवा देने की अपेक्षा उसका मत परिवर्तन कर देना ज्यादा अच्छा है। इसी प्रकार मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि अत्याचार करने की अपेक्षा मत परिवर्तन कर देना अधिक ऊँचा व अच्छा मार्ग है।

'जैसे के साथ तैसा' व्यवहार करने या उपकार का बदला अपकार से देने में कौनसी अच्छाई या बड़प्पन है। इससे तो हिंसा का प्रभाव अलबत्ता चिरकालीन हो जायगा। यदि किसी भी स्वरूप में या किसी भी कारण से हिंसा की तो मानवता का अधःपतन अवश्य ही होगा। जो हिंसा करता है और जिसके विरुद्ध करता है—यदि उसकी प्रवृत्ति अहिंसामय न हो तो उससे दोनों का अधःपतन ही होता है। यदि हमने अपने हिंसक शत्रु को हिंसा का आश्रय लेकर मार डाला तो यह

सत्य है कि वह मर जायगा लेकिन इससे खुद अहिंसावृत्ति को ही जीवनदान देने जैसा हो जायगा। उचित एवं उदात्त मार्ग तो है सत्-प्रवृत्ति का दुष्प्रवृत्ति के ऊपर, प्रेम का द्वेष के ऊपर, अहिंसा का हिंसा के ऊपर, शान्ति का अशान्ति के ऊपर और सत्य का असत्य के ऊपर विजय पाना। इसके अतिरिक्त संसार में अन्याय मिटाने का दूसरा रास्ता ही नहीं है। इस प्रकार अहिंसा एवं कष्टसहन के द्वारा सत्याग्रही पहिले तो अपने मन के ही अन्याय और द्वेष का डेरा हटाता है और इस प्रकार फिर संसार से भी इसे हटाने का मार्ग प्रशस्त करता है।

इस प्रकार प्रयुक्त प्रेम या आत्मिक बल पाशवी शक्ति की अपेक्षा संस्कृति के उत्थान के लिए अधिक निश्चित प्रभावी और श्रेष्ट है। मनुष्य कोई चलता-फिरता नश्वर शरीर नहीं है, उसमें अविनाशी आत्मा निवास करती है। यही विश्वास उसके बल का मूल आधार है। इस-लिए सत्याग्रही अत्याचारी अधिकारियों के सामने निडर होकर सीना खोले खड़ा रहता है। क्योंकि उसे दृढ़ विश्वास रहता है कि अन्त में सत्य की ही विजय होगी।

मनुष्य की सत्प्रवृत्ति में सत्याग्रही की बेहद निष्ठा होती है। उसे विश्वास होता है कि प्रेम, सेवा, कष्टसहन और त्याग को इस सत्-प्रवृत्ति की सहायता मिलती है। चाहे हम समझें या न समझें, चाहे हम स्वीकार करें या न करें प्रेम का सिद्धान्त गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त के अनुसार बेरोक अपना काम करता रहता है। दुःसाहस से नहीं बल्कि इसी प्रकार के विश्वास के बल पर सत्याग्रही आनवान के मौके पर अपना जीवन बलिदान कर देने के लिए तैयार हो जाता है। उसका यह दृढ़ विश्वास होता है कि यदि बाजी मार ली तो अच्छा ही है अन्यथा शहीद के खून की बूंदें भावी वीरों के बीज बनेंगी।

सत्याग्रही का जीवन मानो आत्मशुद्धि, संयम, सेवा, स्वार्थत्याग, आत्मसमर्पण आदि गुणों का एक अखण्ड एवं आनन्दमय क्रम ही है। सत्याग्रही सत्य के स्पष्ट ज्ञान एवं प्रभावशाली व्यक्त स्वरूप का

अधिकाधिक शुद्ध साधन बने इसके लिए सतत प्रयत्न करता रहे। उसमें अत्यन्त विनम्रता होती है और बड़ी निष्ठा के साथ वह सत्य की साधना करता है। वह सारे स्वार्थी उद्देश्यों को त्याग देता है और आसक्ति से अपने को मुक्त कर लेता है। वह निरन्तर आत्मनिरीक्षण करता है और मन के मैल को धो डालने का प्रयत्न करता है। सत्याग्रही मानो मूर्तिमान् विनम्रता ही है। अपनी समझ और शक्ति के अनुसार वह अपने को रचनात्मक काम तथा अपने भाइयों की सेवा में लगा देता है। उसके भाइयों को उसकी इस सेवा से शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक स्वस्थता प्राप्त होती है।

यदि उसे यह विश्वास हो जाता है कि उसके काम में बाधा डालने वाली शक्तियाँ प्रतिगामी एवं न्यायसंगत नहीं हैं तो वह साहस के साथ उनका मुक़ाबला करता है। वह इस कारण से हिंसा का त्याग नहीं करता कि वह कमज़ोर है बल्कि वह तो इसी विश्वास से इस मार्ग का अवलम्बन करता है कि हिंसा दुर्बलों का शस्त्र है। सबसे पहिले तो वह इस बात का विश्वास कर लेता है कि सत्य उसके पक्ष में है फिर यदि वह अकेला भी रह जाता है तो एकाकी ही मुक़ाबले के लिए आगे बढ़ जाता है। किन्तु हाँ, वह अन्यायी से द्वेष—अप्रीति नहीं रखता। उसके साथ सत्याग्रही का व्यवहार अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण एवं सहनशीलतायुक्त होता है। उसके लिए वह मृत्यु का भी आलिङ्गन करने को तैयार हो जाता है। उसे दृढ़ विश्वास होता है कि केवल कष्टसहन के द्वारा ही उसके तथा उसके विरोधी के बीच का फ़र्क़ दूर हो जायगा और वह अपने विरोधी के हृदय तक पहुँच सकेगा। अपने विरोधी को भय दिखाकर नहीं बल्कि उसकी सत्-प्रवृत्तियों को जाग्रत करके उसे जीतने का प्रयत्न करता है। वह जिस काम को हाथ में लेता है उसके लिए पहिले जनमत को अनुकूल बनाता है और फिर उसके बल पर मुक़ाबले की शुरुआत करता है। सत्याग्रह व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए

कभी नहीं किया जाता। उसका उपयोग हमेशा दूसरों के ही हित के लिए किया जाता है।

सत्याग्रही के हिस्से में जो कष्टसहन आता है उसका रूपान्तर उस आनन्द में होता है जो अपने प्रेम-विधान की खोज से प्राप्त होता है। उसे मालूम रहता है कि संसार की कोई भी शक्ति मेरी आत्मा को धक्का नहीं लगा सकती और कोई भी शत्रु अपनी सत्ता मुझपर नहीं जमा सकता। कष्टसहन बन्धन में पड़ी हुई आत्मा को मुक्त करने का ही मार्ग है। सत्याग्रही पूर्ण रूप से अपने ऊपर ही अवलम्बित रहता है और उसकी निष्ठा अपार होती है। शुद्ध अन्तःकरण तथा निःस्वार्थ वृत्ति से किया हुआ प्रत्येक काम ही उसका पुरस्कार या पारितोषिक होता है। अतः वह फल की चिन्ता नहीं करता। उसकी दृष्टि में साधन की इष्टानिष्टता साध्य से नहीं ठहरती; बल्कि वह अन्तिम साध्य की अपेक्षा साधनों को ही ज्यादा महत्त्व देता है। सत्यमय जीवन बिताने के बराबर श्रेय वह किसी भी काम में नहीं मानता।

जितनी तन्मयता से तार पर कसरत करने वाला अपना काम करता है उतनी ही तन्मयता से सत्याग्रही भी अपना मार्ग साफ करता है। अन्याय को देखते ही वह अपनी सारी शक्ति लगाकर उसपर टूट पड़ता है। हार जैसा शब्द तो उसके शब्दकोप में मिलता ही नहीं है। क्योंकि शत्रु को जीतने के प्रयत्न में यदि मृत्यु का आलिंगन करना पड़े तो वह भी आत्मा की शरीर पर विजय ही है। अपने ध्येय के लिए दृढ़तापूर्वक लड़ते-लड़ते वह सदैव विपक्षी से समझौता करने के लिए तैयार रहता है बशर्ते कि उसमें अपमान व सिद्धान्त भंग न होता हो। कारण यह है कि वह अपने सत्य के ज्ञान के संबन्ध में दुराग्रह नहीं रखता और दूसरे पक्ष पर भी विचार करने के लिए हमेशा तैयार रहता है।

वह प्राणीमात्र को समदृष्टि से देखता है अतः वह बिलकुल निर्भय रहता है। बल्कि यह भी कह सकते हैं कि उसमें निर्भयता का थोड़ा अतिरेक भी होता है। सारे विश्व में उसके लिए कोई पराया नहीं होता फिर वह किससे डरे? उपनिषद् में कहा गया है कि जहां द्वैत भावना है वहां भय मौजूद ही समझना चाहिए। जहां अद्वैत है वहां भय का क्या काम? और फिर द्वेष तो होगा ही कैसे? और यदि द्वेष का अस्तित्व ही नहीं होगा तो दूसरों को सताने की प्रवृत्ति होगी ही नहीं। फिर वहां हिंसा की क्या ज़रूरत? सत्याग्रही सारी मानवजाति को कुटुम्ब की तरह मानता है और वह हमेशा इसी बात के लिए प्रयत्नशील रहता है कि मनुष्य-मनुष्य और समूह-समूह के बीच स्पर्धा और कटुता का अन्त हो। सत्याग्रही एकता और मेल या सामञ्जस्य का प्रेमी होता है और अपने विश्वप्रेम की भावना के कारण वह इसे व्यवहार में लाने का प्रयत्न करता रहता है।

सत्याग्रही स्वभावतः ही शान्तवृत्ति होता है। लेकिन उसकी शान्तिप्रियता का अर्थ सौख्यासक्ति, निष्क्रियता, झगड़ा टालने की या यदि वह हो ही गया तो उससे दूर रहने की प्रवृत्ति नहीं है। यह बात भी नहीं है कि वह झगड़ों की राह ही देखता बैठता है। लेकिन एक आदर्श योद्धा की भांति वह उसके लिए भी तैयार रहता है। वह प्रधानतः एक कर्मवीर होता है और अन्याय के प्रतिकार करने का तो मानो उसने कंकण ही बांध रखा है। वह मानता है कि बाह्य अन्याय हमारे आन्तरिक अन्याय का ही प्रतिबिम्ब होता है। और वह उसे इसी भावना से मिटाना चाहता है कि वह उसके ही एक अंग का अन्याय है। अपनी ही भांति वह अपने शत्रु की भी भावना का आदर करता है। अपनी खुद किसी बुरी आदत को छोड़ते समय वह जिस प्रकार का व्यवहार करता है वैसा ही व्यवहार वह ऐसे समय करता है। अपने किसी दुर्गुण को मिटाने के लिये वह अपने को ही मार नहीं डालता। पैर को कम-से-कम तकलीफ़ देकर ही कांटा

निकालना चाहिये। अन्यायी, अनुचित व्यवहार करने वाले अथवा विरोधी को वह द्वेष-भावना या उपहास की दृष्टि से नहीं देखता बल्कि सहानुभूति और दयालुता की नज़र से देखता है।

केवल एक बड़ी बात में वह अनुचित व्यवहार करने वाले को अपने बराबर नहीं मानता। वह अपने को सज़ा दे लेगा अथवा अन्त तक कर देगा और अपने दोष मिटाने के लिये न जाने क्या-क्या कष्ट उठा लेगा। लेकिन प्रश्न उठता है कि इस तरह का अपने जैसा ही व्यवहार वह अनुचित व्यवहार करने वाले के साथ भी क्यों नहीं करता? ऐसी सज़ा उसे क्यों नहीं देता जिससे उसके प्राणों को धक्का न लगते हुए शरीर को कष्ट पहुँचे। अथवा वह अपने विरोधी की सम्पत्ति और सगे-सम्बन्धियों पर हमला करके उन्हें परेशान क्यों नहीं करता? इसके कारण अत्यन्त स्पष्ट और प्रकट हैं। वह अपने सम्बन्ध में जितना स्वतन्त्र रह सकता है उतना दूसरों के सम्बन्ध में नहीं। अपने बारे में तो वह यह देख सकता है कि जो कुछ कर रहा है उसकी क्या प्रतिक्रिया हो रही है और इसलिए वह उसके अनुरूप साध्य तथा साधन में सामञ्जस्य भी स्थापित कर सकता है। लेकिन विरोधी के अनुचित व्यवहार का वह ठीक-ठीक अन्दाज़ा नहीं लगा सकता ऐसी दशा में उसे अपने विरोधी पर कष्ट लादने का क्या अधिकार है? इसलिए वह विरोधी के हाथों स्वयं भी कष्ट उठाने का मार्ग चुनता। है और उसके हृदय को स्पर्श करके उसकी विवेकबुद्धि को जाग्रत करने का प्रयत्न करता है। वह विरोधी को अपना सुधार करने का मौक़ा देता है, स्वेच्छा से अंगीकृत कष्टसहन, आत्मशुद्धि व आत्मोन्नति का साधन होता है; दूसरों के द्वारा लादा हुआ कष्टसहन नहीं। विरोधी पर कष्ट न लादने का एक और कारण यह है कि उस कष्ट का परिणाम सन्तोषजनक न होकर उलटा हानिकर होने की भी सम्भावना रहती है। विरोधी की अपनी भी एक विशेष भूमिका रहती है और कष्ट लादने से वह और ज़्यादा मज़बूत हो सकती है। कष्ट

लादने से, उसमें द्वेषबुद्धि जाग्रत हो जाती है और बदला लेने की भावना का पोषण होने लगता है। इससे उसके आत्मसम्मान को भी ठेस पहुँचती है और भावना के शुद्ध होने के बजाय वह अधिकाधिक बिगड़ती जाती है और उसकी अवनति होने लगती है। ऊपर से लादे हुए कष्ट के कारण भीरुता और उसके साथ ही क्रोध-द्वेष आदि सारे दुर्गुणों की प्रबलता उसमें होने लगती है। इन सब कारणों से सत्याग्रही स्वयं कष्ट उठाना ही पसन्द करके आत्मशुद्धि और विरोधी का हृदय परिवर्तन करने का प्रयत्न करता है—एक पंथ दो काज करने का प्रयत्न करता है।

हिंसा से हिंसा को, बड़े डर से छोटे डर को, या अन्याय से अन्याय को मिटाने का प्रयत्न करना गन्दगी से गन्दगी दूर करने का प्रयत्न करने जैसा ही है। ऐसा करना मानो यह सिद्ध करना है कि हमारी युक्ति और दांवपेंच अनुचित एवं गलत थे। एवं हमारी योजना अधिक अव्यवस्था पैदा करने वाली है। सत्याग्रही आत्मशुद्धि के बल पर इस काम को हाथ में लेता है अर्थात् उस अंश तक वह अन्याय पर विजय प्राप्त करना प्रारम्भ करता है। निःस्वार्थ सेवा और आनन्दपूर्वक कष्टसहन उसकी आत्मशुद्धि के साधन होते हैं।

सत्याग्रही कर्मयोगी होता है। उसका जीवन बड़ा आन्दोलनमय और समर-प्रसंगों से भरा रहता है। संसार में ऐसे कितने ही अच्छे सिद्धान्त हैं जिन्हें अपनाना चाहिये। साथ ही संसार में ऐसे कितने ही अन्याय भी हैं जिनसे हमें लड़ना चाहिये। लेकिन कोई भी अन्याय उसका रास्ता रोक नहीं सकता और कोई भी तात्कालिक हार उसे झुका नहीं सकती। वह इस दृढ़ विश्वास से अपना काम करता रहता है कि अन्त में सत्य की ही विजय होगी और वह भी अहिंसा जैसे सर्वश्रेष्ठ मार्ग के ही द्वारा।

———

: ७ :

जीवनपथ और सामाजिक शस्त्र

सत्याग्रह एक जीवनपथ है। इसलिए सत्याग्रही के लिए उसकी सम्पूर्ण सिद्धान्त-प्रणाली स्वीकार करके उसे कार्यरूप में परिणत करने का अविराम प्रयत्न करने की ज़रूरत है। यद्यपि यह विचार-धारा पुरानी है तथापि गांधीजी के जीवन में व्यक्त होते हुए उसका स्वरूप हरे-हरे कोमल तृणांकुरों की भांति लहराता हुआ दिखाई देता है। गांधीजी ने ही सत्याग्रह को जीवनपथ जैसा व्यापक अर्थ प्रदान किया है। सत्याग्रह शब्द में इतनी व्यापकता भर देने का श्रेय गांधीजी के उन अनेक प्रयोगों को है जो उन्होंने अपने दीर्घ, अध्ययन-शील, परिश्रमी और अत्यन्त जागरूक जीवन में एक के बाद एक किये हैं। सत्याग्रह अब कोरी वैयक्तिक शान्ति और मुक्ति प्राप्त करने के लिए संन्यासियों के काम का मार्ग नहीं। सत्याग्रही का जीवन सारी मानवता से ही समरस रहता है। तथा आक्रमण एवं पीड़न का सतत मुक़ाबला करने में ही बीतता है। प्रत्येक रूप में अन्याय और सत्याग्रह परस्पर बिल्कुल बेमेल हैं। जबतक संसार में अन्याय बाक़ी है तबतक सत्याग्रही को शान्ति या चैन मिलना असम्भव है। अपना काम पूरा करने तक उसे न मरने की फ़ुरसत रहती है न मुक्ति प्राप्त करने की। अनेक क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न कारणों से वह लगातार लड़ता ही रहता है।

महावीर और बुद्ध, सुकरात और ईसा तथा अन्य अनेकानेक संत महात्माओं ने सत्य की खोज की और वह भी प्रेम के ही द्वारा।

लेकिन उपदेशों का जनमत पर जो प्रभाव पड़ा वह यह है कि धर्म जीवन के दूसरे प्रसंगों से अलग किया जा सकता है और मानो उनके उपदेश धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित हैं। लोगों की यह धारणा बनती हुई दिखाई देती थी कि उनके उपदेशों का उपयोग ऐहिक जीवन के बजाय पारमार्थिक जीवन के लिए ही है। लेकिन गांधीजी के उपदेशों में ऐसी ग़लत धारणा के लिए कोई स्थान नहीं है। वे कहते हैं कि इसी शरीर और इन्हीं आँखों से सत्य और अहिंसा की प्रस्थापना करने में जीवन लगाना ही मेरा ध्येय है। मृत्यु के बाद के पारमार्थिक जीवन की आज चिन्ता करना ज़रूरी नहीं है। केवल योगायोग से नहीं बल्कि एक नये पाप से मुक्ति दिलाने के लिए उन्होंने सामाजिक, आर्थिक, व्यापारिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सभी क्षेत्रों में पदार्पण किया है।

उनका सबसे अधिक ध्यान है आचरणात्मक सत्य की ओर। दूसरे उपदेशकों की अपेक्षा वे जीवन से अधिक समरस हुए हैं। जीवन एक प्रक्रिया है जो प्राण-रूपी प्रेरणा द्वारा निरीन्द्रीय शक्ति को आत्मसात करके उसको संग्रह करने वाले ठीक-ठीक कर्म के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति करती है और उस अभिव्यक्ति की बदौलत ही प्रगति करती जाती है। इस प्रकार जीवन पूर्णतः कर्ममय है। केवल विचार ध्यान या कल्पना करते रहना ही जीवन नहीं है। जीवन का अर्थ है हमें कार्य प्रवृत्त करने वाली अदम्य शक्ति। बुद्धि जीवन का स्पष्टीकरण करती है और कर्म या कृति के नये-नये पर्याय हमारे सामने रखती है। ध्यान, एकाग्रबुद्धि से जीवन-प्रवाह में स्थिर होने का और जीवन के रहस्य में प्रवेश करने का प्रयत्न करता है। तो कल्पना जीवन की भिन्न-भिन्न समस्याओं के साथ खेल खेलती है। परन्तु जीवनक्रम का अखण्ड प्रवाह चालू ही रहता है और जो व्यक्ति ज्यादा-से-ज्यादा अचूक कर्म करता है वही वास्तव में जीवन के गतिशास्त्र में वृद्धि करता है। गांधीजी जीवन को उस कर्मवीर के जीवन की भूमिका में से

देखते हैं जो अपने जीवन के सत्य, अपनी नैसर्गिक प्रेरणा और जीवन की रचनात्मक प्रकृति अर्थात् प्रेम से अधिकाधिक समरस होने की चिन्ता रखता है। प्रेम एवं कष्ट-सहिष्णुता के अपने नवीन मार्ग के द्वारा संसार के सब अन्यायों और दुःखों का मुकाबला करने के लिए सत्याग्रही बाध्य है। सत्याग्रही जीवनपथ और अन्याय का प्रतिकार करने का सत्याग्रह हथियार इनके बीच की कड़ी यही है। सत्याग्रही पीड़ित संसार को नया सुसंस्कृत किन्तु साथ ही एक प्रभावशाली हथियार दिखा देता है। उसे मालूम रहता कि उसका जीवनक्रम सभी लोग जल्दी-से-जल्दी ग्रहण नहीं कर सकेंगे कुछ भी उलटा-सुलटा करके दूसरों को अपने रास्ते में खींच लाना उसका उद्देश्य नहीं होता। अतः जिस समय लोग उसे किसी मुसीबत में फँसे दिखाई देते हैं उस समय उन्हें सत्याग्रह के अवलम्बन की सलाह देने और उनकी यथाशक्ति मदद करने में ही संतोष मानता है। यदि लोग उसकी सलाह को स्वीकार करते हैं तो वह परिस्थिति का अध्ययन करके उनकी शिकायत के खिलाफ तात्कालिक हथियार के रूप में सत्याग्रह का प्रयोग करने के लिए एक नियम क्रम या अनुशासन कायम कर देता है। लेकिन यदि लोगों ने किसी खास उद्देश्य की सिद्धि के लिए सत्याग्रह का अवलम्बन किया तो भी निश्चित अनुशासन का अचूक पालन अत्यन्त जरूरी होता है। कम से कम इतना अनुशासन तो उनको पालना ही चाहिए। किसी रोगी के लिए डाक्टर का बताया पथ्य जितना जरूरी है उतना ही जरूरी यह अनुशासन-पालन भी है। इस स्थान पर भी सत्याग्रही को जीवन भर पालने योग्य अनुशासन और किसी विशेष उद्देश्य के लिए केवल सत्याग्रह के उद्देश्य से पालन किये जाने वाले अनुशासन का अन्तर समझ लेना चाहिए। व्यवहारनीति के रूप में अंगीकृत सिद्धान्तों का भी कम-से-कम उस समय पुरता तो पूरा-पूरा अवलम्बन करना ही चाहिए। जिसकी सत्याग्रह में दृढ़ निष्ठा है उसके लिए ही सत्याग्रह का प्रारम्भ करना और उसे गति देना ज्यादा उचित होता है। क्योंकि जब

ऐसे लोगों के हाथों आन्दोलन का प्रारम्भ और नेतृत्व होगा तभी कम-से-कम-ग़लती और ज्यादा-से-ज्यादा सफलता प्राप्त होगी। १६१६, और १६२१ तथा १६३० में स्वयं गांधीजी ने सत्याग्रह-संग्राम का नेतृत्व करना स्वीकार किया था। सन् १६३० में १४ फरवरी को कांग्रेस कार्यसमिति ने जो प्रस्ताव पास किया उसमें कहा गया था कि सैद्धान्तिक रूप में जिनका अहिंसा में पूर्ण विश्वास हो उन्हें ही सविनय अवज्ञा आन्दोलन का प्रारम्भ करना चाहिए। दूसरे लोग उनका अनुकरण ही करें। इस रीति से आन्दोलन निश्चिन्ततापूर्वक एवं अच्छी तरह चलाया जा सकेगा। खास बात यह है कि—"अहिंसा का उपयोग व्यक्ति के लिए भले ही अच्छा हो, समुदाय की दृष्टि से उसका कोई उपयोग नहीं—यह समझना बहुत बड़ी भूल होगी। इतिहास में ऐसे उदाहरण मौजूद हैं जो सिद्ध करते हैं कि केवल विरले आदमी ही अहिंसा का प्रयोग नहीं कर सकते बल्कि स्त्री-पुरुषों के बड़े अनुशासित समूह भी उसको व्यवहार में ला सकते हैं। ७-१-३६ के 'हरिजन' में गांधीजी ने लिखा है कि—"अहिंसा केवल एक व्यक्तिगत गुण ही नहीं है बल्कि दूसरे गुणों की भाँति उपार्जित कर सकने योग्य एक सार्वजनिक गुण भी है। पारस्परिक व्यवहार में वस्तुतः इसी गुण के द्वारा समाज का नियमन होता है। मैं यह चाहता हूँ कि इस गुण के द्वारा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर इसका व्यवहार किया जाय।"

जिसे शस्त्र के रूप में सत्याग्रह का अवलम्बन न करना हो उसे कम-से-कम सत्याग्रह पर कामचलाऊ श्रद्धा तो रखनी ही चाहिए। दूसरे मार्गों की अपेक्षा इसमें एक बहुत बड़ा फायदा है। हमारा विरोधी शारीरिक दृष्टि से चाहे कितना ही बलवान क्यों न हो फिर भी हम इस मार्ग का अवलम्बन कर सकते हैं। चाहे शारीरिक दृष्टि से हम अत्यन्त कमजोर ही क्यों न हों और चाहे हमें यह भी मालूम न हो कि हिंसा का प्रयोग कैसे करें, तो भी यदि हम निर्भय रहें और हमारी इच्छाशक्ति जबरदस्त हो तो अकेले रहकर भी हम अपने विरोधी से

बिलकुल असह्य हो जाना चाहिए। आमरण अनशन आत्मशुद्धि के लिए किये हुए उपवासों से भिन्न होता है।

: १० :

हिन्दुस्तान में सामूहिक सत्याग्रह

एक व्यक्ति, दल अथवा समूह सत्याग्रह करता है। जब सत्याग्रह के साथ सामूहिक शब्द जोड़ दिया जाता है तब उसका अर्थ होता है प्रत्यक्ष लड़ाई कर सकने वाले या न कर सकने वाले स्त्री-बच्चे आदि सभी लोगों का समूह। करबन्दी की मुहीम को हम सामूहिक सत्याग्रह का उदाहरण कह सकते हैं। क्योंकि यदि करबन्दी के क्षेत्र से हम उन लोगों को छोड़ दें जो कर नहीं देते तो बाकी सारे लोग उसमें आ जाते हैं। दक्षिण अफ्रीका की लड़ाई भी सामूहिक सत्याग्रह ही थी क्योंकि वहां के सारे हिन्दुस्तानी लोग उसमें सम्मिलित हुए थे।

यह प्रश्न करना बिलकुल निरर्थक है कि आज का अशिक्षित और असंगठित जनसमूह इतने कठिन नैतिक हथियार का उपयोग कर सकेगा या नहीं। यह बात तो अब सर्वविदित और इतिहासमान्य हो चुकी है। छोटे-से समूह के द्वारा और छोटे-से निश्चित क्षेत्र में ही नहीं बल्कि सारे राष्ट्र के प्रचण्ड जनसमूह के द्वारा भी उसका प्रयोग करना और बहुधा सफल कर दिखाना सम्भव है। यहाँ मेरा मतलब दक्षिण अफ्रीका, बारडोली, सिद्दापुर, कोवाई और तामलुक के सीमित तथा हिन्दुस्तान के राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह से है। इसके अलावा संसार में कहाँ की जनता हिन्दुस्तान की जनता के बराबर दरिद्री, अशक्त, अशिक्षित और आधापेट भूखी रहने वाली तथा दीनहीन और लाचार है? रीतिरिवाज, पहिनावा, भाषा, धर्म और उपासना में यहाँ के

४० करोड़ लोगों में जितनी भिन्नता है क्या उतनी संसार के किसी भी एक देश में दिखाई देगी? और फिर भी विगत २५ वर्षों में हिन्दुस्तान में भिन्न-भिन्न मौक़ों पर सामूहिक सत्याग्रह हुए हैं। इस शस्त्र का प्रयोग अभूतपूर्व पैमाने पर करके देख लिया गया है। ऐसे संग्राम की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अङ्गोपाङ्गों का अध्ययन करना हमेशा ही लाभदायक होगा। प्रत्येक बार गांधीजी ही लड़ाई के प्रणेता रहे हैं और प्रत्येक समय हृदयहीन विदेशी नौकरशाही से ही लड़ाई लड़नी पड़ी थी। यद्यपि आज भी सामुदायिक सत्याग्रह के द्वारा बहुत बड़ा काम हुआ है तथापि भविष्यकाल में इससे भी अधिक अच्छे-अच्छे सङ्गठन एवं महत्तर विजय प्राप्त करने के लिए अभी बहुत गुञ्जाइश है।

सन् १९०८ में ही गांधीजी के दिमाग़ में यह बात आ गई थी कि हिन्दुस्तान के सारे अन्याय दूर करने के लिए सत्याग्रह का अवलम्बन किया जा सकेगा। रेवरेण्ड डोक लिखते हैं—"वर्तमान (सन् १९०८ के) हिन्दुस्तान के असन्तोष को जो बहुत स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है, ध्यान में रखते हुए मैंने उनसे कहा कि आप अपनी मातृभूमि के नवयुवकों को इस पुस्तक के द्वारा कुछ सन्देश दीजिये, इसपर उनका जो लेखी उत्तर मिला वह इस प्रकार है—ट्रान्सवाल की लड़ाई हिन्दुस्तान की दृष्टि से बड़ी अर्थपूर्ण है।.........हो सकता है कि यह उपाय (सत्याग्रह) देर में फल लाये; लेकिन मेरे विचार से केवल ट्रान्सवाल के अन्यायों के लिए ही नहीं बल्कि हिन्दुस्तान के लोगों के राजनैतिक तथा और भी दूसरे अन्यायों को दूर करने के लिए वह बिलकुल रामबाण है।"

जिस समय गांधीजी ने हिन्दुस्तान को एक शस्त्र के रूप में सत्याग्रह का साधन बताया उस समय उन्होंने कहा कि वह सशस्त्र विद्रोह का ही दूसरा नाम है। सविनय प्रतिकार वाले पहलू पर ज़ोर देकर ही उन्होंने उसे देश के सामने रखने की हिम्मत की थी। लेकिन

अभी देश की इतनी तैयारी नहीं हुई थी कि वह अहिंसा को ध्येय के रूप में स्वीकार कर ले। नीति अथवा तात्कालिक ध्येय के रूप में ही देश ने सत्याग्रह को अङ्गीकार किया था। इस सम्बन्ध में गांधीजी ने ७-५-२१ के यंग इण्डिया में लिखा है—"यद्यपि हमारी अहिंसा का खूब प्रचार हुआ है और हमारे उद्देश्यों की दृष्टि से वह वांछनीय है तो भी उसे सशस्त्र की अथवा जानकार की अहिंसा नहीं कह सकते। जीवित निष्ठा से उसका उद्गम नहीं हुआ। फिर १६४० में २०-४-४० के हरिजन में उन्होंने लिखा कि हम हिन्दुस्तानियों ने अहिंसा को आवश्यक मौक़ा कभी नहीं दिया; फिर भी आश्चर्य की बात तो यह है कि अपनी अधकचरी सफलता से हमने अहिंसा की इतनी मंजिल तय कर ली है।"

जैसा कि आचार्य कृपलानी ने बड़ी निर्भीकता से कहा है। इस सबका इतना ही अर्थ होता है कि भारतीय राष्ट्र के लिए कांग्रेस ने जिस सत्याग्रह का अवलम्बन किया है वह आध्यात्मिक मुक्ति या आत्मानुभूति का साधन नहीं है। वह तो राजनैतिक एवं आर्थिक अन्याय को दूर करने के लिए अहिंसक ढङ्ग का प्रत्यक्ष प्रतिकार है। यहां व्यावहारिकता की दृष्टि से राजनीति में हिंसा त्याज्य मानी जाती है।

लेकिन शुरू में इतना भी काफ़ी है। विगत २५ वर्षों से यह प्रयोग चालू है। ६ अप्रैल सन् १६१६ को हिन्दुस्तान में राष्ट्रव्यापी पैमाने पर सत्याग्रह प्रारम्भ हुआ। यदि स्थानीय प्रश्न को लेकर किये हुए छोटे-छोटे सत्याग्रह छोड़ दें तो विगत २५ वर्षों में कांग्रेस ने ६ अखिल भारतीय स्वरूप के सत्याग्रह किये। कुल मिलाकर सारे आन्दोलन का समय ६ वर्ष ८ मास २ दिन होता है। मैंने यहां यह मान लिया है कि गांधीजी का छुटकारा होने पर ६-५-४४ को अन्तिम आन्दोलन विधिवत् समाप्त हुआ। इसमें जोरशोर से निरन्तर चलने वाले सत्याग्रह

से १८ अप्रैल १६१६ तक तथा १७ अक्टूबर १६४० से ४ दिसम्बर १६४१ तक चलने वाले दोनों आन्दोलनों में चुने हुए व्यक्तियों को ही भाग लेने की इजाजत दी गई थी। शेष चारों आन्दोलन सामूहिक थे और उनमें लाखों स्त्री-पुरुषों तथा बच्चों ने भाग लिया था तथा अत्यन्त कठिन समय में भी अहिंसा के अनुशासन का पालन किया गया था और उसमें हज़ारों लोगों ने अपार कष्टसहन किया था। पुलिस एवं फ़ौज ने पाशवी अत्याचारों की हद कर दी थी; क्योंकि उनके शस्त्रागार में यही एक हथियार सदा तैयार रहता है। शान्तिमय अवज्ञा के लिए लोगों को जेल में भेजने के बजाय सरकार ने लाठी और बन्दूक से काम लिया। झण्डे का जुलूस निकालने वाले अथवा खिलाफ़ क़ानून नमक बनाने वालों को गिरफ्तार न करके पुलिस और सार्जन्टों द्वारा बालकों के नाज़ुक एवं सुकुमार हाथों को झण्डा और नमक छीनने के लिए मरोड़ने जैसे अमानुषिक कार्य अनेक लोगों ने देखे हैं। शान्तिपूर्ण जुलूस को रोककर पुलिस उसके आसपास घेरा डाल देती और लाठीचार्ज से उसे तितरबितर कर देती थी। ऐसे प्रत्येक लाठीचार्ज में कई बार सैकड़ों लोग हताहत हुए हैं और इतने पर भी १०० में ६६ अवसरों पर लोगों के मन में बदला लेने की कल्पना तक नहीं आई। कुछ थोड़ी-सी जगह जनता द्वारा हिंसक कार्य भी हुए हैं; लेकिन वहां के कार्यकर्त्ताओं और नेताओं को अपने उत्तर-दायित्व का ज्ञान था और यह हिंसाकाण्ड किसी पूर्वनियोजित कार्य-क्रम के अनुसार नहीं हुआ था। अत्यन्त प्रक्षोभ एवं सरकार के अत्यन्त रोषोत्पादक कृत्यों के कारण कहीं-कहीं भीड़ द्वारा हिंसात्मक कार्य हो गये। लेकिन प्रत्येक समय नेताओं ने उसकी निन्दा की और जल्दी ही स्थिति को क़ाबू में करने और उस घटना की पुनरावृत्ति न होने देने के लिए ज्यादा-से-ज्यादा सतर्कता दिखाई। अधिकारियों के लिए इसे एक हव्वा बनाकर सारे आन्दोलन को तहसनहस करने का एक बहाना ढूंढ निकालना आसान है। या जो केवल अहिंसा की दुहाई

देते हैं उनके लिए यह कारण पेश करने जैसा है कि सामुदायिक सत्याग्रह शुद्ध स्वरूप में नहीं किया जा सकता। लेकिन जनता के द्वारा होने वाले हिंसाकाण्डों की उपेक्षा करना या उनको ज्यादा महत्त्व देना सत्याग्रह का उद्देश्य नहीं है। सत्याग्रही तो तुरन्त हिंसा के कारणों का निरीक्षण करके उन्हें दूर करने का और लोगों को अहिंसा की शिक्षा देने का प्रयत्न करेगा। सन् १६१६ और सन् १६२२ में कुछ गम्भीर हिंसाकाण्ड हो जाने पर गांधीजी ने आन्दोलन को स्थगित कर दिया। लेकिन इसके साथ ही उन्होंने जोर देकर यह भी कहा कि इस हिंसा के लिए सत्याग्रह उत्तरदायी नहीं है। उल्टे सत्याग्रह से जनता की हिंसाभावना पर पाबन्दी लगाने में सहायता मिलती है। यदि देश में सत्याग्रह का वातावरण न होता तो ख़ास तौर पर और न जाने कितनी हिंसा होती। गांधीजी इस बात को पहिले से ही अच्छी तरह जानते हैं कि हिंसा पूर्णतः अहितकर है। अतः चाहे वह अपने पक्ष वालों की ओर से हो चाहे विपक्षियों की ओर से हो हमें उसपर नियन्त्रण रखना ही चाहिये। वे बारबार शारीरिक सामर्थ्य की अपेक्षा नैतिक सामर्थ्य, हिंसा के बजाय समझदारी, द्वेष और क्रोध के बजाय प्रेम, रणक्षेत्र के बजाय चर्चा और तलवार के बजाय कलम व वाणी का प्रयोग करने की सलाह देते हैं। गांधीजी कहते हैं—"मेरा प्रतिदिन का अनुभव है कि सच्चे आत्मक्लेश से पाषाण का हृदय भी पसीज जाता है।" एक दूसरी जगह प्रकट किये हुए उनके उद्‌गार से उनकी यह श्रद्धा व्यक्त होती है। वे कहते हैं—"मेरी यह श्रद्धा कभी भी डिग नहीं सकती कि सत्य के लिए जो कष्टसहन किया जाता है वह किसी भी दूसरी बात की अपेक्षा सत्य की प्रस्थापना में ज्यादा सहायता करता है।" सन् १६३१ में गोलमेज परिषद् में भाषण देते हुए उन्होंने कहा—"जब आपका हृदय हिन्दुस्तान के कष्ट को देखकर द्रवित होगा तभी मानसिक दृष्टि से समझौते के योग्य समय आवेगा।"

शान्तिपूर्ण साधनों में सत्याग्रह सबसे अन्तिम किन्तु उतना ही

शक्तिशाली साधन है। सारे वैध आन्दोलन जैसे उपाय कर लेने के बाद ही सत्याग्रह अंगीकार किया जाता है। उसका स्थान हिंसापूर्ण प्रत्यक्ष प्रतिकार के बराबर ही है। नेताओं को प्रतिकार के और संग्राम के मार्ग का अवलम्बन करना हो तो आमतौर पर जिस समय शस्त्र-प्रहार करना हो उसी अवस्था में सत्याग्रह करने का अवसर उपस्थित होता है। असंतोष, संताप की तीव्रता, निराशा का परिणाम और अन्तिम उपाय करने की अनिवार्यता ये सब बातें, सत्याग्रह और हिंसा-मार्ग दोनों में एक जैसी होती हैं। गांधीजी का दावा है कि उन्होंने जनता के पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए क्रोध का झुकाव शत्रु की ओर से हटाकर उसका व्यक्तीकरण ऐसे कृत्यों के द्वारा किया जिससे स्वतः हमको कष्ट सहना पड़ता है। इस नये शस्त्र का प्रयोग करने पर दक्षिण अफ्रीका में जब उनपर दोषारोपण किया गया और आलोचनाएँ की गईं तब उन्होंने अपना समर्थन निम्नलिखित शब्दों में किया—"यदि अपने प्रति होने वाले अन्याय के प्रतिकार के साधन के रूप में किसी भी अवसर पर स्थानिक लोग इसका अवलम्बन करें तो उसके लिए उनका ऋणी होना चाहिए। क्योंकि उसका यह अर्थ होगा कि बन्दूक और असेगाय (एक आयुध) का स्थान शान्तिपूर्ण साधन ने ले लिया है।······लड़ाई का समय आते ही कत्ल, असेगाय तथा गोले-बारूद आदि पुराने साधनों के बजाय यदि स्थानिक लोग निःशस्त्र प्रतिकार की नीति अपना लें तो उससे इस उपनिवेश की स्थिति में एक बड़ा परि-वर्तन हो सकेगा।" रौलट एक्ट सम्बन्धी आन्दोलन के दिनों गांधीजी को लगा कि यदि कोई निर्णायक सूचनाएँ नहीं दी गईं तो यह आन्दो-लन हिंसक प्रवृत्तियों में परिणत हो जायगा। २०-३-१९१९ को उन्होंने कहा—"हम उस (क्रान्तिकारी) दल को हिंसा के आत्म-घाती रास्ते से हटा लेने की आशा रखते हैं।" हंटर कमेटी को सम्बो-धित करके उन्होंने (यंग इंडिया ९-११-१९) कहा—"इस आन्दोलन का उद्देश्य है हिंसक साधनों के बजाय अहिंसक साधनों का उपयोग।

और वह पूरी तरह सत्य पर आधारित है।" कानून की ओट में जनता का दमन करने के लिए बेलगाम हो जाने वाली सरकार के विरुद्ध काम में लाये जाने वाले उपायों की चर्चा करते हुए गांधीजी कहते हैं— (यंग इंडिया १७-११-१९२१) कि ऐसे मौकों पर "सविनय अवज्ञा एक पवित्र कर्तव्य हो जाता है। उसका एक दूसरा उपाय भी अवश्य है और वह है सशस्त्र विद्रोह। सविनय प्रतिकार एक पूर्णतः प्रभावी एवं रक्तहीन प्रत्युपाय है।" उसी समय से वे यह प्रतिपादन करते आ रहे हैं कि वह सशस्त्र विद्रोह का एक अचूक पर्याय है। और उसकी मूल कल्पना यही है। (हरिजन १५-४-३३) अभी-अभी (१५-७-४२) कांग्रेस रिस्पान्सिबिलिटी नामक पुस्तिका का उत्तर देते हुए गांधीजी ने कहा है—"दक्षिण अफ्रीका के पहिले आठ वर्ष मिलाकर विगत ३८ वर्षों के सारे अनुभव से मुझे जबरदस्त आशा है कि अहिंसा के अंगीकार में ही हिन्दुस्तान का और संसार का भविष्य समाया हुआ हैं। मनुष्य जाति में पददलित लोगों पर राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्रों में होने वाले अत्याचारों का मुकाबला करने का वह अत्यन्त निर्दोष किन्तु साथ ही उतना ही रामबाण उपाय हैं।"

यदि गांधीजी का नेतृत्व और मार्गदर्शन प्राप्त न होता तो हिन्दुस्तान में पूरी जाग्रति हो जाने के कारण सचमुच ही विदेशी शासकों के विरुद्ध नित्य का साधन होने के कारण सशस्त्र बगावत का प्रयोग निश्चित रूप से किया गया होता। वह मार्ग जंगली और रक्तरंजित ही हो सकता था। और उसके लिए अपार जनबल और पैसा खर्च करना पड़ता। यद्यपि वह मार्ग मुसीबतों से भरा हुआ होता तथापि हमें लाजमी तौर से उसे ग्रहण करना पड़ता। क्योंकि जो देश अत्यन्त तेजस्वी इतिहास-परम्परा देता है और जो इतना विस्तृत शौर्यशाली है वह गुलामी तथा घृणापूर्ण एवं निर्लज्ज शोषण असीम समय तक कैसे सहन करता? निश्चित है कि ऐसा देश जागकर अपनी स्वतन्त्रता-

प्राप्ति के लिए बाजी लगाता और ठीक ऐसी ही अनुकूल, मानसिक स्थिति में गांधीजी ने इस अद्वितीय सत्याग्रह शस्त्र को देश के सामने रखा। लेकिन हुकूमत ने इस सात्त्विक मार्ग को भी वक्रदृष्टि से देखा। गुलामों के किसी भी आन्दोलन को—फिर चाहे वह शैतानी हो या उज्ज्वल कोई भी असली जुल्मी शासक कैसे सहन करता? सन् १९३१ की गोलमेज परिषद् में भाषण देते हुए गांधीजी ने कहा—इस समय राजनीति में पदार्पण करके कांग्रेस ने सविनय प्रतिकार की ऐसी पद्धति ढूँढ़ निकाली है जो आज तक इतिहास में दिखाई नहीं देती। अभी तक कांग्रेस उसीका अवलम्बन करती चली आ रही है लेकिन आज फिर वही चट्टान मेरे सामने आ खड़ी हुई है और मुझसे यह कहा जाता है कि संसार की कोई भी सरकार इस तरीके को सहन नहीं कर सकती। सरकार के लिए उसे सहना संभव भी नहीं है; क्योंकि आज तक किसी भी सरकार ने खुले विद्रोह को सहन नहीं किया है।" लेकिन उतने ही आत्म-विश्वास के साथ उन्होंने आगे कहा—"शायद सरकार सविनय अवज्ञा आन्दोलन को सहन न करेगी लेकिन उसे अवश्य ही इस अहिंसक शक्ति के सामने झुकना पड़ेगा। ब्रिटिश सरकार को इसके पहिले भी झुकना पड़ा था। और (दक्षिण अफ्रीका की) महान् डच सरकार को भी आठ वर्ष की अग्निपरीक्षा के बाद घटनाओं के अटल परिणामों के सामने सिर झुकाना पड़ा है। जनरल स्मट्स एक वीर सेनापति और महान् राजनीतिज्ञ होने के साथ-साथ एक बहुत बड़े शासक भी हैं। लेकिन उनको भी केवल अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए लड़ने वाले निरपराध स्त्री-पुरुषों को गतप्राण करने की कल्पना से ही रोमांच होने लगा। सन् १९०८ में उन्होंने जिस बात को कभी भी स्वीकार न करने की प्रतिज्ञा की थी उसी बात को उन्हें सन् १९१४ में जनरल बोथा की मदद होने पर भी निःशस्त्र सविनय प्रतिकारियों की पूरी-पूरी आजमायश कर लेने के बाद स्वीकार करनी पड़ी। हिन्दुस्तान में लार्ड चेम्सफोर्ड को भी यही करना पड़ा

और बोरसद तथा बारडोली के मामले में बम्बई के गवर्नर को भी यही अनुभव हुआ।

इस प्रकार अब सामूहिक सत्याग्रह न तो कोई नई बात रह गया है न यह शस्त्र लोगों के लिए अज्ञात ही रहा है। अब वह किसी नये समुद्र में जहाज डालने जैसी बात नहीं रही। सन् १६१६ में ही (यंग इंडिया ४-११-१६१६) गांधीजी ने कहा है कि—"मेरे विचार से अब सत्याग्रह का सौंदर्य एवं प्रभाव इतना विशाल है और उसकी तत्त्वप्रणाली इतनी सरल है कि वह साधारण बालक को भी समझाया जा सकता है। साधारणतः (दक्षिण अफ्रीका में) हजारों हिन्दुस्तानी गिरमिटिया स्त्री-पुरुषों और बालकों को मैंने उसे सिखाया है और वह प्रयोग सफल हुआ है।"

सन् १६२० में (यंग इंडिया १०-३-२०) उन्होंने लिखा है—"चाहे किसीने सत्याग्रह की प्रतिज्ञा ली हो या न ली हो लेकिन इतना तो निश्चित है कि सत्याग्रह की कल्पना ने जनता के हृदय में जड़ पकड़ ली है।" कम-से-कम विगत ५० वर्षों में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सत्याग्रह का जो जागरूकता के साथ शास्त्रशुद्ध और सफल अवलम्बन किया उससे गांधीजी का यह विचार दृढ़ हो गया कि उसके द्वारा जनता में अनुशासन लाया जा सकता है। जनता सत्याग्रह शस्त्र को बखूबी चला सकेगी। गांधीजी ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि "साधारणतः लड़ने वाली सेनाएँ संगठित युद्ध में जिस तरह का अनुशासन रखती हैं उसकी उचित शिक्षा दी गई तो अहिंसक लड़ाई के समय उसका पालन नहीं होगा। यह मानने का कोई कारण नहीं।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि जनता ने जितनी अहिंसा आत्मसात की है उससे गांधीजी को पूरा समाधान नहीं है। लेकिन इसका मतलब इतना ही है कि अब भी जनता के लिए प्रगति की और भी गुंजाइश बाकी है और जनता को इस दिशा में शिक्षा देना आवश्यक है। सामूहिक सत्याग्रह की व्यवहार्यता, उपयुक्तता और कार्यक्षमता के बारे

में अब कोई सन्देह नहीं रहा है। केवल स्थानीय शिकायतों को ही दूर करवाने के लिए नहीं बल्कि समूचे राष्ट्र को गुलामी और अधःपतन से मुक्त कराने के लिए भी उसका उपयोग किया जा सकता है। यदि सशस्त्र विद्रोह का अवलम्बन न किया जाय तो केवल सामूहिक सत्याग्रह ही ऐसा शस्त्र है जिसे हम काम में ला सकते हैं।

: ११ :

संगठन एवं शिक्षण

जीवनपथ की दृष्टि से सत्याग्रह एक स्वतन्त्र तत्त्वप्रणाली है। सत्याग्रह का कठोर आचारधर्म भी है जो आत्मसंयम और निस्वार्थ प्रेममय सेवा पर आधारित है। सत्य और अहिंसा या प्रेम सत्याग्रही के लिए मार्गदर्शक तारे हैं। अपनी शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक शक्ति को पवित्र बनाने के लिए सत्याग्रह प्रयत्न करता रहता है। आत्मसंयम के द्वारा वह उस शक्ति का संग्रह करता है। सत्य में चित्त एकाग्र करके सबको सुख और शान्ति प्राप्त कराने के लिए प्रेममय सेवा के द्वारा वह पूर्वोक्त सब शक्तियों का प्रयोग करता है। यह सत्याग्रही की साधना है। इस प्रकार सदैव शिक्षण प्राप्त करते-करते ही वह तैयारी भी करता रहता है। सत्याग्रही से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अनुशासनबद्ध रहेगा और किसी भी कठिन प्रसंग के लिए हमेशा तैयार रहेगा।

सेना, उसका शिक्षण, गोला-बारूद, तथा अन्य साधन-सामग्री के बिना लड़ना पागलपन है। यदि सेना को कवायद नहीं सिखाई गई, उसे शस्त्रास्त्र नहीं दिये गये और उसे युद्धकला की शिक्षा नहीं दी गई तो तो वह किसी काम नहीं आसकती। इसी प्रकार प्राणार्पण करने को तैयार रहने वाले लोगों को साथ लिये बिना सत्याग्रह की लड़ाई शुरू करना

भी उतना ही पागलपन होगा। यद्यपि सत्याग्रह का शिक्षण दिये बिना, अथवा संगठन किये बिना ही यह सोचना कि जनता से बड़े-बड़े काम कराये जा सकेंगे, महज़ मूर्खता है। तथापि सत्याग्रह में एक बहुत बड़ी विशेषता है। उसमें केवल संख्याबल के लिए रुके रहने की जरूरत नहीं है। यदि अपना पक्ष न्यायसंगत हो और प्रतिकार के साधन शुद्ध हों तो एक अकेला व्यक्ति भी सत्याग्रह की लड़ाई को शुरू करके चालू रख सकता है। दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि उसे किसी भी जड़ साधन सामग्री की जरूरत नहीं पड़ती। जो कुछ भी तैयारी करनी पड़ती है वह सारी नैतिक और मानसिक ही होती है।

हम जैसे-जैसे सत्याग्रह की शक्ति बढ़ाते जाते हैं वैसे-वैसे उसके लिए विशेष तैयारी की आवश्यकता भी कम होती जाती है। तैयारी के दिनों में लड़ाई का मौका आ जाने पर स्वभावतः ही लड़ाई के एकमात्र मार्ग के रूप में सत्याग्रह का अवलम्बन किया जाता है। सत्याग्रह में साध्य और साधन का अबाधित सम्बन्ध होता है। सत्याग्रही को समय आने पर कष्ट और यातना सहने की तैयारी रखकर भी अपने मार्ग पर डटे रहने के अलावा और कुछ नहीं करना पड़ता। कष्ट व यातना भोगने के लिए तो वह हमेशा ही खुशी-खुशी तैयार रहता है। हिंसक मार्ग का अवलम्बन करने वाले के लिए अलबत्ता विशेष तैयारी की आवश्यकता होती है। क्योंकि उसमें साध्य-साधन सम्बन्ध बिलकुल असंगत रहता है। दूसरे के अन्याय को मिटाने का प्रयत्न करते हुए उसे अपना अन्याय भी चालू रखना पड़ता है। स्वयं कष्ट से बचने का प्रयत्न करते हुए उसे दूसरों के ऊपर भी कष्ट लादना पड़ता है। लेकिन सत्याग्रही जिन साधनों का उपयोग करता है वे ही निश्चित रूप से उसके साध्य भी होते हैं। उनके सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का ज्ञात या अज्ञात आन्तरिक झगड़ा नहीं होता जैसा कि गांधी-जी ने एक जगह कहा है—सत्याग्रह एक प्रकार की सेन्द्रिय या सजीव वृद्धि ही है और वह एक द्रव्य है।

किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए अपनी शक्ति को अनुशासन में बांधकर खड़ा करना ही संगठन है। कुशल संगठनकर्त्ता नवीन शक्ति का भी निर्माण करता है और जो शक्ति उसके पास पहिले से रहती है उसका उपयोग वह आशा से अधिक बड़े-बड़े कामों के लिए कर लेता है। लेकिन प्रत्येक संगठनकर्त्ता को अपने प्रस्तुत साधनों की शक्ति का अचूक अन्दाज़ करके उसका उपयोग हाथ खींचकर और आवश्यकतानुसार करना चाहिए। जहां एक से काम हो जाता हो वहां उसे दो का उपयोग नहीं करना चाहिए। और जहां कम तैयारी वाले सत्याग्रहियों के हाथ से काम चल जाय वहां काफी तैयारी वाले सत्याग्रही न भेजने चाहिएँ।

यद्यपि मानवी जीवन और व्यवहार में अन्तःप्रेरणा और स्फूर्ति का काफी ऊंचा स्थान है तथापि किसी भी ध्येय की सिद्धि के लिए संगठन और अनुशासन की भी उतनी ही आवश्यकता है। सभी प्रकार के काव्य और कलाओं का निर्माण स्फूर्ति से ही होता है लेकिन उनकी परिपूर्णता और प्रभाव सोद्देश्य प्रयत्न और अनुशासन पर ही अवलम्बित रहते हैं। महत्वपूर्ण निर्णय करने के पहिले गांधीजी बहुत बार अन्तःस्फूर्ति और अन्तर्नाद की राह देखते थे। लेकिन साथ-साथ अपने जीवन को बड़ी कड़ाई और दक्षता से संगठित करने एवं अनुशासित करने के लिए भी काफी सावधानी रखते थे। वे अपने जीवन के प्रत्येक क्षण को मूल्यवान मानते हैं और घड़ी के कांटे की तरह प्रत्येक बात को नियमित करते हैं। यह कहना बिलकुल सत्य है कि उन्हें ठीक समय पर स्फूर्ति प्राप्त होती है और वह उनको कभी धोखा नहीं देती। फिर प्रत्यक्ष अनुभूति संगठन और अनुशासन का तिरस्कार नहीं करती। यदि संगठन और अनुशासन यन्त्रवत् एवं निर्जीव हैं तो ठीक समय पर अनुपयोगी तथा परिस्थिति के अनुकूल न पड़ने वाले सिद्ध होंगे। ऐसी स्थिति में अलबत्ता स्फूर्ति उसका उपहास करेगी। एक अर्थ में स्फूर्ति भी संगठनकुशल ही होती है। लुईफिशर के (One week

with Gandhiji) पूछने पर कि 'भारत छोड़ो' लड़ाई के समय यदि कांग्रेस ने गांधीजी का अनुसरण नहीं किया तो वे क्या करेंगे, गांधीजी ने जो उत्तर दिया वह ध्यान देने योग्य है। वे बोले—स्फूर्ति से प्रेरित मनुष्य स्वयं ही संगठनकर्त्ता बन जाता है।

सत्याग्रह के सम्बन्ध में यदि गांधीजी ने कोई सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है तो वह है संगठन। उन्होंने उसे एक व्यवस्थित शास्त्र का रूप दिया है और जहां तक कम-से-कम सत्याग्रह के कुछ महत्त्वपूर्ण अङ्गों-पहलुओं से सम्बन्ध है उसका तन्त्र उन्होंने बहुत अंश तक पूर्णता को पहुंचा दिया है। उन्होंने अपने प्रयोगों से सिद्ध कर दिया है कि सत्याग्रह अव्यावहारिक अग्निपरीक्षा नहीं है। सत्याग्रह संगठित किया जा सकता है। उसके लिए जनता को तैयार किया जा सकता है और प्रभावशाली शस्त्र के रूप में उसे चलाने के लिए लोगों को अनुशासन में लाया जा सकता है।

अनुशासित एवं विशुद्ध हृदय वाले कार्यकर्ताओं के दल का निर्माण सत्याग्रह के संगठन और पूर्व तैयारी की पहिली सीढ़ी कही जा सकता है। सत्याग्रह पर इन कार्यकर्त्ताओं का कम-से-कम कामचलाऊ विश्वास तो होना ही चाहिए। जब यह दिखाई देता है कि हम हिंसा का अवलम्बन करके आगे नहीं बढ़ सकते तब जो लोग हताश होकर प्रतिपक्षी की हिंसा के सामने सिर झुका देते हैं उन भीरु लोगों का सत्याग्रह में कभी उपयोग नहीं हो सकता। हिंसा के अलावा प्रतिकार का दूसरा उपाय भी है और वह लड़ाई का ज्यादा अच्छा तरीका है। उसके लिए पाशवी शक्ति अथवा दूसरे साधनों की आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार की निष्ठा और विश्वास वाले कार्यकर्त्ता सत्याग्रह के लिए होने चाहिएं। ऐसे लोगों की ही जरूरत है जो भीषण हिंसा देख कर भी ऐसा मानता है कि उसका मुकाबला अहिंसा से कर सकते हैं। यदि ऐसे लोगों के हाथ में लड़ाई का नेतृत्व न हुआ तो संभव है कि जनता अहिंसक लड़ाई छोड़कर हिंसा का मार्ग अपना ले। अतः

जो लोग सत्य और अहिंसा में एक सिद्धान्त के रूप में विश्वास रखते हैं उन्हीं का सदा नेतृत्व करना सर्वोत्तम है।

यहाँ अल्डुस हक्सले ने अहिंसक प्रतिकारकों के लिए आवश्यक शिक्षण और समाज में उनके कार्य के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उसे समझ लेना लाभदायक होगा। अपनी 'एन्डस् एन्ड मीन्स' पुस्तक में उसने कहा है कि व्यक्तिगत, आर्थिक, समूह समूह के तथा समूह और सरकार के पारस्परिक सम्वन्धों में अहिंसक व्यवहार वनाने के लिए निष्ठावान व्यक्तियों के संघ की ओर से विधिवत प्रयत्न होने चाहिएं। इस संघ की रचना इस प्रकार की जानी चाहिए कि किसी को सत्ता प्राप्त करने, जुल्म ढाने और शोषण करने का मोह ही न हो। केवल भय ही नहीं वल्कि व्यक्ति के क्रोध और द्वेष को नष्ट करने के लिए भी अधिक शिक्षण की आवश्यकता होगी। हिंसा का अवलम्बन न करते हुए और भय अथवा शिकायत को स्थान न देते हुए संघ के सदस्यों को हिंसा का प्रतिकार कर सकना चाहिए। उन्होंने आगे कहा है—"भावावेश में अत्याचार का प्रतिकार अहिंसा से करना फिर सरल है। लेकिन दूसरे मौकों पर वह वड़ा कठिन होता है। वह इतना [illegible] है कि जिन लोगों ने उसका नियमानुकूल शिक्षण प्राप्त किया है उनके अलावा दूसरों के लिए उसका पालन करना करीव-करीव असंभव ही है। उत्तम सैनिक तैयार करने में साधारणतः चार वर्ष लगते हैं। कितने ही कठिन समय में भी अपने सिद्धान्तों के अनुसार आचरण कर सकने वाले उत्तम अहिंसक प्रतिकारक को तैयार करने के लिए भी प्रायः उतना ही समय अवश्य लगेगा।

अपने संघ के कार्य के सम्वन्ध में वे आगे कहते हैं कि संघ को ऐसा स्वरूप देने का प्रयत्न करना चाहिए जो उच्च प्रकार के कार्य का आदर्श हो सके। जहाँ कहीं भी हिंसा का उद्भव हुआ हो वहाँ उसे निर्मूल करने के लिए तथा कौटुम्बिक अन्याय और अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध की तैयारी अथवा प्रारंभ आदि के अहिंसक प्रतिकार के लिए अपनी

शक्ति का उपयोग दिखाई दे तो उन्हें उसके लिए अग्रसर होना चाहिए।

इसी सिलसिले में अल्डुस हक्सले ने अपनी पुस्तक में जो नीचे लिखे हुए विचार व्यक्त किये हैं वे भी महत्त्वपूर्ण हैं—"पहिले की अपेक्षा आज सब कहीं पुलिस के व्यवहार में अनुपम कार्यशक्ति अचूकता एवं दूरदृष्टि दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त वे उन वैज्ञानिक हथियारों से लैस रहते हैं जो साधारण मनुष्यों को प्राप्त नहीं होते हैं। इस प्रकार की सशस्त्र एवं संगठित शक्ति के आगे साधारण मनुष्य की हिंसा और चतुरता असफल हो जाती है। आधुनिक पुलिस से लेस जुल्मी अधिकारियों से अपनी रक्षा करने के लिए सामूहिक असहयोग और सविनय अवज्ञा जैसे अहिंसक मार्ग ही हो सकते हैं। यदि राज्य के अधिकारियों के विरुद्ध उन्हें अपनी बड़ी संख्या का फायदा उठाना है, अथवा शस्त्रास्त्रों में प्रकट रूप से दिखाई देने वाली अपनी कमजोरी का अन्त करना है तो लाभदायक सिद्ध होने वाला यही एकमात्र रास्ता है। अतः जितनी जल्दी हो सके ज्यादा-से-ज्यादा स्थानों में अहिंसा के सिद्धान्त का प्रचार करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि अच्छे और व्यापक संगठन की भित्ति पर बने हुए अहिंसक साधनों के द्वारा ही जनता सरकार की गुलामी से मुक्त हो सकती है। आज कितने ही देशों में सरकार की गुलामी प्रत्यक्ष रूप से चालू है और युद्धों के भय एवं प्रगतिशील शिल्पकला विज्ञान के बल पर वह दूसरे देशों में भी प्रस्थापित होती हुई दिखाई दे रही है। आज की परिस्थिति में यह संभावना बढ़ रही है कि हिंसात्मक क्रान्ति का आन्दोलन जल्दी ही कुचल दिया जायगा जिन स्थानों के क्रान्तिकारी आधुनिक शस्त्रास्त्र से थोड़े-बहुत भी सुसज्जित होंगे वहाँ के आन्दोलन को स्पेन की ही भाँति एक लम्बे एवं भयंकर राक्षसी युद्ध का स्वरूप प्राप्त हो जाना संभव हो जाता है। ऐसे राक्षसी युद्धों में इष्ट परिवर्तन करने की तो बहुत कम सम्भावना रहती है। जैसा कि हम रात-दिन अनुभव करते

हैं हिंसा का परिणाम हिंसा ही होता है और ऐसे परिणामों के बाद देश की स्थिति पहिले से भी बुरी हो जायगी। ऐसी स्थिति में यदि जनता के उद्धार की कुछ आशा है तो केवल अहिंसा के द्वारा ही। लेकिन शक्तिशाली एवं बहुत बड़ी संख्या वाली पुलिस के आक्रमण का अथवा आक्रमणकारी विदेशी सैनिकों का प्रतिकार करने के लिए अहिंसक आन्दोलन अच्छी तरह संगठित करना चाहिए और उनका काफी प्रसार करना चाहिए। मानवता का अधःपतन आज के युग की विशेषता है अतः आज की सरकार के व्यवहार की अपेक्षा और भी अधिक भयंकर एवं निष्ठुरतापूर्ण व्यवहार अहिंसक प्रतिकार के विरुद्ध किये जाने की संभावना है। इस प्रकार की निष्ठुरता का मुकाबला करने के लिए बहुसंख्य एवं अत्यन्त निष्ठावान लोगों की ही आवश्यकता है। जब ऐसे लोगों का मुकाबला करने का मौका आता है जो असहयोग के साथ ही हिंसा का अवलम्बन न करने का निश्चय कर लेते हैं तो निर्दय-से-निर्दय हुकूमत भी घबरा जाती है। इसके अलावा निर्दय-से-निर्दय हुकूमत को भी जनमत के समर्थन की आवश्यकता रहती है। अतः जो सरकार अहिंसा का व्यवस्थित रूप से पालन करने वाले लोगों को जेल में डाल देती है या कत्ल कर देती है वह जनमत प्राप्त करने की आशा कभी भी नहीं रख सकती। जब एक बार नृशंसता प्रारम्भ हो जाती है तो जुल्म अथवा युद्ध का अहिंसक प्रतिकार करने के लिए संगठन करना बड़ा कठिन हो जाता है। जिन देशों में आज भी व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और संगठन-स्वातन्त्र्य है और किन्हीं अंशों में भी लोगों के जीवन पर सरकारी नियन्त्रण कम है वे ही संसार के लिए आशा के केन्द्र बने हुए हैं।"

जनता में रचनात्मक कार्य, जिसमें पंद्रह सूत्री कार्यक्रम निहित है, करना ही सत्याग्रह की सबसे अच्छी तैयारी है। यदि सत्य और अहिंसा में विश्वास रखने वाले चरित्रवान कार्यकर्त्ता जनता में मिलजुलकर उसकी निरलस सेवा करें तो वे निश्चित रूप से जनता को निष्ठावान

एवं निर्भय बना सकते हैं। ६-१-३० के यंग इंडिया में गांधीजी कहते हैं—"अखण्ड रूप से किये जाने वाले कार्यक्रमों से प्राप्त विश्वास आनबान के मौके पर बड़ा उपयोगी सिद्ध होता है। हिंसात्मक युद्धशास्त्र में जो महत्त्व सेना की कवायद का है अहिंसक सेना के लिए वही महत्त्व रचनात्मक कार्यक्रम का है। अतः जितना अधिक रचनात्मक कार्य का विकास होगा उतनी ही अधिक सविनय अवज्ञा आन्दोलन के सफल होने की सम्भावना बढ़ेगी।" फौज के सैनिकों और रचनात्मक कार्य करने वाले कार्यकर्ता की तुलना करते हुए गांधीजी (हरिजन २६-१०-३३) कहते हैं—"सैनिक को मारने की शिक्षा दी जाती है। मारने को भी एक कला का रूप प्राप्त हो गया है। सत्याग्रही तो यही इच्छा करता है कि उसे सदा चुपचाप सेवा करने का मौका मिले। उसका सारा समय प्रेममय सेवा में व्यतीत होता है। उसे तो दूसरों को मारने की कल्पना भी नहीं आती। उल्टे वह तो दूसरों के लिए स्वयं बलिदान हो जाने के स्वप्न देखा करता है।" जिसे सत्य और अहिंसा की साधना तो करना है लेकिन रचनात्मक कार्य पसन्द नहीं आता उसकी स्थिति उस व्यक्ति की तरह है जिसे युद्ध क्षेत्र में जाने की आकांक्षा तो है लेकिन जिसको हाथ में बन्दूक लेने से घृणा है। जिन्हें रचनात्मक कार्यक्रम अरुचिकर या जी उबाने वाला मालूम होता है वे अभी सत्याग्रह के योग्य नहीं हैं अथवा निस्वार्थ त्याग और सेवा से जिस मूक शक्ति का निर्माण होता है उसके सौन्दर्य को उन्होंने पहिचाना नहीं है।

रचनात्मक कार्यक्रम के द्वारा अनेक बातें सिद्ध होती हैं। उससे सम्पूर्ण राष्ट्र में नवीन चैतन्य का निर्माण हो सकता है। लेकिन यहाँ इतनी गहराई में जाने की आवश्यकता नहीं है। सत्याग्रह की दृष्टि से रचनात्मक कार्य के लाभ दिखा देना ही काफी होगा। सत्य और अहिंसा पर विश्वास रखनेवाले एवं किसी-न-किसी क्षेत्र में रचनात्मक कार्य करनेवाले सार्वजनिक कार्यकर्ताओं की सेवा सारी जाति का स्वरूप

बदल कर उसमें आत्म-विश्वास स्वाभिमान एवं साहस का संचार कर देगी। समूह की प्रत्यक्ष आवश्यकता को ही ध्यान में रखकर विधायक प्रवृत्ति की योजना करनी चाहिए इससे वे वहाँ के लोगों को उच्च जीवन का लाभ प्राप्त कराएंगे। वे वहाँ की जनता की सतत निरलस भावना से सेवा करते रहेंगे। लेकिन उस सेवा का मार्ग ऐसा होगा कि जिससे लोग स्वतन्त्र एवं स्वावलम्बी होते जाँयगे। वहाँ के लोगों से उनका सम्बन्ध न तो यन्त्रवत होगा न व्यापारी जैसा। बल्कि प्रेममय सेवा के सूत्र में बँधकर वह उदात्त एवं आत्मिक हो जायगा। उनके सम्बन्ध के द्वारा लोगों में आत्मविश्वास पैदा होगा और सत्याग्रही कार्यकर्ताओं में उनकी निष्ठा बढ़ती जायगी। मानव-जाति की सेवा में अपना जीवन खपाने वाले निर्भय एवं सच्चरित्र कार्यकर्ताओं का आदर्श हमेशा जनता के सामने रहेगा। यदि रचनात्मक कार्य संगठित रीति से चालू रहा तो जब सत्याग्रह के लिए लोगों के संगठन का प्रश्न खड़ा होगा तब हमें ऐसा मालूम होगा कि हमारा बहुत-सा काम तो पहले ही हो चुका है। रचनात्मक कार्य के द्वारा जिस तरह जनता के रहन-सहन का मान और दर्जा ऊँचा होगा उसी तरह कार्य का मार्ग पद्धति तथा उसके पीछे छिपे हुए पवित्र उद्देश्य के द्वारा जनता में पारस्परिक सहयोग, एक्य भाव, सत्य, प्रेम तथा अन्याय से घृणा रखने के बीज भी बोए जांयगे। जनता के इस संगठन एवं उससे मिले शिक्षण के बदौलत सत्याग्रह के तरीके से लड़ी जाने वाली किसी भी लड़ाई के लिए जनता की काफी तैयारी हो सकेगी। अथवा यदि गुलाम देशों की भाँति शुरू से ही लड़ाई लड़नी पड़ी तो इस कार्य के द्वारा लोगों को अपनी दीनता का अनुभव बड़ी तीव्रता से होगा और उनमें प्रतिकार की इच्छा एवं गुलामी दूर करने की उत्कण्ठा बढ़ती जायगी। रचनात्मक कार्य के स्वरूप एवं प्रत्यक्ष रचनात्मक प्रवृत्ति में अन्तर हो सकता है लेकिन उसे व्यवहार में लाने के मार्ग और तरीके में, उसके मूल में स्थित निःस्वार्थ सेवा के असली उद्देश्य में और सत्य व अहिंसा के

अटल विश्वास में थोड़ा-सा भी अन्तर नहीं होना चाहिए। वही सत्याग्रह की इमारत का सच्चा मजबूत पाया है।

जिस क्षेत्र में करबन्दी अथवा सविनय कानून भङ्ग जैसे तीव्र सत्याग्रह करने होते हैं वहाँ रचनात्मक कार्य पर गांधीजी इतना ज़ोर क्यों देते हैं यह बात उपर्युक्त विवेचन से स्पष्टतः समझ में आ जायगी।

सन् १९२२ के बारडोली के करबन्दी आन्दोलन का उदाहरण लें। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने ४-११-२१ को प्रान्त में व्यक्तिगत या सामूहिक अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने के सम्बन्ध में कुछ शर्तें लगा दी थीं। उनमें इस बात पर ज़ोर दिया गया था कि व्यक्तिगत सत्याग्रह के लिए सत्याग्रही को सूत कातना जानना चाहिए। व्यक्तिगत आचरण पर लागू होने जैसा सारा कार्य-क्रम व्यवहार में लाना चाहिए, सारी जातियों की एकता में उसका विश्वास होना चाहिए। उसे इस बात का कायल होना चाहिए कि अहिंसा इस लड़ाई का आवश्यक सिद्धान्त है और यदि वह हिन्दू है तो उसे अपने आचरण से यह दिखा देना चाहिए कि अस्पृश्यता राष्ट्र के लिए कलंक है। जहाँ तक सामूहिक अवज्ञा आन्दोलन का सम्बन्ध है उस क्षेत्र की अधिकांश जनता को स्वदेशी अपना लेना चाहिए और असहयोग के दूसरे सब प्रकारों पर विश्वास रखकर उनपर अमल करना चाहिए और उन्हें व्यवहार में लाना चाहिए। उसमें आगे इस बात का भी उल्लेख किया गया है कि सत्यग्रही को या उसके कुटुम्बियों को अपने निर्वाह के लिए कांग्रेस के पैसे पर अवलम्बित न रहना चाहिए। आइये, इन शर्तों की आवश्यकता पर ध्यान देकर हम यह देखें कि बारडोली तालुके की तैयारी कितनी हो गई थी। ६५ में से ५१ स्कूल राष्ट्रीय बन गये थे। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य पराकाष्ठा को पहुँच गया था, अस्पृश्यता समूल तो नष्ट नहीं हुई थी पर उस मार्ग पर थी। खादी का प्रचार बड़ी तेजी से हो रहा था। गांधीजी लिखते हैं—(यङ्ग इण्डिया २-१-२२) "बारडोली ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निर्णय किया है। उसने ऐसा मार्ग अप-

नाया है जिसमें पीछे क़दम लौटाने की गुञ्जाइश नहीं है।······शर्तों के सम्बन्ध में मैंने सभा के प्रत्येक व्यक्ति की मनोभावना स्वतन्त्र रूप से समझ ली है। सभा में ५०० स्त्रियां मिलाकर ४००० खद्दरधारी नेता उपस्थित थे। हिन्दू-मुसलमान-ईसाई-पारसी—एकता का अर्थ उनकी समझ में आ गया है। अहिंसा का महत्त्व और उसकी सत्यता उन्होंने अनुभव कर ली है। अस्पृश्यता-निवारण के पीछे की भूमिका भी उन्होंने समझ ली है। वे यह भी जानते हैं करबन्दी या सविनय कानून भङ्ग के अन्य प्रकारों का अवलम्बन वे मेरे बताये हुए मार्ग के अनुसार आत्मशुद्धि के बिना नहीं कर सकेंगे। वे समझ गये हैं कि उनको उद्यमी बनना चाहिए और खुद सूत कातकर अपने लायक खादी बुन लेनी चाहिए। अन्त में उन्हें जेल जाने की और मौका पड़ने पर मर जाने तक की तैयारी रखनी चाहिए और वह भी बिना ननुनच किये।

रचनात्मक कार्य में प्रगति हुए बिना गांधीजी ने बारडोली में करबन्दी की इजाजत नहीं दी होती। रचनात्मक कार्य और सत्याग्रह का पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार अविभाज्य है। यह बात दूसरी है कि संयुक्त प्रान्त के चौरी-चौरा नामक स्थान में हिंसाकाण्ड हो जाने पर उस समय बारडोली का सत्याग्रह शुरू नहीं किया जा सका।

अब जब कि बारडोली के सम्बन्ध में चर्चा हो रही है। आइये, हम यह भी देख लें कि सन् १९२८ में करबन्दी के रूप में वहाँ सत्याग्रह की तैयारी किस प्रकार की गई। यद्यपि सन् १९२२ में किया जाने वाला आन्दोलन स्थगित किया गया तो भी सन् १९२८ में उसी तालुके में सत्याग्रह करने का प्रसंग आ गया। गांधीजी की प्रेरणा से उन्हींके नेतृत्व में किये गये सत्याग्रहों में बारडोली का सत्याग्रह अत्यन्त सफल और आदर्श माना जाता है। यद्यपि सन् १९२२ में बारडोली सत्याग्रह प्रारंभ नहीं हुआ तथापि वहाँ जो रचनात्मक कार्य एक बार शुरू हुआ वह चालू ही रहा। लगभग एक लाख की जनसंख्या वाले तालुके में

रचनात्मक कार्य के लिए संगठन हो रहा था। वास्तविक और दृढ़ पाये पर खड़े किये गये विधायक कार्य का संगठन समुदाय के अहिंसक प्रत्यक्ष प्रतिकार के संगठन में भी काम आता है। उस ताल्लुके में सन् १९२१ से लगातार गांधी-मार्ग से रचनात्मक कार्यक्रम चलाने वाले चार केन्द्र आश्रम के रूप में काम कर रहे थे। उसी प्रकार वहाँ अनेक त्यागी कार्यकर्त्ता भी थे। जिस समय करबन्दी आन्दोलन शुरू करने का निश्चय हुआ उसी समय उसका सारा सूत्र-संचालन सरदार पटेल को सौंपा गया। उनकी संगठनशक्ति अनुपम है। उन्होंने और भी कई सुविधाजनक केन्द्रों में सुयोग्य नायकों के नेतृत्व में किसान जनता के स्वयंसेवक पथकों का संगठन किया। इन केन्द्रों और स्वयंसेवक दलों का जो जाल सारे प्रान्त भर में फैला हुआ था वह रक्त-वाहिनी नसों की तरह उपयोगी हुआ। इससे प्रत्येक गाँव के कोने-कुचरे में होने वाली घटना की भी अथ से इति तक सारी जानकारी प्रतिक्षण सरदार को मिल सकती थी। इसी प्रकार बुलेटिन की प्रणाली भी शुरू हो गई थी। एक समय ऐसा आया था कि ताल्लुके में बुलेटिन की दस हजार प्रतियां एवं ताल्लुके के बाहर चार हज़ार प्रतियां बाँटी जाती थीं। इससे प्रत्येक ग्राम को सारी ख़बर और सूचना मिल जाती थी। स्वयं सरदार प्रत्येक गांव और कैम्प का दौरा करके लोगों को बढ़ा हुआ लगान न देने की शपथ पालने के लिए स्फूर्ति और प्रोत्साहन देते थे और मार्ग-दर्शन करते थे। १२-२-२८ को बारडोली में जो विराट् परिषद् हुई उसमें सत्याग्रह आन्दोलन प्रारंभ करने का निर्णय किया गया। इसके बाद सरदार ने ग्रामों की अनेक सभाओं में भाषण दिये। सारे ताल्लुकों में वे ही अकेले भाषण देते। अनुशासन की दृष्टि से और किसीको भाषण नहीं देने दिया जाता था। जब गांधीजी उस ताल्लुके में गये तो उन्होंने भी इस अनुशासन का पालन किया। जब सरकार ने दमन-चक्र चलाया और कार्यकर्त्ता धड़ाधड़ गिरफ्तार होने लगे तब उनकी जगह तुरन्त दूसरे कार्यकर्त्ता रवाना करके सारे संगठन को अन्त तक

अखण्ड बनाये रखा। स्थानीय किसान स्वयंसेवकों ने आगे बढ़कर लोकगीतों और शूरवीरता एवं कष्ट की कहानियों के द्वारा लोगों के नैतिक धैर्य और अन्तिम विजय के विश्वास को टिकाये रखा। ताल्लुकों से सम्पर्क रखना, ताल्लुकों में और बाहर प्रचार करना, समय-समय पर सरकार द्वारा नियोजित उपायों के सम्बन्ध में आवश्यक सूचना देना, किसानों के नैतिक धैर्य को टिकाये रखना, पटेल पटवारियों से त्यागपत्र दिलवाना, सरकारी नीलाम पर धरना लगवाना, सरकारी नौकरों से असहयोग जारी रखना आदि काम मुख्यतः संगठन के द्वारा किये जाते थे। ये सारे काम सैनिक युद्ध की ही भाँति दिखाई देंगे। इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि सत्याग्रह आन्दोलन दांवपेच और योजना में जरा भी भूल न करते हुए सफलतापूर्वक चलाने के लिए सैनिक सेनापति की तरह चतुरता और प्रसंगावधान की आवश्यकता होती है।

आइये अब उसकी तैयारी पर दृष्टि डालें। सत्याग्रह की मुख्य तैयारी का अर्थ है लोगों के मन में सत्य और उसकी अन्तिम विजय र निष्ठा अंकित कर देना। वस्तुतः जिसका अस्तित्व है, जो कार्य ... है और जिसकी विजय होती है वही सत्य है। सत्याग्रह ...न से सम्बन्धित लोगों का यह विश्वास होना चाहिए कि उनकी धारणा के अनुसार सत्य उनके पक्ष में है। इतना होने पर ही उसके लिए सर्वस्व की बाजी लगाने की दृढ़ता और नैतिक धैर्य उनमें उत्पन्न होगा। इसके बाद की सीढ़ी है प्रेम और अहिंसा के द्वारा सत्य का अनुकरण। हमें जो लड़ाई लड़ना है वह अन्याय करने वाले से नहीं बल्कि अन्याय और असत्य से है क्योंकि अन्यायी व्यक्ति भिन्न दिखाई दें तो भी वे हैं हमारे ही स्वरूप। इसलिए सत्याग्रही दूसरों को कष्ट देने की कल्पना भी मन में नहीं लाता।

यदि रचनात्मक कार्य चालू रहे और सत्याग्रह के मूलतत्त्व जनता को सिखा दिये जायँ तो उसके बाद की तैयारी की सीढ़ी है आत्म-

शुद्धि। रचनात्मक कार्य के अनुसार ही आत्मशुद्धि का क्रम होना चाहिए। लोगों को अन्याय तथा मद्य-सेवन जैसी सारी बुरी निकाल देनी चाहिएं। उन्हें अपने आस-पास होने वाले अन्याय साथ खुद होकर असहयोग करना बन्द करना चाहिए। उसके लिए आवश्यक हो तो वे उपवास का भी अवलम्बन कर सकेंगे। भावी सत्याग्रही का सामर्थ्य जितना इससे बढ़ेगा उतना और किसी तरह नहीं। इसके बाद ही अपनी सारी शक्ति की बाजी लगाकर उन्हें अन्याय का प्रतिकार करने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए।

प्रतिदिन ली जाने वाली प्रतिज्ञा का स्वरूप इस प्रकार होगा—"मैं संसार में किसीसे भी नहीं डरूँगा। अकेले सत्य या ईश्वर से ही डरूँगा। किसीके लिए भी मन में दुर्भावनाएँ नहीं रखूँगा। मैं किसी भी अन्याय के सामने सिर नहीं झुकाऊँगा—फिर वह किसी भी स्वरूप में कहीं पर भी क्यों न हो। मैं असत्य को सत्य से जीत लूँगा। सत्य से असत्य को, प्रेम से द्वेष को और न्याय से अन्याय को जीतने का प्रयत्न करते हुए मुझे जो भी कष्ट उठाने पड़ेंगे मैं उन्हें खुशी के साथ दूसरों के प्रति सद्भावना रखकर सहन कर लूँगा।"

इस प्रतिज्ञा का कवच पहनकर और इस बात पर पूरा निश्चय करके कि मेरा पक्ष सत्य का पक्ष है सत्याग्रही किसी भी लड़ाई में पड़ सकेगा।

: १२ :

सत्याग्रह के लिए अनुशासन

सत्याग्रह के लिए हद दर्जे की तैयारी की जरूरत तो होती है लेकिन इससे दुगुनी जरूरत होती है कड़े अनुशासन की। अनुशासन भंग करने पर सत्याग्रह में किसी प्रकार का शारीरिक या हिंसक उपाय काम में नहीं लिया जाता। अतः कार्यकर्त्ता और जनता दोनों के लिए

अखण्ड

लोग १०२
ने

यह और भी अधिक आवश्यक हो जाता है कि वे खुद ही अनुशासन और वरिष्ठों के आज्ञापालन के महत्त्व को समझें। सत्याग्रह-संग्राम की एक और विशेषता यह है कि उसमें सबसे पहिले नेता को बलिदान देना पड़ता है। और यदि वे फांसी पर नहीं चढ़ाये गये तो कम-से-कम जेल तो भेज ही दिये जाते हैं। उनके बाद पीछे बचे हुए साधारण सैनिकों को लड़ाई चलानी पड़ती है। अतः जब नेता दूर कर दिया जाता है तब अनुशासन की आवश्यकता और भी बढ़ जाती है। कई दफा तो नया कार्यक्रम बनाकर उसे जिम्मेदारी के साथ पूरा करना पड़ता है। ऐसे समय एक ध्येय के प्रति निष्ठा रखने एवं अनुशासन पालन करने से ही सत्याग्रह के सैनिक एकत्र रह सकते हैं। सर्वसाधारण का मार्ग-दर्शन करते हुए सत्याग्रह के जो नियम गांधीजी ने बना दिये हैं वे सबके लिए निश्चित रूप से ठीक सिद्ध होंगे। (परिशिष्ट देखिये)

अनुशासन के महत्त्व और आवश्यकता पर गांधीजी ने जो विचार व्यक्त किये हैं वे मननीय हैं। वे कहते हैं—"त्याग, अनुशासन और आत्मसंयम के बिना उद्धार की कोई आशा नहीं है। बिना अनुशासन के कोरा त्याग उपयोगी नहीं हो सकता।" अहमदाबाद में विद्यार्थियों की एक परिषद् में भाषण देते हुए गांधीजी ने कहा—"हम जो पशुओं से अलग समझे जाते हैं उसका कारण है आत्मसंयम और अनुशासन।" खुद उनका जीवन अत्यन्त कड़े और कठोर अनुशासन का नमूना है। महान् व्यक्तियों के जीवन में भी इतना अनुशासन कम ही मिलेगा। चाहे वे बीमार हों चाहे स्वस्थ हों, चाहे जेल में हों चाहे बाहर, प्रातः-सायं की प्रार्थना, सूत-कताई और मौन कभी भी नहीं चूकते। रात को दो बजे सोने पर भी फिर वे ४ बजे प्रार्थना के लिए अवश्य उठेंगे और प्रतिदिन का निश्चित सूत काते बिना वे भोजन भी नहीं करते।

फिर भी अनुशासन की आवश्यकता है, केवल इतना ही कहने से काम नहीं चलेगा। अनुशासन की आवश्यकता है—यह बात तो

सिद्ध है। लेकिन यह कहना ज्यादा महत्वपूर्ण है कि सत्याग्रही को किस प्रकार का अनुशासन पालना चाहिए। इसी प्रकार हमें यह भी देख लेना चाहिए कि अहिंसा के और हिंसा के अनुशासन में क्या अन्तर है।

मूलतः अनुशासन का अर्थ है—आज्ञापालन या आज्ञा को व्यवहार में लाना। संगठन में अनुशासन ग्रहीत ही होता है। अनुशासन के विना किसी भी प्रकार का संगठन होना असंभव है। नेपोलियन ने बिलकुल ठीक ही कहा है कि युद्ध की सफलता का ७५% श्रेय अनुशासन को ही होता है। फॉक के मतानुसार अनुशासन ही सेना की मुख्य शक्ति होती है।

आत्मोन्नति के लिए स्वेच्छा से स्वीकृत अनुशासन, अनुशासन का ही एक प्रकार है। इस प्रकार का अनुशासन हमारे जीवन में व्याप्त हो, इसके लिए मनुष्य खुद ही ऐसी आदतें डाल लेता है जिससे चेतना अथवा सूचना मिलते ही वह एक विशेष प्रकार की क्रिया करे। इस प्रकार के अनुशासन से मनुष्य अपने जीवन को एक खास सांचे में ढालता है और अपनी शक्ति का नियमन करता है। आत्मसंयम एवं अपनी शक्ति का ज्यादा-से-ज्यादा उपयोग करने की दृष्टि से इस प्रकार के अनुशासन का बहुत महत्त्व है।

सैनिक अनुशासन करीब-करीब यान्त्रिक आज्ञापालन की आदत डालता है। उससे मनुष्य केवल कठपुतली बन जाते हैं। 'ऐसा क्यों हुआ ?' यह पूछना तुम्हारा काम नहीं है। तुम्हारा काम तो 'आज्ञा मानना और मरना ही है।' हुक्म मिलते ही गोली चलाने और लाशें बिछा देने की शिक्षा लाखों लोगों को दी जाती है। सेना में अनुशासन ही सबसे बड़ा गुण माना जाता है और अनुशासन भंग ही सबसे बड़ा जुर्म इस जुर्म में उसी वक्त गोली से उड़ा देने का दण्ड दे दिया जाता है।

हिंसक सैनिकों के लिए आवश्यक अनुशासन की अपेक्षा अहिंसक

सैनिकों के लिये आवश्यक अनुशासन सहज ही भिन्न प्रकार का होता है। एक को मारना पड़ता है, दूसरे को मरना पड़ता है। एक को द्वेष रखना पड़ता है, दूसरे को प्रेम करना पड़ता है। एक को क्रोध करना पड़ता है, दूसरे को शान्त रहना पड़ता है। एक को डराना पड़ता है, दूसरे को मृत्यु सामने देखकर भी निर्भयता से उसका मुकाबला करना पड़ता है। एक को दूसरों पर यातना लादनी पड़ती है और दूसरे को उसे खुदबखुद सहन करनी पड़ती है। इस प्रकार हिंसक सैनिक की शिक्षा का उद्देश्य अहिंसक सैनिकों की शिक्षा से एकदम भिन्न होता है। अतः उसकी शिक्षा भी भिन्न होती है। लेकिन दोनों मामलों में शिक्षा की पद्धति अलबत्ते मानवी मन और उसके सिद्धान्तों के निरीक्षण पर ही आधारित रहती है।

आयरिश कवि जार्ज रसेल और प्रसिद्ध सैनिक लेखक लिडिल हार्ट जैसे सहानुभूतिपूर्वक विचार करने वाले भी सत्याग्रह पर सबसे बड़ा आक्षेप यह करते हैं कि अहिंसक प्रतिकार में मानवी स्वभाव से बहुत बड़ी अपेक्षाएँ की जाती हैं। लेकिन जब अनुशासित हिंसक सेना भी पहिलेपहल रणाङ्गण में जाती है, अर्थात् साक्षात् काल के मुँह में खड़ी होती है, तब भी अक्सर निरीक्षकों ने इसी प्रकार का आक्षेप किया होगा। लेकिन आदत और शिक्षण के द्वारा मनुष्य की सुप्त शक्तियों को प्रकट रूप प्राप्त हो सकता है। अतः किसी भी समय यह कह देना जल्दबाजी है कि 'अमुक समय अमुक काम करना असम्भव है'। धारा-सभा में सत्याग्रहियों ने जो वीरता दिखाई उसे देखे बिना कोई उनकी सहनशक्ति की कल्पना कर सकता था? गुरु के बाग में शहीदों ने जो अपार धैर्य दिखाया क्या कोई उस सम्बन्ध में भविष्यवाणी कर सकता था? अतः भविष्य पर अटल विश्वास रखकर सेना के पहिले वीर की भाँति किसी भी क्षेत्र में पैर रखना सदैव ही बुद्धिमानी का काम है।

यहाँ इस विषय का और अधिक विस्तार करने की आवश्यकता

नहीं है। रिचर्ड ग्रेग ने अपनी 'पावर ऑफ नानवायलेन्स' और 'डिसिप्लीन फॉर नानवायलेन्स' नामक पुस्तकों में इसकी शास्त्रीय चर्चा की है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि यद्यपि सत्याग्रही के लिए अधिकांश में सैनिक अनुशासन का अभ्यास जरूरी है तथापि उसका वास्तविक आधार आन्तरिक अनुशासन पर ही रहना चाहिए। सबसे प्रेम करने, गुस्सा न आने देने और द्वेषभावना से दूर रहकर कष्ट सहने की आदत डालना कोई सीधा-सा काम नहीं है। चिन्तन, प्रार्थना और जीवन-मूल्यों की नई रचना के द्वारा ही मनुष्य ऐसे जीवन के नये दृष्टिकोण की नींव डाल सकेगा। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि नवीन संस्कृति के उदय में इससे मदद मिलेगी, अतः यह प्रयोग करने जैसा है।

रिचर्ड ग्रेग ने ठीक ही प्रतिपादित किया है कि आज्ञापालन स्वाभिमान, स्वावलम्बन, आत्मसंयम, स्वार्थत्याग, निग्रह, दूसरों से (विरोधियों से) ऐक्यभाव, सहनशीलता, अनुशासन, एवं सहयोग की भावना, उत्साह, धैर्य, शान्तवृत्ति और सन्तुलन और शस्त्रों के नैतिक पर्यायों के प्रयोग करने की आदत सैनिक-शिक्षा की ही भाँति अभ्यास और सबके द्वारा मिलकर ज्ञानपूर्वक किये गये शारीरिक श्रम से भी बढ़ाई जा सकती है। तथापि उसमें मुख्य अन्तर यह है कि सैनिक-शिक्षण में सैनिकों को बाह्य अधिकारियों की आज्ञा मानने की आदत डलवाई जाती है। तो सत्याग्रह के शिक्षण में यदि किसी की मुख्य आज्ञा पालना है तो वह अपनी सदसद्विवेकबुद्धि की ही।

अपनी 'पावर ऑफ नानवायलेन्स' के 'आन्तरिक अनुशासन' नामक अध्याय के अन्त में लेखक कहता है—"सत्य, प्रेम, आध्यात्मिक ऐक्य, समता, सभ्यता, सादगी, आत्मशुद्धि और परिवर्तन के साधन के रूप में कष्टसहन आदि तत्त्व ही आन्तरिक अनुशासन के उद्गम रहते हैं। इन तत्त्वों की सब जगह सब तरह साधना होनी चाहिए। इस कल्पना से आपका तादात्म्य हो जाना चाहिए। आपकी कल्पना-

शक्ति उसीमें रँग जानी चाहिए। नियमित रूप से और बार-बार उसका चिन्तन करना चाहिए। ऐसी पुस्तकें, व्यक्ति और परिस्थिति की खोज में रहना चाहिए जिनसे ये सिद्धान्त समझ में आएं और उनके अर्थ, आचरण व उपयुक्तता पर प्रकाश पड़े। उसके रहस्य को पूरी तरह समझने की दृष्टि से उसे निरन्तर आचरण में लाने का प्रयत्न करना चाहिए। इन सबके कारण बराबर होने वाली सौम्य चेतना का परिणाम, दृढ़ता और सहनशीलता की आवश्यकता हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए।......बुद्ध, ईसा, सेन्ट फ्रान्सिस, असीसी, जॉन फाक्स, जान वुलमन, गांधीजी तथा इस विचारधारा के अन्य महान् प्रवर्तकों के चरित्र ही इस अनुशासन के सर्वोत्तम वर्णन होंगे।"

अब संक्षेप में आदर्श सत्याग्रही सैनिक का वर्णन करके हम इस अध्याय को समाप्त करेंगे। इससे एक आदर्श सत्याग्रही के लिए जिस अनुशासन को तैयारी की जरूरत होती है उसकी ठीक-ठीक कल्पना हो जायगी।

आध्यात्मिक दृष्टि से उसे सत्य एवं ईश्वरी शक्ति पर विश्वास रखना चाहिए। इसी प्रकार उसे इस बात में भी विश्वास रखना चाहिए कि वह केवल शरीर नहीं है। वह इससे कुछ अधिक है और अन्यायी या अत्याचारी की पाशवी शक्ति की पहुँच के परे है। उसे मनुष्य जाति और प्राणिमात्र को समदृष्टि से देखना चाहिए। उसे सबसे प्रेम करना चाहिए और अपने मन में विरोधी के प्रति भी सद्भावना रखनी चाहिए उसे अपनी ओर सत्य अथवा सबके मार्गदर्शक परमेश्वर के हाथ का एक साधन समझकर देखना चाहिए और अपने सर्वस्व तक को त्याग करने के लिये तैयार रहना चाहिए। उसे पवित्रता अपनानी चाहिए और प्रत्येक प्रकार के गन्दे विचार मन से हटा देने चाहिएं। जिस सत्य का वह आचरण कर रहा है उसका अत्यन्त स्पष्ट दर्शन उसे होना चाहिए।

नैतिक दृष्टि से उसे निर्भय, धैर्यवान, विनयी, परोपकारी, सत्य-

शील एवं हमेशा योग्यायोग्य व गुणागुण परखने में कुशल तथा उदारमना होना चाहिए। चाहे कितनी ही कीमत क्यों न देना पड़े, उसे सत्य का अनुसरण करना चाहिए और किसी भी रूप में क्यों न हो, हिंसा से बचना चाहिए। उसे हमेशा आशावादी और आनन्दी होना चाहिए।

बौद्धिक दृष्टि से अपने काम की स्पष्ट तस्वीर उसके सामने होनी चाहिए। उसे विश्वास होना चाहिए कि उसका पक्ष सत्य पर आधारित है और उसे उस मार्ग की पूरी जानकारी होनी चाहिए जिस पर कि वह चल रहा है। अपने व्यवहार व निष्ठा के सम्बन्ध में दूसरों को विश्वास करा देने की क्षमता उसमें होनी चाहिए।

शारीरिक दृष्टि से वह तन्दुरुस्त व कष्टसहिष्णु होना चाहिए। उसे शारीरिक श्रम की आदत होनी चाहिए और यातना एवं कष्ट सहने की तैयारी होनी चाहिए। सादे भोजन और मोटे वस्त्र पर ही संतोष होना चाहिए। बीमार हो जाने पर भी उसे निराश नहीं होना चाहिए। उसे क्रियाशील और कार्यप्रवण होना चाहिए और गाँव-गाँव पैदल घूमने की आदत होनी चाहिए।

जबतक कम-से-कम ऊपर बताई हुई बातें सत्याग्रही आत्मसात् न करले तबतक वह जनता को सत्याग्रह के लिए तैयार नहीं कर सकेगा।

: १३ :

सत्याग्रह तन्त्र

किसी भी काम को करने के सर्वमान्य एवं शास्त्र-शुद्ध तरीके को ही तन्त्र कहते हैं। यह नहीं कह सकते कि सामाजिक शस्त्र के रूप में सत्याग्रह का मार्ग बहुत पुराना है अथवा उसे पूर्णावस्था में पहुँच जाने वाले शास्त्र का स्वरूप प्राप्त हो गया है। सत्याग्रह तन्त्र अब भी प्रयोगावस्था में ही है और कितने ही वर्षों तक उसके इस अवस्था में

रहने की संभावना है। तथापि उसके अवतक के विकास का श्रेय गांधी-जी को ही है; क्योंकि उन्होंने अन्तःस्फूर्ति और अनुभव के वल पर उसकी एक विशेष पद्धति वना दी है। यह पद्धति ही उसका तन्त्र है। अभी सत्याग्रहशास्त्र प्रगत अवस्था में है। अतः उसका तन्त्र भी अपूर्णावस्था में ही है। लेकिन साधारणतः प्रतिदिन के उपयोग की दृष्टि से वह काफी दिनों और अनुभवों की कसौटी पर कसा जा चुका है।

किसी भी परिस्थिति में सत्याग्रह में असत्य, जानमाल की हिंसा, गुप्तता, अन्याय, कष्ट देना, धोखा, अप्रामाणिकता, कपट, आक्रमण अथवा शोषण के लिए किसी भी प्रकार का स्थान नहीं है। अतः सत्याग्रही को इस वात का विश्वास कर लेना चाहिए कि किसी प्रश्न के उठ खड़े होने पर उपयुक्त कोई भी वात कारणीभूत न वने।

सन् १९१९ में भीड़ के हाथों जो हिंसाकाण्ड हुए उसे लक्ष करके गांधीजी ने जो उद्गार प्रकट किये हैं वे यहाँ उद्धृत करने योग्य हैं। वे कहते हैं—"सत्याग्रह में हिंसा व लूटमार के लिए जरा भी स्थान नहीं है। फिर भी सत्याग्रह के नाम पर हमने इमारतों में आग लगाई, जवरदस्ती हथियारों पर अधिकार किया, पैसे लूटे, रेलगाड़ियां रोकीं, तार काटे, निरपराध लोगों की हत्या की तथा दुकानों और खानगी मकानों में लूट-मार की। ऐसे कृत्यों से यदि जेल से वल्कि फांसी से भी मेरा छुटकारा हो सकता हो तो वह मुझे दरकार नहीं।"

सत्याग्रही को सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय किसी भी क्षेत्र को वर्जित नहीं मानना चाहिए। क्षेत्र का चुनाव करते समय अपने निकटवर्ती लोगों की सेवा एवं जिन लोगों में वह रहता है उनके महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को हाथ में लेने की दृष्टि वह रखेगा।

किसी झगड़े, शिकायत या अन्याय के होने पर व्यक्तिगत या सामूहिक सत्याग्रह के द्वारा उसे मिटाने की अवस्था उत्पन्न होने पर सत्याग्रही को अन्याय की सत्यता का अपने मन में निश्चय कर लेना चाहिए।

निष्पक्ष होकर चिन्तापूर्वक जांच कर लेने के बाद यदि उसे विश्वास हो कि शिकायत सत्य है तो फिर उसे जो काम करना है वह यह है कि जिन लोगों पर उस अन्याय का असर पड़ने वाला है वे उससे बचने के लिए छटपटा रहे हैं या नहीं। शिकायत की गंभीरता की जानकारी होते ही सत्याग्रही को उन लोगों के ऊपर जो उसके लिए उत्तरदायी हो जहां तक हो सके सभ्य भाषा में शिकायत का सत्यस्वरूप प्रकट करके उन्हें समझा देना चाहिए कि उनपर शिकायत की जुम्मेदारी किस तरह है। इसके बाद बिना किसी अतिशयोक्ति के वस्तु-स्थिति की पूरी जानकारी प्रकट कर देनी चाहिए। समाचारपत्र एवं सभा आदि के नित्य साधनों के द्वारा उनका विवेक जाग्रत हो सके इस प्रकार का प्रचार चालू रखना चाहिए। अलबत्ता यह सब करते हुए उसे हमेशा सत्य, संयम तथा विचार, उच्चार, एवं आचार में विनम्रता रखने का ध्यान रखना चाहिए। साथ ही उसे उन लोगों में भी ज्यादा-से-ज्यादा जागृति करना चाहिए जो अन्याय सहन कर रहे हैं और इस बात की आजमाइश कर लेना चाहिए कि वे लोग मुसीबतों का मुक़ाबला करने या सत्याग्रह का अवलम्बन करने के लिए तैयार हैं या नहीं। यदि बहुसंख्यक लोग सत्याग्रह के लिए तैयार हों तो उनके निश्चय को और भी दृढ़ बनाना चाहिए। यदि बहुसंख्यक लोग सत्याग्रह के लिए तैयार न हों तो भी व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू करके अन्याय सहन करने वालों में जागृति पैदा करने और उनके सामने उदाहरण पेश करने में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है। इस बीच जो लोग अन्याय के लिए जवाबदेह हैं उन्हें परिस्थिति से परिचित कराकर उस अन्याय को दूर करने की प्रार्थना करना चाहिए। यदि इसका कोई परिणाम न हो तो लड़ाई का निर्णय करके उसके लिए सत्याग्रह के उपयुक्त स्वरूप का निश्चय कर लेना चाहिए। वह स्वरूप परिस्थिति में से ही निर्मित, सबको पटने जैसा और ऐसा होना चाहिए जिसमें ज्यादा-से-ज्यादा लोग भाग ले सकें। सत्याग्रह प्रारंभ करने के पहिले

दूसरे सब साधनों का उपयोग कर लेना चाहिए। यदि सत्याग्रह अहिंसक है तो वह युद्ध की ही भांति गंभीर और अन्तिम होगा। अन्याय करने वालों को पूरी तरह पूर्व सूचना देकर काफी संगठन और तैयारी से सत्याग्रह शुरू करना चाहिए।

जिन लोगों को सत्याग्रह शुरू करना है उन्हें सदा आत्मशुद्धि और प्रतिज्ञा से शुरू करना चाहिए। प्रतिज्ञा की गंभीरता अथवा लड़ाई की भीषणता के कारण लोगों को बिला वजह किसी भी प्रकार भयभीत या अधीर होने की ज़रूरत नहीं है। बल्कि लोगों का निश्चय अधिक दृढ़ बनना चाहिए। वे जिस शस्त्र का प्रयोग कर रहे हैं उसकी नैतिक श्रेष्ठता तथा अविचल रहने पर उसकी सफलता की सुनिश्चितता पर उन्हें अटल विश्वास होना चाहिए।

लड़ाई के गंभीर रूप धारण करने पर बीच-बीच में कुछ शिथिलता या निराशा फैलने की भी सम्भावना रहती है। ऐसे मौके पर जनता को श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों का ज्ञान कराकर परिस्थिति का मुकाबला करना चाहिए। किसी भी समय संगठन में शिथिलता नहीं आने देनी चाहिए और न संगठनकर्त्ताओं का आशावाद ही डिगने देना चाहिए। यदि हमें अपनी आत्मिक शक्ति पर एवं अपने पक्ष की न्याय्यता पर पूरा विश्वास हो और दूसरों के प्रति किसी भी प्रकार की दुर्भावना न रखकर अन्त तक कष्ट सहने की तैयारी हो तो ऐन मौके पर भी जनता निश्चित रूप से अपने नेता का निर्माण कर लेगी और लड़ाई का अन्त सफलता में ही होगा। हमें कभी भी दबना नहीं चाहिए। अपने झण्डे को कभी भी नीचे नहीं गिरने देना चाहिए। लेकिन जब विरोधी में काफी परिवर्तन हो जाय तो ऐसे मुद्दों पर जिनमें तत्त्वहानि न होती हो हठ न ठान कर समझौते के लिए भी तैयार रहना चाहिए।

जब हमारे मनोनिग्रह और दृढ़ता का विरोधी पर तीव्र असर होता है और उसे विश्वास हो जाता है कि हम भले ही टूट जाँय लेकिन झुकेंगे नहीं और उसे यह भी मालूम हो जाय कि नैतिक दृष्टि से भूल

उसकी है तो उसके पैर उखड़ जायेंगे और कुछ समय बाद वह अपनी भूमिका को छोड़कर नीचे झुकने के लिए भी सम्भवतः तैयार हो जायगा। समय पाकर उसका समझौते के लिए तैयार हो जाना भी निश्चित ही समझना चाहिए। विरोधी के हृदय-परिवर्त्तन की भी सम्भावना है; क्योंकि विरोधी का अपनी भूल अनुभव करना और समझौते के लिए तैयार होना ही सत्याग्रह-संग्राम की परिपूर्णता है। जब विरोधी को यह अनुभव होने लगता है कि उसका नैतिक दबाव अथवा अनुचित व्यवहार इसी प्रकार चालू रहा तो उसे अपना सब कुछ गँवा देना पड़ेगा तो उसमें अवश्य परिवर्त्तन होगा। कुछ भी हो अन्त में सत्याग्रही की विजय निश्चित है।

जहाँ तक हो सके सत्याग्रह-संग्राम में पैसे पर कम-से-कम अवलम्बित रहना चाहिए। थोड़ा-बहुत जितना पैसा जरूरी हो उसे वहीं से इकट्ठा करना और उसे बड़ी मितव्ययता से खर्च करना चाहिए। जमा और खर्च की जाने वाली एक-एक पाई का हिसाब रखा जाना चाहिए। सत्याग्रह की मुख्य शक्ति नैतिक धैर्य पर अधिष्ठित होनी चाहिये। वह किसी भी प्रकार के बाह्य उत्तेजन अथवा आर्थिक सहायता पर अवलम्बित नहीं होनी चाहिए। सत्य एवं ईश्वर पर दृढ़ निष्ठा तथा आत्म-विश्वास के द्वारा ही सत्याग्रही का मार्ग-दर्शन होना चाहिए।

यदि सरकारी अधिकारी गिरफ्तार करने आए तो उन्हें खुदबखुद गिरफ्तार हो जाना चाहिए। जेल में रहते हुए जिन नियमों से धर्म या स्वाभिमान को धक्का न लगे उनका पालन करना चाहिए। जबतक जेल में सुधार करवाने के लिए लड़ाई न करना पड़े तबतक जेल के नियमों का उल्लंघन न करना चाहिए। यदि लोग गिरफ्तार होते हों तो दुःखी न होना चाहिए, बल्कि यह समझना चाहिए कि यह गौरव करने जैसी बात है। सैनिकों में किसी भी प्रकार का अनुशासन-भंग सहन नहीं करना चाहिए। और चूँकि सत्याग्रह का शारीरिक शिक्षण में विश्वास नहीं होता, संगठनकर्त्ताओं को अपने अनुयायियों के अनुचित

व्यवहार को समूल नष्ट करने के लिए उपवास अथवा उसके जैसे अन्य साधनों का अवलम्बन करना चाहिए ।

आइये, पहिले व्यक्तिगत सत्याग्रह के तन्त्र पर विचार करें । यहाँ हम सत्याग्रह को अन्याय के विरुद्ध लड़ने का एक हथियार मान कर चलते हैं। जब किसी नागरिक के अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है अथवा १६१६, १६३२ और १६४० की तरह सामूहिक नहीं बल्कि व्यक्तिगत रूप में कानून तोड़ने का निर्णय किया जाता है अथवा किसी विशेष परिस्थिति में वैसा करना हमारा कर्तव्य हो जाता है तो व्यक्तिगत सत्याग्रह का मौका आ जाता है ।

जब नागरिक अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाया जाय तो उस आज्ञा को भंग करने के लिए तन्त्र की विशेष आवश्यकता नहीं होती । सत्याग्रही को अपना क़ानून तोड़ने का इरादा पहिले ही प्रकट कर देना चाहिए और उसके लिए जो सजा मिले उसे खुशी-खुशी भुगतने के लिए तैयार रहना चाहिए। इस सम्बन्ध में सबसे ज्यादा महत्त्व की बात यह है कि उसे शुरू से आखिर तक विनम्र रहना चाहिए। विनम्रता का अर्थ केवल बोल-चाल की नम्रता ही नहीं बल्कि उसमें वे सारी बातें आ जाती हैं जो अहिंसा के अन्तर्गत होती हैं । गांधीजी कहते हैं—(यंग इण्डिया २४-३-२०) "यदि सत्याग्रह, निष्ठा, आदर, संयम व विनम्रतापूर्वक किया गया और वह किन्हीं समझे-बूझे मुद्दों पर आधारित हो तो ही उसे 'सविनय' कह सकते हैं । वह केवल लहरमहर का सौदा नहीं होना चाहिए । और ख़ास बात तो यह है कि उसमें किसी भी प्रकार का द्वेष या दुर्भाव नहीं होना चाहिए । जब किसी भी विशेष अवसर पर किसी व्यक्ति के लिए व्यक्तिगत रूप से सविनय अवज्ञा करने का मौक़ा आ जाय तो उसे इसी तन्त्र का अवलम्बन करना चाहिए ।

सन् १६१६ में रौलट एक्ट सत्याग्रह के समय जिस तन्त्र का अवलम्बन किया गया वह एक सत्याग्रह कमेटी के रूप में था । प्रतिज्ञा-पत्र तैयार किये गये और जिन लोगों को सत्याग्रह में भाग लेना था

उनसे वह भरवाया गया। इसके बाद सत्याग्रह कमेटी ने ज़ब्त साहित्य को प्रकाशित करने तथा समाचार पत्रों के रजिस्ट्रेशन के कानून को भंग करने की सलाह दी। ६ अप्रैल के बाद प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर करने वाले सत्याग्रहियों को सविनय कानून भंग करना था। साधारण जनता के लिए हड़ताल, उपवास, प्रार्थना और सभा का कार्यक्रम रखा गया था। आम जनता को सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भाग नहीं लेना था।

सत्याग्रह कमेटी ने ज़ब्त साहित्य की बिक्री को 'संगठित व नियमबद्ध बनाने की सूचना' दे दी थी। इससे इस लड़ाई के तन्त्र की अच्छी कल्पना हो सकती है। वे सूचनाएँ नीचे लिखे अनुसार थीं। "जहाँ तक सम्भव हो सत्याग्रही को विक्रेता के रूप में अपना नाम और पता लिखना चाहिए, ताकि मुकद्मा चलाने के लिए सरकार को उसका फौरन पता लग जाय। स्वभावतः इस प्रकार के साहित्य को गुप्त रूप से बेचने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी प्रकार उसको बाँटने में भी आतुरता न दिखानी चाहिए। स्त्री-पुरुषों के छोटे-छोटे दल बनाकर सत्याग्रही उनके सामने इस प्रकार का साहित्य पढ़े। ज़ब्त साहित्य को बेचने का उद्देश्य केवल कानून भंग करना ही नहीं है, बल्कि जनता के हाथों में उच्च नैतिक मूल्य वाले साहित्य को रखना भी सम्भव है, सरकार ऐसे साहित्य को ज़ब्त करे। सत्याग्रही को पैसे पर कम-से-कम अवलम्बित रहना चाहिए। अतः सत्याग्रहियों से अनुरोध किया जाता है कि वे सरकार द्वारा प्रति ज़ब्त होते हो उसे खुद ही अथवा अपनी सहायता करने वाले किसी मित्र की मदद से फिर तैयार करके तबतक लोगों को पढ़ने के लिए देना चाहिए जबतक कि वह दुबारा भी ज़ब्त न हो जाय। हमें विश्वास है कि इस प्रकार के वाचन का उपयोग ज़ब्त साहित्य के प्रसार करने में होगा। जब ज़ब्ती या प्रसार के कारण सारी पुस्तकें समाप्त हो जाँय तो सत्याग्रही को ज़ब्त पुस्तकों के

उद्धरण लिखकर लोगों में बाँटना चाहिए और सविनय अवज्ञा आन्दोलन चालू रखना चाहिए।"

"समाचार पत्र प्रकाशित करने के सम्बन्ध में सविनय अवज्ञा आन्दोलन की कल्पना इस प्रकार है कि प्रत्येक सत्याग्रह केन्द्र से विना रजिस्ट्री कराये हस्तलिखित समाचारपत्र प्रकाशित किये जाँय। यह जरूरी नहीं है कि उसका आकार एक ताव से बड़ा हो।......जिस सत्याग्रही को कानूनी निर्दिष्ट सजा का किसी प्रकार का भय न हो उसे विना रजिस्ट्री कराये हुए पत्र में किसीका लिहाज-मुलाहिजा किये विना अपनी सद्-असद् विवेक बुद्धि के अतिरिक्त अपना मत प्रकट करने में कोई हर्ज नहीं है। इस प्रकार यदि उसके समाचारपत्र का व्यवस्थित रीति से सम्पादन हुआ तो वह थोड़े में शुद्ध कल्पना का प्रसार करने का एक प्रभावशाली साधन बन जायगा और हस्तलिखित समाचार पत्र के प्रसार के मार्ग में कठिनाइयों का भय रखने का कोई कारण नहीं है। क्योंकि जिसके हाथ में पहिली प्रति पहुँचेगी उसीका कर्तव्य होगा कि वह नई प्रति निकाले। इस प्रकार उसका इतना प्रचार हो जाना चाहिए कि वह सारी भारतीय जनता तक पहुँच सके। हमें यह न भूलना चाहिए कि हिन्दुस्तान में जबानी शिक्षा देने की पद्धति चलती आ रही है।"

गिरफ्तारी बचाव आदि के सम्बन्ध में सूचनाएँ निम्न प्रकार हैं:—
"अब हम ऐसी स्थिति में हैं कि हम किसी भी क्षण पकड़े जा सकते हैं, अतः यह ध्यान में रखना चाहिए कि यदि किसीकी गिरफ्तारी हुई तो उसे विना कोई बाधा उपस्थित किये गिरफ्तार हो जाना चाहिए। और यदि किसीको अदालत में उपस्थित होने के लिए सम्मन आए तो उसे वैसा करना चाहिए। उसे न तो किसी भी प्रकार का बचाव करना चाहिए और न वकील ही खड़ा करना चाहिए। यदि जुर्माने के बजाय कैद की सजा दी जाय तो कैद ही पसन्द करनी चाहिए। यदि केवल जुर्माना ही किया जाय तो उसे अदा नहीं करना चाहिए, लेकिन

यदि कुछ सम्पत्ति हो तो उसे सरकार को नीलाम कर लेने देना चाहिए। अपने गिरफ्तारशुदा साथियों की सहानुभूति में जो लोग बाहर रहे हैं उनको खेद या अन्य कोई प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। और जब खुद अपने लिए ऐसा मौका आए तो उन्हें किसी प्रकार की आपत्ति नहीं करनी चाहिए। एक बार जेल चले जाने पर जेल के सारे नियम पालन करना हमारा कर्तव्य हो जाता है। क्योंकि इस समय जेल का सुधार करवाना हमारे आन्दोलन का अंग नहीं है। सत्याग्रही को किसी भी वाम मार्ग का अवलम्बन नहीं करना चाहिए। सत्याग्रही जो कुछ करे सब खुल्लमखुल्ला करे।

आइये, अब हम १९४०-४१ के व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन पर विचार करें। युद्ध-सम्बन्धी मत-स्वातन्त्र्य और भाषण-स्वातन्त्र्य के लिए सविनय अवज्ञा आन्दोलन करना तय हुआ था। गांधीजी ने सारे प्रान्तों से प्रतिज्ञाबद्ध सत्याग्रहियों की सूची माँगी। सत्याग्रह करने की इजाजत देने के पूर्व गांधीजी ने उनकी जाँच की। नियमित कताई और अहिंसा के बारे में बड़ी कड़ी प्रतिज्ञा थी। 'सारे युद्ध-अन्याय्य हैं। अतः किसी भी युद्धकार्य में मदद मत करो। इसके विरुद्ध सारे युद्धों का प्रतिकार अहिंसा से करना ही उत्तम है।' इस आशय का भाषण देने का उसे अधिकार है और वह यह भाषण कहाँ देगा इसकी लिखी सूचना प्रत्येक प्रतिज्ञाबद्ध सत्याग्रही को जिला मजिस्ट्रेट को देनी पड़ती थी और फिर उसीके अनुसार व्यवहार करना पड़ता था। प्रारंभ में गांधीजी ने भाषण देने की छुट्टी रखी थी। किन्हीं लोगों को इस आशय के पत्र भेजने की इजाजत दे दी गई थी कि युद्ध-कमेटी के सदस्यों की युद्ध-प्रयत्नों में मदद मत करो। लेकिन शीघ्र ही यह निश्चय किया गया कि सत्याग्रह करते हुए उपर्युक्त आशय की लगभग २० शब्दों की एक घोषणा की जाय और अन्त तक यही क्रम चालू रखा गया। सत्याग्रह करने के बाद भी जिन्हें गिरफ्तार नहीं किया गया उन्हें पैदल दिल्ली तक प्रचार करते हुए जाने की आज्ञा दी गई।

सजा समाप्त होने पर जिनका स्वास्थ्य अच्छा हो उन्हें फिर से सत्याग्रह करने के लिए कहा गया।

सन् १९३० की महान् लड़ाई प्रारम्भ करते समय गांधीजी ने जिस तन्त्र का अवलम्बन किया, आइये अब उसे संक्षेप में देखें। एक उदाहरण के रूप में वह हमारे काम आने जैसा है। यह कह सकते हैं कि सत्याग्रह तन्त्र के मुख्य छः सिद्धान्त हैं, वे इस प्रकार हैं:—

(१) सत्याग्रह के कारण न्यायोचित और सच्चे होने चाहिएं।

(२) दूसरे सब उपाय कर चुकना चाहिए।

(३) विरोधी को अपनी भूल सुधारने का ज्यादा-से-ज्यादा मौका दिया जा चुकना चाहिए।

(४) सत्य या ईश्वर पर पूरा भरोसा रखकर कष्ट-सहनात्मक अहिंसा-मार्ग से प्रतिकार करना चाहिए।

(५) कष्ट-सहन बिला हुज्जत, खुशी से तथा कष्ट देनेवाले के प्रति भी मन में सद्भाव रखकर करना चाहिए।

(६) और अन्त तक विनम्रतापूर्वक और अपने सिद्धान्त को बिना छोड़े समझौता करने की तैयारी रखनी चाहिए।

यदि हम सन् १९३० के सविनय कानून भंग पर दृष्टि डालें तो हमें मालूम होता है कि गांधीजी ने उपर्युक्त तन्त्र का पूरी तरह शास्त्रीय पद्धति से अवलम्बन किया था। उन्होंने इस बात का पूरी तरह निश्चय कर लिया था कि सत्य उनके पक्ष में है। सन् १९२४ में जब उन्होंने फिर से यंग इन्डिया का सम्पादन शुरू किया तब लिखा था कि "मैं हिन्दुस्तान की आजादी के लिए ही जी रहा हूँ और उसी के लिए मरूँगा। क्योंकि वह सत्य का ही एक भाग है। सच्चे ईश्वर की पूजा केवल स्वतन्त्र हिन्दुस्तान ही कर सकता है। सन् १९२९ में लाहौर कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ उसके पहिले गांधीजी और मोतीलालजी नेहरू की वाइसराय से मुलाकात हुई। उस समय उन्हें वाइसराय ने यह कह कर निराश कर दिया था कि वे इस बात का

आश्वासन नहीं दे सकते कि गोलमेज परिषद् का मुख्य उद्देश्य औंपनिवेशिक स्वराज्य देना होगा। समझौते और चर्चा का दरवाजा एकदम बन्द हो गया। इसके बाद गांधीजी ने कॉंग्रेस का ध्येय बदल कर 'मुकम्मिल आजादी' घोषित करने की राय दी और उन्होंने लड़ाई के लिए कमर कस ली। उन्होंने सविनय अवज्ञा आन्दोलन की तैयारी शुरू की। साथ ही अपने ११ सुप्रसिद्ध मुद्दों के रूप में सरकार के सामने नई माँग पेश की। परन्तु वह भी रद्दी की टोकरी में डाल दी गई। उनके उठाये हुए इस कदम से हर समय सरकार का नैतिक बाजू अधिकाधिक कमजोर होता गया और बार-बार की माँग को नकारात्मक उत्तर मिलने से देश में आवश्यक वातावरण निर्माण हुआ। इसके बाद उन्होंने कानूनभंग के लिए नमककानून पसन्द किया। इसमें उनकी जबरदस्त दूरदृष्टि दिखाई देती है। नमक-कर अत्यन्त अन्यायिय करों में से है। नमक की कीमत के हिसाब से कर कितने ही गुना अधिक है। गरीब से लेकर धनवान् तक के ऊपर उसका असर पहुँचता है। इस कारण नमक-कानून सम्बन्धी हलचल ने सारे संसार का ध्यान आकर्षित कर लिया। इसके बाद प्रत्यक्ष रूप से सविनय कानून-भंग प्रारम्भ करने के पहिले गांधीजी ने वाइसराय के नाम एक पत्र लिखकर उसे रेजीनॉल्ड रेनॉल्ड्स नामक सज्जन के हाथ रवाना करवाया और इस प्रकार सारे प्रकरण को एक नाटकीय रूप मिल गया। जिस समय पत्र का निराशापूर्ण उत्तर मिला और 'रोटी के बदले पत्थर' की कहावत चरितार्थ हुई उस समय उन्होंने दांडी-यात्रा प्रारम्भ की। वह संगठन और प्रचार का एक उत्कृष्ट नमूना था। जैसे-जैसे गांधीजी दाण्डी के निकट पहुँचने लगे वैसे-वैसे देश का वातावरण अधिकाधिक जाग्रत होने लगा। उन्होंने जो-जो कदम उठाये वे सब जान-बूझ कर खुले रूप में, धैर्यपूर्वक, प्रसन्न मुँह से, खिलाड़ी-वृत्ति से और सद्वृत्ति प्रेरित थे।

६ अप्रैल से सारे देश में एकदम सविनय कानून-भंग की लहर

उठी और हजारों लोगों को पकड़-पकड़कर जेल में ठूँस दिया गया। सरकार ने गांधीजी को गिरफ्तार न करके उनकी उपेक्षा करने का प्रयत्न किया। परन्तु उनकी योजना का असफल होना सम्भव ही नहीं था। उन्होंने नोटिस दिया कि वे धारासना नमक गोदाम पर आक्रमण करेंगे और सरकारी कर न देते हुए केवल नमक की कीमत देकर नमक लाने की कोशिश करेंगे। उनका वह काम चोरी या डाका नहीं कहा जा सकता था। वह तो नमक-कानून को अन्याय्य मानने वाले नागरिकों के नैतिक अधिकार पर जोर देने का एक मार्ग था। इसके बाद उन्हें ता० ४-४-३० को गिरफ्तार करके यरवदा जेल ले जाया गया। गिरफ्तार होने के लगभग महीने भर पहिले तक उन्होंने अपने समुद्र किनारे के कैम्प से अखिल भारतीय आन्दोलन चलाया था। वे अपने अनुयायियों को सूचना देते रहे और जब-जब उनके मन में किसी प्रकार की शंका होती तब उसका निराकरण करते रहे।

जेल के दिन उन्होंने एक आदर्श कैदी की भाँति बिताये। उन्होंने ईश्वर पर अटल विश्वास रखा। उन्होंने बाहरी दुनिया से किसी भी प्रकार का सम्पर्क नहीं रखा और न अन्दर से आन्दोलन के मार्ग-दर्शन करने का प्रयत्न ही किया। अपने मूलभूत सिद्धान्त को छोड़े बिना समझौता करने के लिए वे सदैव तैयार थे।

सत्याग्रह-संग्राम का तन्त्र तो ऊपर बता ही दिया गया है किन्तु सत्याग्रह के भिन्न-भिन्न प्रकार और कार्यक्रम के सम्बन्ध में कोई एक ही निश्चित तन्त्र नहीं बताया जा सकता। जैसे प्रतिबन्ध लगी हुई परिषद् भरने और उसके काम-काज चलाने का तन्त्र शान्तिपूर्ण धरने या करबन्दी आन्दोलन के तन्त्र से भिन्न रहता है। यहां सत्याग्रह के अनेकविध मार्गों के तन्त्रों का सविस्तार विवेचन करना सम्भव नहीं है। उसके लिये विशेषज्ञों के नेतृत्व में चलाये गये कार्यक्रम का विस्तृत वृत्तान्त पढ़ना चाहिए।

सन् १६३० के आन्दोलन का अन्त उस तात्कालिक संधि के रूप

में हुआ जो गांधी-इरविन पैक्ट के नाम से मशहूर है। समझौते की बातचीत और प्रत्यक्ष ठहराव की जानकारी प्राप्त कर लेने से सत्याग्रही को इस बात की पूरी कल्पना हो सकती है कि ऐसे मामलों में सत्याग्रही का व्यवहार किस प्रकार का होना चाहिए।

अब सत्याग्रह में उपवास का क्या स्थान है और उसका अवलम्बन कब और कैसे करना चाहिए इस सम्बन्ध में संक्षिप्त विवेचन करके इस प्रकरण को समाप्त करेंगे।

उपवास का अर्थ है स्वेच्छा से शरीर को अन्न देना बन्द कर देना। यदि उपवास आमरण अनशन के रूप में हो तो भी आत्मशुद्धि के ही रूप में होता है। लेकिन यहां उपवास के तात्त्विक अधिष्ठान अथवा आत्मसंयम, या पाप के प्रायश्चित्त करने के लिए आत्मशुद्धि के हेतु से किये हुए उपवास की चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि इस प्रकार के उपवास बिल्कुल व्यक्तिगत होते हैं। यहां तो हमें ऐसे ही उपवासों की चर्चा करनी है जिनका हेतु विरोधी अथवा अन्य लोगों पर कोई प्रभाव डालना होता है। आइये हम देखें कि इस प्रकार के आमरण अथवा मर्यादित उपवासों का तन्त्र क्या है।

यदि उपवास अपने मित्र या सहयोगी की गलती के विरुद्ध किया गया हो और उसकी एक निश्चित अवधि हो तो भी उसमें एक विशिष्ट तन्त्र का अवलम्बन किया जाना चाहिए। जिस व्यक्ति के लिए उपवास किया जाता है उससे निकट का सम्बन्ध हुए बिना और उसकी भूल उतनी ही बड़ी हुए बिना इस प्रकार के उपवास का अवलम्बन नहीं करना चाहिए और सारासार विचार करके ही उसकी अवधि निश्चित की जानी चाहिए। उपवास की शुरुआत गुस्से या अविचार से नहीं की जानी चाहिए। उपवास के दिनों में न तो शरीर की उपेक्षा करनी चाहिए न किसी प्रकार की हिंसा ही करनी चाहिए। शरीर को शुद्ध रखने का उद्देश्य सामने रखकर मृदुल व्यवहार करना चाहिए। जिसके लिए उपवास करना हो उसे अपना उद्देश्य बता देना चाहिए। लेकिन

यहां भी उपवास को अन्तिम शस्त्र मान कर ही चलना चाहिए। उपवास का बहुत-सा समय प्रार्थना, आत्मनिरीक्षण, चिन्तन आदि मन को उदात्त बनाने वाली बातों में बिताना चाहिए। उपवास एक बड़ा उग्र शस्त्र और महान् अग्निपरीक्षा है अतः इसका अवलम्बन करने के पहिले अपने उद्देश्य की कसकर जांच कर लेनी चाहिए। उद्देश्य में थोड़ी-सी भी अशुद्धि नहीं होनी चाहिए। वह एक शास्त्र है अतः अपने शरीर और मन को उसकी कसौटी पर कसने के पहिले उसका अच्छी तरह अभ्यास कर लेना चाहिए। सच पूछा जाय तो जिसने अहिंसा-मार्ग को नहीं समझा और इस बात का अध्ययन नहीं किया कि उपवास किस प्रकार किया जाय उसे एकदम उसकी ओर नहीं दौड़ पड़ना चाहिए। सबसे पहिले उपवास करने का अधिकार प्राप्त करना चाहिए। स्वार्थ, क्रोध, चंचलता, अविश्वास अथवा जल्दबाजी के लिए उसमें कोई स्थान नहीं होना चाहिए।

आमरण अनशन वह कदम है जिसे सत्याग्रही को बिल्कुल आखीर में ही उठाना चाहिए। हिंसक युद्ध में सैनिक या उनके समूहों को मार डालना ही अन्तिम काम समझा जाता है और एक उसी उद्देश्य के लिए उन्हें शिक्षा दी जाती है। जहां हिंसक युद्धों का उद्देश्य विरोधी को यातनाओं का भय और मृत्यु की दहशत दिखाकर दबाव डाला जाता है तहां अहिंसक युद्ध का उद्देश्य होता है स्वयं मरणप्राय यातना भुगत कर विरोधी की सद्-असद् विवेक-बुद्धि को जाग्रत करना। कष्ट-सहन की सर्वोच्च सीमा है आमरण अनशन। जब सत्याग्रह के अन्य सारे मार्ग विफल सिद्ध हो जांय और आसपास का सारा वातावरण निराशा के अन्धकार से भर जाय तब इस विश्वास से कि अन्तिम त्याग के द्वारा सत्य की प्रतिष्ठा प्रस्थापित की जा सकेगी सत्याग्रही उपवास का अवलम्बन करे। लेकिन यह बिल्कुल अन्तिम मार्ग है। इसका अत्यन्त भीषण और शायद प्राणघातक परिणाम भी हो सकता है। अतः इस सम्बन्ध में लापरवाही से बात नहीं करनी चाहिए।

अथवा उतनी ही आन्तरिक आवश्यकता अनुभव हुए बिना उसका उपयोग नहीं करना चाहिए। साधारणतः अपने सार्वजनिक उपवासों के सम्बन्ध में और खासकर आमरण अनशन के सम्बन्ध में बोलते हुए गांधीजी कहते हैं कि उन्हें इनकी स्फूर्ति अन्तर्नाद से हुई थी। वह ईश्वर का आवाहन ही था। सारी साधना कर लेने के बाद भी उन्हें प्रतीत हुआ कि राजकोट के उपवास में दोष पैदा हो गया था। यद्यपि शुरू से उपवास का स्वरूप अत्यन्त शुद्ध था तथापि जब उन्होंने वाइसराय की मध्यस्थता की सम्मति दी उस समय उसमें अशुद्धता और स्वार्थ आ गया था। इससे यह सिद्ध होता है कि उपवास के शस्त्र का उपयोग करना अत्यन्त कठिन है अतः उपयोग करने से पहिले कसकर उसका अभ्यास कर लेना चाहिए।

आजतक गांधीजी ने बिना विशेष कारण के आसानी से इस शस्त्र का उपयोग नहीं करने दिया है। उसमें अब भी ऐसी कोई सुप्त शक्ति है जिसकी आजमाइश नहीं की जा सकी है। क्या आज भी कोई कह सकता है कि सामूहिक उपवास का क्या परिणाम होगा? वह सब भविष्य के गर्भ में छिपा हुआ है यह समझकर संतोष मानना पड़ता है।

: १४ :

युद्ध का नैतिक पर्याय

नेपोलियन ने कहा है कि युद्ध विनाश का शास्त्र है और यह ठीक भी है। यदि हम महायुद्ध के किसी भी पहलू पर नज़र डालें तो इस कथन की सत्यता प्रकट होती है। एक पक्ष दूसरी ओर के धन-जन को जितनी अधिक हानि पहुँचाता है, उसे उतनी ही अधिक सफलता मिलने की संभावना रहती है। फिर भी आज कितने ही युद्ध के समर्थक ऐसे हैं जो यह मानते हैं कि युद्ध मानव जाति के हित

और प्रगति की साधक एक संस्था है।

युद्ध एक अनिवार्य संकट है, यह कहना दूसरी बात है और यह आग्रह रखना दूसरी बात है कि वह मानवता के लिये वरदान है, अथवा उसके बिना मानवता की प्रगति सम्भव नहीं है। इन लोगों का कहना यह है कि मानव जाति की प्रगति के लिए बीच-बीच में क़त्ल और लूटपाट होना सम्भव है। प्राचीन काल में युद्ध कितना ही रम्य क्यों न हो, आज तो महा भयंकर स्फोटक-द्रव्यों के अनुसन्धान और सर्वाङ्गीण युद्ध लड़ने के नये संगठन के कारण उसकी विनाशक शक्ति कई गुना बढ़ गई है। ऐसी स्थिति में युद्ध को संस्कृति का दूत, कहने वाले मनुष्य हद दर्जे के साहसी होने चाहिएँ। लाखों लोगों के कत्लखाने खोलने के लिए यन्त्रों से सुसज्जित होना या उन लोगों को सरेआम पाशवी बनाना ही यदि मानवता का विकास हो तो फिर सचमुच ही यह कहा जायगा कि युद्ध प्रगतिकारक है।

एक अंग्रेज़ कवि ने इस प्रकार वर्णन किया है कि प्रकृति हिंसा से ओतप्रोत है। 'ओरिजिन आफ़ दी स्पेसिस' नामक पुस्तक के लेखक डार्विन ने जीवन-संग्राम का सिद्धान्त संसार के सामने रखा। उससे सहज ही यह बात निकलती है कि जो शारीरिक दृष्टि से समर्थ हों उन्हें कमजोरों को मिटा देना चाहिए। और इससे इस विचारधारा को नया बल मिला है कि इस नैसर्गिक नियम के विरुद्ध कमजोरों को बचाव करने का प्रयत्न करना व्यर्थ है। जी० तार्दे और जे० नोहिको जैसे पदार्थ-विज्ञानियों ने यह प्रकट किया है कि अणु-परमाणु तथा आकाश में भ्रमण करने वाली ग्रह-मालाओं में भी सतत जीवन-संग्राम चल रहा है। इसी प्रकार जर्मनी जैसे कुछ लड़ाकू देशों के तत्त्वज्ञानियों को लड़ाई में कई सद्गुण दिखाई दिये हैं और उन्होंने यह प्रतिपादन किया है कि समाज की प्रगति और प्रभुत्व के लिए जिन मूलभूत गुणों की आवश्यकता होती है वे केवल युद्ध से ही प्रकट हुए हैं। इटली के तानाशाह मुसोलिनी के उद्गार काफी स्पष्ट हैं। वह कहता

है—"केवल युद्ध के द्वारा ही सारी मानवी शक्तियों का अधिक-से-अधिक विकास होता है और जो युद्ध का मुकाबला करने में शूरवीर होते हैं उनकी श्रेष्ठता युद्ध से ही सिद्ध होती है। जिस समय जीवन-मरण जैसा महत्त्वपूर्ण निर्णय करना पड़ता है उस समय युद्ध के जैसा दूसरा कोई प्रभावकारी उपाय नहीं बचता।"

यह ठीक है कि युद्ध संस्था भी मानव जाति जितनी ही पुरानी है लेकिन साथ ही यह बात भी उतनी ही सत्य है कि मानव युद्ध टालने का प्रयत्न करता आ रहा है और आज भी वह निरुपाय होकर ही युद्ध का अवलम्बन करता है। यदि हम युद्ध के इतिहास को देखें तो हमें मालूम होगा कि युद्ध संस्था कितनी ही क्रूर क्यों न हो फिर भी समाज भिन्न-भिन्न समय युद्ध-नीति के अलग-अलग नियम बनाकर उसमें थोड़ी-बहुत मानवता लाने का लगातार प्रयत्न करता आ रहा है। यद्यपि यह कहावत प्रसिद्ध है कि—"प्रेम और युद्ध में सब कुछ जायज़ है"* तथापि युद्ध के अन्तर्राष्ट्रीय नियम बनाकर मनुष्य जाति ने उसमें उदारता तथा कुछ अंशों में न्याय्यता लाने का प्रयत्न किया है। यह भी सत्य है कि युद्धकाल में त्याग, धैर्य, कष्टसहन की तैयारी आदि कुछ गुणों का उत्कर्ष होता है। इसीलिए रस्किन ने कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण उद्‌गार प्रकट किये हैं कि "मनुष्य के सारे सद्‌गुण और कार्य-शक्ति का आधार युद्ध है।" और इसी आधार पर तत्त्वज्ञानी विलियम जेम्स ने कहा है कि—"मानवी जीवन और दृढ़ता का आदर्श टिकाये रखने का कार्य सेनावाद के द्वारा ही हुआ है और बिना दृढ़ता के मानव जीवन तिरस्करणीय ही हो जायगा।" लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि युद्धक्षेत्र के बाहर इन मानवी गुणों के लिए कोई स्थान नहीं है और इन गुणों को प्रकट करने के लिए एक-दूसरे के सरेआम क़त्ल और विनाश की ही जरूरत है। स्वभावतः

* Everything is fair in love and war.

चाहिये। हमारी आंखों के सामने प्राणिमात्र नहीं बल्कि केवल मानव समाज ही है। बाघ हरिणों पर झपटता है तो भेड़िया भेड़ों पर टूट पड़ता है। यदि कोई यह कहे कि मनुष्य सहित सब प्राणियों पर यही लागू होता है तो हम अत्यन्त नम्रतापूर्वक साफ-साफ यही कह देंगे कि हम उनके इस विचार से सहमत नहीं हैं। जो ऐसा सोचते हैं कि लड़ाई के द्वारा ही सारे झगड़ों का अन्त होगा उन्हें प्रिन्स क्रोपाटकिन की 'म्यूचुअल एड' नामक पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिये। प्रेम, सद्भाव, न्याय और निष्पक्षता पर आधारित नये मूल्यों की प्रस्थापना करने के लिए ही इतिहास के प्रारम्भ से आज तक मनुष्य प्रयत्न करता आ रहा है। हमारा सारा कौटुम्बिक जीवन, सामाजिक संस्थाएँ और हमारे समाज की रचना भ्रातृत्व और न्याय्य के आधार पर ही खड़े किये गये हैं। अपनी क्षुद्र प्रवृत्तियों पर अबतक भले ही हम हावी न हुए हों लेकिन नियति का कदम निश्चत रूप से प्रेम पर आधारित और न्यायानुसार चलने वाले समाज की ओर ही बढ़ रहा है।

पाशवी शक्ति हमेशा ही न्याय का पक्ष लेती हो सो बात नहीं है। इस विषय में हम एक बार एकमत हो जाँय तो फिर बिल्कुल आदर्श पद्धति में भी स्वार्थों को लेकर जो झगड़े अपरिहार्य हो जाते हैं उन्हें दूर करने के लिए युद्धमार्ग का अवलम्बन करना कितना वीभत्स, जंगली और असमाधानकारक है, यह बात फौरन ध्यान में आ जायगी। जिसके पक्ष में न्याय है उसके पास उसे प्रस्थापित करने के लिए आवश्यक बाहुबल होगा ही, यह नहीं कह सकते। इसी प्रकार हिंसा के प्रयोग से द्वेष और बदले की भावना पैदा होती है और उससे प्रश्न हल न होकर न्याय की प्रस्थापना पर लगने के बजाय जैसे-तैसे हिंसा को चिरस्थायी करने में ही हमारा ध्यान लग जाता है। इसके अतिरिक्त युद्धों के द्वारा ऐसी भयंकर खलबली और प्रक्षोभ पैदा हो जाता है कि दोनों पक्षों का संतुलन छूट जाता है और जिस प्रश्न

को लेकर इतना तूफान उठा उसपर शान्तिपूर्वक विचार करने की मनस्थिति में कोई नहीं रहता। जिन हितों की रक्षा के लिए दोनों पक्ष लड़ाई के लिए तैयार होते हैं, लड़ाई में उन हितों की ही राख हो जाने की सम्भावना हो जाती है। इसी प्रकार दोनों ओर के अत्यन्त तेजस्वी और शूरवीर लोग तलवार के घाट उतार दिये जाते हैं अतः दूसरी श्रेणी के लोगों पर ही इस प्रश्न को हल करने की जिम्मेदारी आ पड़ने की सम्भावना हो जाती है। और कई बार तो ऐसा भी होता है कि बहादुर काम आ जाते हैं और विजय की माला डरपोक लोगों के गले में पड़ती है। 'वार्स आफ्टर पथ' नामक पुस्तक में डी० एस० जार्डन और एन० ई० जार्डन इसी निर्णय पर पहुँचे हैं। गृहयुद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका के व्हर्जीनिया नामक राज्य में उन्होंने परिस्थिति का अध्ययन किया और वे इस नतीजे पर पहुँचे कि राज्य का जनबल कम हो गया है। क्योंकि श्रेष्ठ रक्तधारा तीर्थ में बह जाने के कारण दूसरे दर्जे के लोग ही बाकी रहे हैं। हिंसा का अर्थ दूसरे पक्ष पर जबरदस्ती करना होता है और इस जबरदस्ती से कभी भी स्थाई जीत नहीं होती और उसके द्वारा कभी भी सच्चे उद्देश्यों की सफलता नहीं होती। यदि विजय होती है तो वह कई बार नाममात्र की ही होती है।

आजकल की लड़ाइयों में दोनों ओर की बरबादी इतनी प्रचण्ड मात्रा में होती है कि विजेता और विजित दोनों की स्थिति समान रूप से दयनीय हो जाती है। आर्थिक सम्बन्ध इतने परस्परावलम्बी और गुथे हुए होते हैं कि लड़ाई समाप्त होते-न-होते उन्हीं दोनों को पारस्परिक लाभ के लिए एक-दूसरे के साथ सहयोग करना पड़ता है। पहिले महायुद्ध के बाद इंग्लैंड ने जर्मनी के साथ जैसा किया उसीके अनुसार राष्ट्रों में परस्पर शक्ति-संतुलन बनाए रखने के लिए विजेता राष्ट्रों को ही कई बार विजित राष्ट्रों को सत्ता देनी पड़ती है। कई बार महायुद्ध भी जिन कारणों से शुरू होते हैं उनका निर्णय होने के पहिले ही समाप्त हो जाते हैं। पहिला महायुद्ध इसके उदाहरण के रूप में

पेश किया जा सकता है। करीब-करीब उन्हीं प्रश्नों को हल करने के लिए दूसरा संसारव्यापी महायुद्ध फिर से प्रारम्भ हुआ।

अल्डुस हक्सले ने अपनी 'एन्डस एन्ड मीन्स' नामक प्रसिद्ध पुस्तक में हिंसा के प्रयोगों में रहने वाली अनिर्णीतता और अनिष्ट प्रतिक्रिया पर काफी प्रकाश डाला है। वह कहता है—"यदि हिंसा का जवाब हिंसा से दिया जाता है तो उसकी परिणति पाशवी झगड़े में हो जाती है और उससे उसमें प्रत्यक्ष रूप से ही नहीं अप्रत्यक्ष रूप से भाग लेने वालों के मन में भी द्वेष, भय, क्रोध और संताप आदि भावनाएं जाग्रत हो जाती हैं। लड़ाई के आवेश में न्यायान्याय का ही ख्याल नहीं रहता और पीढ़ियों से परिश्रमपूर्वक अपने सुसंस्कृत जीवन में जो मानवता की क्रमशः साधना की गई है उसे भुला दिया जाता है। दोनों ही पक्षों को विजय के अलावा और किसी भी बात का ख्याल नहीं रहता। इस पाशवी झगड़े के अन्तिम परिणाम के रूप में जब दोनों पक्ष में से कोई एक पक्ष विजयी होता है तब योग्यता-अयोग्यता अथवा न्याय-अन्याय से उनका किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता और स्थायी रूप से वह झगड़ा मिटता भी नहीं है।"

वह आगे कहता है कि हम ऐसी कल्पना कर सकते हैं कि कुछ इच्छित परिस्थिति में युद्ध की विजय थोड़ी-बहुत स्थायी हो सकती है। उदाहरणार्थ—(अ) उस समय जबकि एक पक्ष समूल नष्ट कर दिया जाता है। लेकिन तब भी यदि घनी बस्ती वाले राष्ट्र एक-दूसरे से लड़ाई करते रहें तो यह असम्भव ही है। (ब) उस समय जबकि दोनों राष्ट्रों के लड़ने वाले दल बहुत छोटे होते हैं और उनका नागरिकों पर शारीरिक मानसिक किसी भी प्रकार का असर नहीं होता। लेकिन ऐसी परिस्थिति होना भी आजकल असंभव ही है; क्योंकि देश-भक्ति के नाम पर देश की सारी जनता युद्ध की कढ़ाई में फेंक दी जाती है। (स) उस समय जबकि विजित राष्ट्रों में विजेता का पक्ष स्थायी हो और आगे चलकर वह उनमें मिल जाय। लेकिन आज तो यह भी

असंभव है। (द) उस समय जबकि विजेता विजित का स्नेह संपादन करने का प्रयत्न करे लेकिन यदि यह करना हो तो इतने बड़े नुकसान के बाद युद्ध को रोकने के बजाय उसे पूरी तरह टाल देना ही ज्यादा हितकर होगा इससे कुल मिलाकर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रश्न के स्थायी हल की दृष्टि से युद्ध और हिंसा कितने असमाधानकारक हैं।

इस प्रकार यदि यह मान भी लें कि युद्ध के द्वारा लोगों के कुछ अच्छे गुण प्रकट होते हैं और उनकी शक्ति की परीक्षा होती है तो भी हितविरोधों का संतोषजनक रीति से अथवा सदा के लिए युद्ध का रास्ता सुझाना उचित नहीं होता। भिन्न-भिन्न समूहों के स्वार्थों में समझौता कराने के लिए दूसरे रास्ते ढूंढ़ना लाजमी होगा। यदि थोड़ी देर के लिए युद्ध के घृणित एवं विनाशक पक्ष को एक ओर रख दें तो भी उपर्युक्त कारणों से विलियम जेम्स ने सन् १६१० में ही सूचित कर दिया था कि युद्ध का नैतिक पर्याय ढूंढ़ निकालना चाहिए। झगड़ों को निपटाने के लिए वह युद्ध से भी ज्यादह समाधानकारक पर्याय चाहता था और साथ ही वह चाहता था कि वह युद्ध की ही भांति उत्तेजक और उत्साहवर्धक हो और युद्ध की ही तरह महान् गुण प्रकट करने वाला भी हो। उसने आगे इस प्रकार कहा है—"संसार में आज तक किसी एक संपूर्ण जाति को अनुशासन में बाँधने वाली शक्ति युद्ध ही है और मेरा दृढ़ विश्वास है कि जब तक युद्ध के पर्याय के रूप में कोई दूसरा संगठन नहीं बनता तबतक युद्ध का यही स्थान रहेगा।" लेकिन वह जो पर्याय चाहता था उसे खुद सुझा नहीं सका। क्या सत्याग्रह इस प्रकार का नैतिक पर्याय नहीं हो सकता? मैं कहूंगा कि वह केवल एक पर्याय ही नहीं बल्कि उसकी अपेक्षा कितने ही गुना ज्यादा श्रेष्ठ उपाय है।

दो मानव समूहों में हितविरोध या मतभेद पैदा होते हैं। चर्चा समझौता, पंच फैसला आदि सारे उपाय विफल हो जाते हैं। एक पक्ष दूसरे पक्ष को आत्मसमर्पण कर देने के लिए अन्तिम सूचना दे देता है।

(आजकल तो इतनी शिष्टता भी शायद ही दिखाई जाती है) उसका भी कोई परिणाम नहीं होता तो फिर सीधे-सीधे अपने सामर्थ्य की ओर दौड़ लगाई जाती है और सारे संभव उपायों से एक-दूसरे का विनाश करना प्रारम्भ कर दिया जाता है। लेकिन ऐसा करने के भी कुछ नियम और मार्ग निश्चित होते हैं और दोनों पक्ष इनका पालन भी करते हैं। इससे कटुता एवं दोनों पक्षों का दुःसह कष्ट थोड़ा-बहुत कम हो जाता है। लेकिन विनाश में कोई कमी नहीं होती। शत्रु को पूरी तरह मिटा देने, अथवा मृत्यु या घोर यातनाओं का डर दिखाकर आत्मसमर्पण करवा लेने के लिए ही सारी दौड़-धूप होती है। इसे कहते हैं युद्ध। वह दूसरों पर शारीरिक शक्ति या जबरदस्ती से निर्णय लादने का एक प्रयत्न है। विलियम जेम्स का कहना है कि इस प्रकार की शारीरिक शक्ति के बजाय नैतिक शक्ति का पल्ला पकड़ना चाहिए। अर्थात् हिंसा का अवलम्बन करना अथवा भय या धमकी देने का समावेश इसमें नहीं हो सकता। बल्कि उसकी यह कल्पना है कि मानवी प्रयत्नों की पराकाष्ठा-स्वरूप ईमानदारी परस्पर एकता, दृढ़ता, उदारता, शोधक बुद्धि, शारीरिक दृढ़ता और तेज आदि मनुष्य स्वभाव के सर्वोत्तम गुणों का विकास होना चाहिए।

जब किसी दूसरे रास्ते से अपने अधिकारों की प्राप्ति न की जा सके तब उसे जबरदस्ती मंजूर करवाने के प्रयत्न को ही युद्ध कहते हैं। पाशवी होने के कारण इस अनैतिक मार्ग का सत्याग्रह के अतिरिक्त दूसरा पर्याय क्या हो सकता है जो कि पूर्णतः अहिंसक होने के साथ ही नैतिक और हृदय-परिवर्तन के द्वारा विचारपरिवर्त्तनकारी है। यदि पक्ष सत्य और न्यायोचित है तो पारस्परिक हितविरोध को मिटाने का दावा सत्याग्रह करता है। सत्याग्रह युद्ध का पर्याय इस अर्थ में कहा जाता है। वह थोड़े-बहुत अंशों में अन्तिम निर्णय करवाने के लिए युद्ध का स्थान ले लेता है। और चूँकि उसमें शारीरिक शक्ति का-प्रयोग नहीं किया जाता, हिंसा का आश्रय नहीं लिया जाता, सद्-

भावना के द्वारा समझदारी लाने का प्रयत्न किया जाता है और नैतिक दृष्टि को जाग्रत किया जाता है इसीलिए इसे नैतिक पर्याय कहा जाता है।

इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि संसार के सारे भले आदमियों को युद्ध से नफ़रत हो गई है। शान्तिवादी, नैतिक विरोधक, अन्तर्राष्ट्रीयतावादी और सत्याग्रही सभी युद्धविरोधी हैं। लेकिन केवल युद्धविरोधी होने से काम नहीं चलता। वाल्टर लिपमेन के कथानुसार "...झगड़ों का निर्णय होना ही चाहिए और इसके लिए युद्ध के अलावा कोई दूसरा पर्याय ढूँढ़ निकालना चाहिए।" मानवी स्वभाव का ही विकास इस प्रकार हो कि कभी झगड़े पैदा ही न हों लेकिन यदि कभी भूले-भटके झगड़ा हो ही जाय तो बात-चीत समझौते या पंच फैसले के द्वारा उसका निर्णय कर लिया जाय। यद्यपि यह अभीष्ट है तथापि उस शुभ दिवस के आने तक झगड़े तो होंगे ही, ऐसी स्थिति में पाशवी शक्ति का आश्रय लेने के बजाय यदि लोगों ने सत्याग्रह का आश्रय लिया तो समझिये कि बहुत बड़ी मञ्जिल पार कर ली। क्योंकि उसके कारण निदान असत्य, अन्याय और शोषण का तो कोई समर्थन नहीं करेगा।

'युद्ध का राजनैतिक पर्याय' नामक लेख में वाल्टर लिपमेन कहता है—"केवल सैनिक गुणों के लिए ही पर्याय ढूँढ़ने से काम नहीं चलेगा। इसकी अपेक्षा युद्ध के मार्ग और उद्देश्य के सम्बन्ध में कोई पर्याय प्रत्यक्ष कार्यरूप में दिखाना ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि युद्ध केवल क्षात्रवृत्ति प्रकट करने का साधन नहीं है और न वह अभिव्यक्ति के लिए अधीर हो जाने वाली व्यक्तिनिष्ठ भावनाओं का उद्रेक ही है। वह तो महान् प्रश्नों को हल करने का एक मार्ग है और मेरे विचार में वही युद्ध का प्रधान अंग है। यदि यह ठीक है तो आज तक युद्ध के द्वारा जिन प्रश्नों का निर्णय किया जाता था उन्हें हल करने का रास्ता

ढूँढ़ कर उसे संगठित करने पर ही मुख्यतः युद्धों का बन्द होना अवलम्बित है।"

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सत्याग्रह का मार्ग जो कि एक अर्थ में हिंसक युद्ध की अपेक्षा श्रेष्ठ है महत्त्वपूर्ण निर्णय करने में विशेष रूप से उपयोगी होता है।

आइये अब युद्ध और सत्याग्रह के साम्य तथा अन्तर को देखें। पहिले साम्य को लें। दोनों का ही अवलम्बन अन्तिम उपाय के रूप में किया जाता है। दोनों का समावेश प्रत्यक्ष प्रतिकार के प्रकारों में होता है। गांधीजी ने (यंग इंडिया १२-४-२० में) लिखा है कि— "आज तक संसार में सारी बातों का निर्णय प्रत्यक्ष प्रतिकार के द्वारा हुआ है। दक्षिण अफ्रिका में प्रत्यक्ष प्रतिकार के द्वारा ही जनरल स्मट्स की अकल ठिकाने आई। चम्पारन में भी जो सैकड़ों वर्षों की शिकायतें दूर हुईं, वे भी प्रत्यक्ष प्रतिकार द्वारा ही। लड़ाई चालू रखने के लिए युद्ध और सत्याग्रह दोनों में ही सर्वस्व की बाजी लगानी पड़ती है। दोनों में ही वीरता, मर्दानगी, साहसी वृत्ति और रोमाञ्चिकता, सहनशीलता, संयम, त्याग, उदारता, चपलता की आवश्यकता होती है। दोनोंही बड़े-बड़े झगड़े दूर करने के रास्ते हैं। अतःदोनों में ही निर्णायक शक्ति है।

यदि पाशवी शक्ति के बल पर जुल्म और जबरदस्ती करना युद्ध का उद्देश्य है तो सत्याग्रह का उद्देश्य है हृदयपरिवर्त्तन के बल पर दूसरे को अपने पक्ष में लाना। लेकिन यदि वह सफल न हो सके तो नैतिक दवाव का उपयोग किया जाता है। दोनों ही मार्ग अपने-अपने ढंग से शत्रु के नैतिक बल को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। यदि दूसरों पर कष्ट लादकर उनके मन में भय पैदा करना युद्ध का रास्ता है तो कष्टसहन के द्वारा प्रतिपक्षी को यह अनुभव कराना कि उसकी ही भूल है सत्याग्रह का तरीका है। दोनों में ही कड़े अनुशासन और काफी तैयारी की आवश्यकता होती है। दोनों के ही द्वारा उच्च ध्येय के लिए त्याग करने की वृत्ति जाग्रत होती है और उसके द्वारा यशसम्पादन

का रास्ता सुगम बनता है। युद्ध पाशवी शक्ति का उपयोग करता है, सत्याग्रह नैतिक बल पर अवलम्बित रहता है। युद्ध-हिंसा, धन-जन के विनाश और विरोधियों के समूल नाश अथवा अपमानजनक व्यवहार के द्वारा उन्हें अपनी शरण में लाने का समर्थन करना है। धन-जन को हानि न पहुँचाना, 'जियो और जीने दो' के सिद्धान्त का समर्थन करना और विरोधी का अपमान न करके उससे समानता का व्यवहार करना ही सत्याग्रह की शिक्षा है। युद्ध दूसरों पर ज्यादा-से-ज्यादा कष्ट लादता है। सत्याग्रह खुद अपने ऊपर ही अपार क्लेश को निमन्त्रण देता है। युद्ध प्रतिपक्षी की शक्ति को चुनौती देता है तो दूसरों की समझदारी को जाग्रत करना सत्याग्रह की आत्मा है। युद्ध में बहुधा महाभयंकर नुकसान उठाना पड़ता है। उसके मुकाबले सत्याग्रह-आन्दोलन में धन-जन की जो क्षति होती है वह नगण्य है। गांधीजी ने हरिजन (२२-११-३८) में लिखा है—"हमें सत्याग्रहियों की एक छोटी-सी सेना पर्याप्त होगी और उसका खर्च भी बहुत कम होगा।" युद्ध में समझौते का कोई स्थान नहीं है। सैद्धान्तिक मुद्दे के अलावा दूसरे मुद्दों पर सत्याग्रही सदैव ही समझौते के लिए तैयार रहता है। युद्ध से द्वेष, क्रोध और बदले की भावना अवश्य निर्माण होती है तो सत्याग्रह से प्रेम, दया, सहानुभूति आदि गुणों का विकास होता है। युद्ध अन्याय का पक्ष भी ग्रहण कर लेता है; लेकिन सत्याग्रह त्रिकाल में भी ऐसा नहीं करेगा। युद्ध में गुप्तता, अविश्वास, झूठ, छल-कपट और षड्यन्त्र सब कुछ क्षम्य है। सत्याग्रह का आधार सत्य है, अतः वह सदैव प्रकट और सरल मार्ग का ही उपयोग करता है। युद्ध में क्रोध और आवेश की भावना उद्दीप्त की जाती है। सत्याग्रह लोगों को शांत, संयमी और किसीके प्रति द्वेषभावना न रखते हुए सहनशील रहने का अनुरोध करता है। आखिर युद्ध एक जंगली तरीका है, लेकिन सत्याग्रह सुसंस्कृत और ईसा का तरीका कहा जा सकता है। युद्ध के संगठन और सत्याग्रह के संगठन के समाज पर भिन्न-भिन्न परिणाम होते हैं। युद्ध के लिए

तैयारी करने वाले राष्ट्र अपना सारा खजाना गोला-बारूद तैयार करने में ही खाली कर देते हैं और अपने नागरिकों को पड़ोसी राष्ट्रों के भाइयों को कत्ल करने के लिए तैयार रहने की आज्ञा देते हैं। तो सत्याग्रह की तैयारी करने वाले राष्ट्र ज्यादा-से-ज्यादा सद्भावना फैलाते हैं और दूसरों को मौत की खाई में ढकेलने के बजाय खुद कष्टसहन करने के लिए तैयार रहते हैं।

युद्ध में साधन-साध्य सम्बन्धी किसी भी प्रकार की सुसंगति नहीं रहती। लेकिन सत्याग्रह में साधन-साध्य का सम्बन्ध सुसंगत, स्थिर और अखण्ड रहता है। जो लड़ाई की—विशेषतः आक्रमक लड़ाई की शुरुआत करते हैं वे अपने पक्ष के सम्बन्ध में दृढ़वादी होते हैं; लेकिन इसके विपरीत सत्याग्रही कभी भी दृढ़वाद का आश्रय नहीं लेता। वह सदैव यह सोचता है कि सम्भव है दूसरे का भी मत ठीक हो और इसीलिए वह दूसरों पर कष्ट लादने के लिए तैयार नहीं होता। बल्कि स्वयं ही उन्हें भोगने को तैयार रहता है। युद्ध अपने पीछे क्रोध, कटुता, द्वेष एवं भावी युद्ध के बीज की विरासत छोड़ जाता है; लेकिन सत्याग्रह का यह आग्रह रहता है कि इस प्रकार की कोई भी दुःखद स्मृति पीछे न रहे। सत्याग्रह कभी भी ऐसी बातों का उपयोग नहीं करता। १२ मई १९२० के यंग इंडिया में गांधीजी ने लिखा है कि—"आठ वर्षों तक प्रत्यक्ष लड़ाई लड़कर भी किसी प्रकार की कटुता शेष नहीं रही। इतना ही नहीं जिन हिन्दुस्तानियों ने जनरल स्मट्स से इतनी जबरदस्त लड़ाई की वे ही सन् १९१५ में झण्डे के नीचे इकट्ठे होकर उन्हींके नेतृत्व में पूर्वी अफ्रिका से लड़े।"

'डॉन ऑफ फ्रीडम इन इंडिया' नामक पुस्तक के लेखक ने नैतिक पर्याय के रूप में सत्याग्रह के सम्बन्ध में जो कुछ कहा वह उन्हींके शब्दों में नीचे दिया जा रहा है—"युद्ध की अपेक्षा सत्याग्रह में सबसे स्पष्ट लाभ यह है कि सत्याग्रह में अपेक्षाकृत बहुत कम नुकसान होता है। असत्य का स्थान सत्य ले लेता है और श्रेष्ठ सामर्थ्य की जगह

सत्याग्रह अपने पक्ष की न्याय्यता के बल पर अपना उद्देश्य पूरा कर लेने की आशा रखता है। इसके अतिरिक्त सत्याग्रह से और भी कई स्पष्ट लाभ हैं लेकिन वे इतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।"

"युद्ध की भाँति सत्याग्रह सैनिकों के नैतिक धैर्य को नहीं गिरने देता। लेकिन सत्याग्रह की बदौलत दोनों पक्षों को एक प्रकार की दिव्यता प्राप्त होती है। मेरा विश्वास है कि जिस पुलिस ने बम्बई में लाठी-चार्ज किया उसमें एक साल पहिले की अपेक्षा काफी वांच्छनीय परिवर्त्तन हो गया है। जो उसके शिकार हुए हैं उनपर तो उसका प्रभाव निश्चित रूप से हुआ है। गुजरात को कुछ 'युद्ध-छावनियों' में मैं रहा हूँ। 'ऑल क्वाइट ऑन दी वेस्टर्न फ्रन्ट' नामक पुस्तक में जिन युद्ध-छावनियों का जिक्र किया गया है उनसे इनकी तुलना किये बिना मैं नहीं रह सकता। एक ओर जबरदस्त उन्माद तथा दूसरी ओर शान्त तथा उच्च वातावरण में तुलना थी। एक ओर नशेबाजी का शौर्य था तो दूसरी ओर शौर्यशाली संगम था। एक ओर अश्लील भाषा एवं बीभत्स कल्पना थी तो दूसरी ओर सारा वातावरण ही धार्मिक था। यूरोप में मनुष्यों को पशुओं की कोटि में डाला जाता था तो हिन्दुस्तान में मानवता जितने ऊँचे-से-ऊँचे दर्जे तक पहुँच सकती है उतना सत्याग्रही का विकास किया जा रहा था।"

"युद्ध की सारी रम्यता एवं साहस सत्याग्रह में भी अन्तर्भूत है ही। उसमें भी खतरा रहता है और बहुतों को बलिदान भी देना पड़ता है। मैं मानता हूँ कि सत्याग्रह की वीरता में उदात्तता है। सत्याग्रही से आत्मिक वीरता की अपेक्षा की जाती है।"

"सत्याग्रह कम खर्चीला है। शस्त्रास्त्र सेनागार तथा पेन्शन जैसे जबरदस्त खर्चे उसमें नहीं होते। वह तपस्वियों की युद्धनीति है और चूँकि हिन्दुस्तान ने अनेक तपस्वियों को जन्म दिया है अतः इस युद्ध-नीति की शुरुआत हिन्दुस्तान से होना उचित ही है। सत्याग्रह जन-तन्त्री वृत्ति का व्यक्त-स्वरूप है। सत्याग्रह युद्ध में किसीको भी किसी

प्रकार की उपाधि या तमगे नहीं दिये जाते और सब प्रकार की वर्ग-भावना मिटाई जाती है। सत्याग्रही सैनिकों की भरती सभी क्षेत्रों से की जाती है। स्त्रियों के लिए उसमें विशेष स्थान है और छोटे-छोटे बच्चे भी उसमें भाग ले सकते हैं। सत्याग्रह की सम्भावनाएँ असीम हैं। ऐसी एक भी परिस्थिति दिखाई नहीं देती जिसमें सत्याग्रह का अवलम्बन नहीं किया जा सकता।

सत्याग्रह एक सर्वंकश—बहुगुणी-हथियार है। वह कभी भी चलाया जा सकता है। जो उसे चलाता है और जिसके ऊपर वह चलाया जाता है उन दोनों का उससे भला ही होता है। एक भी बूँद रक्त बहाये बिना सत्याग्रह से बड़े दूरगामी परिणाम लाये जा सकते हैं। सत्याग्रह ऐसा हथियार है जिसमें न कभी जंग लगती है और न कभी चुराया ही जा सकता है।"

अभी तक सशस्त्र विदेशी आक्रमणों के विरुद्ध लगभग सभी क्षेत्रों और सभी अवसरों पर सत्याग्रह का उपयोग किया जा चुका है। और इन सभी क्षेत्रों में वह अच्छी तरह युद्ध का स्थान प्राप्त कर लेने में सफल हुआ है। शस्त्रास्त्रों से लैस विदेशी शक्ति से हिन्दुस्तान की सत्याग्रह की लड़ाई एक महान् प्रयोग है। उसमें सफलता की बहुत बड़ी आशा है और उसने इस दिशा में बहुत बड़ी मंजिल तय करली है। आक्रमक सेनाओं की बाढ़ को रोक कर चढ़ाई करने वाले शत्रु का सफलतापूर्वक प्रतिकार करने के लिए एक बहुत बड़े पैमाने पर तैयारी की जरूरत है और उस तरह की तैयारी करने के लिए स्वतन्त्रता भी मिलनी चाहिए। लेकिन जिन लोगों का यह विश्वास है कि युद्ध का स्थान सत्याग्रह ले लेगा वे यह नहीं कह सकते कि यह सत्याग्रह के सीमाक्षेत्र के बाहर की बात है।

आइये, अब यह समझ लें कि सत्याग्रह के अलावा कौन-कौन-सी विचारधाराएँ युद्ध का विरोध करती हैं और उनमें तथा सत्याग्रह में क्या अन्तर है। जो अपने को शान्तिवादी कहते हैं वे भी युद्ध का

विरोध करते हैं; लेकिन उनके सामने युद्ध के विरोध करने का अपना खुद का कोई रास्ता न होने के कारण कठिनाई के समय या तो वे निष्क्रिय बन जाते हैं या युद्ध का समर्थन करने लग जाते हैं। दूसरे महायुद्ध के समय बर्ट्रंडरसेल जैसे प्रसिद्ध शान्तिवादी की यही हालत हुई। काम करने के समय निष्क्रियता के उपदेश से कभी काम नहीं चल सकता। जो युद्ध का नैतिक विरोध करनेवाले हैं उनका उपाय इस सम्बन्ध में व्यक्तिगत ही होता है। उससे उतने समय के लिए तो उनकी बुद्धि का समाधान हो जाता है लेकिन उनके मार्ग की मञ्ज़िल इसके आगे नहीं जाती। अन्तर्राष्ट्रीयता-वादियों का विश्वास किसी-न-किसी रूप में संयुक्त राज्य के संगठन एवं राष्ट्रसंघ पर होता है। लेकिन उस सम्बन्ध में जो प्रयत्न हुए हैं वे असफल हो चुके हैं। फिर उनका दारोमदार भी अन्त में जाकर पाशवी शक्ति के ऊपर ही रहता है। इसके बाद क़दम ब क़दम होते जाने वाले सुधार और विधिविहित दबाव में विश्वास रखने वाले उदार दल की एक विचार-प्रणाली है। उसके बारे में लिखते हुए टालसटॉय ने यह कहा है कि हिंसा एवं उदार मतवाद असफल सिद्ध हो गये हैं और उन्होंने उल्टे रशियन सरकार की सत्ता और अनुत्तरदायित्व को बढ़ा दिया है। स्वयं टालसटॉय भी युद्ध के अलावा किसी ऐसी प्रणाली की जी-जान से खोज में थे जो उतनी ही कार्यक्षम हो। इसलिए उन्होंने सन् १९१० में गांधीजी को जो पत्र लिखा उसमें उनके उस काम की प्रशंसा की जो वे ट्रान्सवाल में कर रहे थे।

एक अर्थ में ये सब विचारधाराएँ ठीक हैं और निश्चित रूप से इनके द्वारा शान्तिमार्ग के समर्थन को प्रोत्साहन मिला है। मानवता को लड़ाई के मार्ग से वापिस लौटाकर शान्ति के मार्ग पर ले जाने का रास्ता ही वे विशेष रूप से अपना रहे हैं। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि खास मुद्दा उनकी दृष्टि से ओझल रहा है। अन्तर्गत प्रश्नों के सम्बन्ध में आजकल किसी भी विधान में उस विधान को ही समाप्त

कर देने वाले मूलभूत परिवर्त्तन कर देने की गुञ्जाइश नहीं है। अतः जब इस प्रकार के मूलभूत परिवर्त्तन करने की आवश्यकता होती है तब हिंसक या अहिंसक प्रत्यक्ष प्रतिकार के अलावा दूसरा कोई उपाय नहीं रहता। इसी तरह जब दो राष्ट्रों में झगड़ा होता है तब प्रत्यक्ष रूप से हिंसक या अहिंसक प्रतिकार करने के अलावा कोई रास्ता नहीं रहता। इस तरह प्रत्यक्ष प्रतिकार करना और कानून अपने ही हाथ में ले लेना आवश्यक हो जाता है। प्रश्न तो इतना ही है कि यह हिंसा से किया जाय या अहिंसा से। समाज, सरकार या राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों में कोई भी मूलभूत फ़र्क क़ानून को ताक में रखे बिना करना किसी प्रकार सम्भव ही नहीं है। गांधीजी को इसका सच्चा बोध हो गया था। लेकिन इसके साथ ही अकेले अहिंसा के मार्ग को अवलम्बन करने के सम्बन्ध में वे हिमाचल के समान दृढ़ हैं। जो बात लोगों को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लगती है वह भी केवल समझदारी से ही प्राप्त नहीं होती उसके लिए भी कष्टसहन के रूप में ज़बरदस्त क़ीमत देनी पड़ती है। "......बुद्धि समझदारी के महत्त्व को जानती है लेकिन कष्ट हृदय में प्रवेश कर जाता है और उससे मनुष्य की आन्तरिक समझ जाग्रत होती है।" ये उद्गार गांधीजी ने अक्टूबर १९३१ में बर्किंघम में प्रकट किये हैं। सन् १९३२ के दिसम्बर मास में अपने उपवास के सम्बन्ध में उन्होंने जो वक्तव्य दिया था उसमें वे कहते हैं कि—एक ज़बरदस्त खलबली के बिना समाज में मूलभूत परिवर्तन होना असम्भव है। और वह हिंसा या अहिंसा से ही हो सकता है। लेकिन चूंकि हिंसा का रास्ता पतन और निराशा का रास्ता है अतः उसे छोड़ ही देना चाहिए। अहिंसा का रास्ता उदात्त है। जिसके विरुद्ध उसका उपयोग किया जाता है वह उनके नैतिक अधिष्ठान से टक्कर लेता है और उसे मज़बूत बनाता है।"

इस प्रकार यदि ऐसा वास्तविक मार्ग ढूँढ़ना है जो युद्धों को टाल सके और सामाजिक झगड़े को मिटा सके तो समाज का

सत्याग्रह की दिशा में संगठन किये बिना कोई दूसरा रास्ता नहीं है। अल्डुस हक्सले ने ठीक ही कहा है कि सब लोग शान्ति चाहते हैं लेकिन जिन बातों से शान्ति की स्थापना होती है उन्हें करने के लिए कोई तैयार नहीं होता। युद्ध के लिए उद्योग चालू रखकर शान्ति प्रस्थापित नहीं हो सकती और न शस्त्रास्त्रों की बाढ़, आक्रमक राष्ट्रवाद एवं द्वेषमूलक देशभक्ति से ही शान्ति प्राप्त हो सकती है। उसी प्रकार व्यक्तिगत रूप से अप्रतिकार का सिद्धान्त आत्मसात कर लेने से और उसके लिए महज़ अपने अकेले के लिए ही उसका मार्ग ढूँढ़ लेने से शान्ति क़ायम नहीं होगी। निःशस्त्र प्रतिकार से भी शान्ति नहीं मिल सकती क्योंकि जब कोई दूसरे पर आक्रमण करता है तभी उसका अवलम्बन किया जाता है, लेकिन यदि किसी बात की सच्ची आवश्यकता है तो वह अन्याय के ऊपर चारों ओर से आक्रमण करने की—आक्रमक अहिंसक प्रत्यक्ष प्रतिकार की। अन्तिम उद्देश्य की दृष्टि से यही सत्याग्रह का कार्य है। उसमें अप्रतिकार और निःशस्त्र प्रतिकार तो निहित है ही लेकिन सत्याग्रह की सीढ़ी इससे भी बहुत आगे की है। सारे अन्यायों के अस्तित्व को समूल उखाड़ फेंके बिना सत्याग्रह चैन नहीं ले सकता।

गांधीजी हमेशा यह कहते आये हैं कि उनके सत्याग्रह की पद्धति हिंसामार्ग का स्थान ले सकेगी। आगे उनके लेखों से कुछ वाक्य उद्धृत किये जाते हैं—"सविनय क़ानून भंग सशस्त्र क्रान्ति का सम्पूर्ण प्रभावी और रक्तहीन पर्याय है।" (१७-११-२१) "शस्त्र संभार जो कि हिंसा का दर्शनी प्रतीक है उसका एक ही उतार है—सत्याग्रह जो कि अहिंसा का दर्शनी प्रतीक है।" (६-८-२१) "हिंसा अथवा सशस्त्र विद्रोह के बदले सत्याग्रह उतना ही प्रभावी प्रत्युपाय है।" (१-६-३२) "हिंसा की सोलहों आना स्थानपूर्ति करने के लिए ही यह (सत्याग्रह की) कल्पना पेश की गई है।" (१५-४-३३)

सत्याग्रह एक उपयुक्त अथवा कुछ थोड़ा सरस युद्ध का पर्याय है, यह बात केवल गांधीजी ही नहीं कहते, रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी ऐसे ही उद्‌गार व्यक्त किये हैं—"हिन्दुस्तान ने क्रान्ति के इतिहास में एक नया तन्त्र निर्माण किया है। यह तन्त्र हमारे देश की आध्यात्मिक परम्परा के अनुकूल है और यदि उसकी शुद्धता पूरी तरह क़ायम रखी गई तो संस्कृति को वह हमारी बहुत बड़ी देन साबित होगी। श्री स्पून्द ने अपनी गांधी जी सम्बन्धी पुस्तक में कहा है—"वह (सत्याग्रह) क्रान्ति का नैतिक पर्याय है।" हिन्दुस्तान को अपनी मातृभूमि मानने वाले आदर्श मिशनरी सी० एफ० एन्ड्रूज़ ने अपने उद्‌गार इस प्रकार व्यक्त किये हैं कि—"गांधीजी की सत्याग्रह साधना के द्वारा उस नैतिक पर्याय की प्राप्ति हो गई है जिसे विलियम जेम्स ढूँढ रहा था।" दक्षिण अफ्रीका की लड़ाई के सम्बन्ध में (इण्डियन प्राबलेम्स् पृष्ठ ७४) वे कहते हैं—"दक्षिण अफ्रीका में सविनय प्रतिकार की लड़ाई बिना हाथ ऊँचे उठाये ही जीत ली गई। मैंने अपने सारे जीवन में जो घटनाएँ देखीं उनमें यही एक सचमुच 'ईसाई' घटना थी। मैं उसे कभी भी भूल नहीं सकता।"

१५ :

सत्याग्रह का भविष्य

सत्याग्रह के भविष्य के सम्बन्ध में कुछ कहना मानो वस्तुतः भविष्यवाणी करने जैसा है। लेकिन वह अर्थहीन और निरुपयोगी नहीं है। जो लोग मनुष्य के भविष्य के सम्बन्ध में विचार करते हैं उन्हें उस रास्ते पर भी विचार करना पड़ता है जिसके द्वारा मानवता अपने झगड़ों का निपटारा करेगी। मनुष्य जाति के उद्धार की आशा युद्धविहीन समाज के निर्माण में ही है। लेकिन इस व्यवस्था के जन्म होने में शताब्दियां लग जायँगी।

अन्य सन्त आये और चले गये।
ा दी। बड़े-बड़े आदर्श उपस्थित
भावित किया। दो हज़ार वर्ष बीत
? इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रेम
से भरे हुए मुट्ठी भर लोग इधर-
व्यक्तिगत जीवन से परे सामाजिक
: बनाने में वे प्रायः असमर्थ सिद्ध
क जीवन में तथा सामाजिक झगड़ों
णायिक शक्ति बनी हुई है। यद्यपि
सफल होता हुआ दिखाई देता है
न्तिप्रियता के कारण नहीं होता
ही होता है। यह एक प्रकार की

इस दुमुखीपन को छोड़ देने पर
यह बात प्रकट करते हैं कि यदि
ाभदायक हैं तो वे समूह के लिए
जेन टाल्सटॉय को वे अपना गुरु
ा देकर ही नहीं रुके बल्कि उन्होंने
सत्य के प्रयोग प्रारम्भ किये।
उन्होंने सत्य का ही विचार किया। वे
अनुसार ही आचरण किया और उसे
अनुभव ... त्र के ही अध्वरयूप बन गये हैं। सत्य
ही उनके प्रेम का सर्वोच्च क...ह रहेगा। सत्य को ही वे ईश्वर मानते
हैं। लेकिन अहिंसा और प्रेम के अतिरिक्त सत्यसाधना का कोई
दूसरा निर्विघ्न मार्ग उन्हें दिखाई नहीं देता। सारे प्राणीमात्र एक ही
हैं और हममें परस्पर प्रेम के अलावा कोई दूसरा नैसर्गिक एवं योग्य
सम्बन्ध नहीं हो सकता। सत्य के इसी दर्शन में से इस मार्ग का जन्म

हुआ है। इसके अतिरिक्त वे यह भी कहते हैं कि मनुष्य नश्वर है और भूल करना उसका स्वभाव है अतः अपने सत्य के दर्शन के सम्बन्ध में उसे आग्रह नहीं करना चाहिए। सत्य हमें जिस स्वरूप में दिखाई देता है यदि वह दूसरों को भी उसी स्वरूप में दिखाई दे तो उसके द्वारा जो प्रेमभाव पैदा होगा उससे हमारे पारस्परिक सम्बन्धों में ज़बरदस्त मधुरता आ जायगी। लेकिन यदि ऐसा न हो और यहां तक कि दूसरे लोग उससे एकमत भी न हों तो ऐसी स्थिति में भी एक सत्यप्रेमी मनुष्य यदि प्रेम और कष्टसहन का मार्ग अपना लेगा और उसे सत्य का दर्शन जिस स्वरूप में हुआ है उसे दूसरों पर ज़बरदस्ती लादने के झगड़े में नहीं पड़ेगा तो अन्त में वह अवश्य विजयी होगा। सबके प्रति सद्भावना रखकर प्रेममय सेवा और कष्टसहन के द्वारा सत्य की साधना करने के लिए ही सत्याग्रही का जीवन अर्पित रहता है।

गांधीजी के इस जीवन-क्रम से कि दूसरों पर मुसीबत डालने के बजाय स्वयं ही मुसीबत उठा लेने और उसके द्वारा सामाजिक झगड़े मिटाने के लिए ही सत्याग्रह तत्त्व उदित हुआ है। यूरापीय लेखक जिसे 'ईसाई नीतिशास्त्र' के नाम से पुकारते हैं उसका उपयोग सबसे पहिले गांधीजी ने ही सार्वजनिक व्यवहार तथा राजनैतिक झगड़ों के लिए किया है। चाहे अफ्रिका और हिन्दुस्तान के ईसाई राज्याधिकारी उनकी महत्ता को मानें या न मानें लेकिन वे अन्त तक अपने मार्ग पर दृढ़ रहे हैं। अपनी 'केस फार इण्डिया' नामक पुस्तक में विलडुरण्ड ने लिखा है—"हिन्दुस्तान का स्वतन्त्रतासंग्राम ईसाई विचारधारा की व्यावहारिकता को आज़माने के लिए किये हुए एक विशाल प्रयत्न का ही द्योतक है। यदि हिन्दुस्तान विजयी हुआ तो ईसाई विचारधारा को (इसीसे हमारा मतलब ईसा का नैतिक ध्येय है) सारे संसार में आदर का स्थान प्राप्त हो जायगा और सौजन्य तथा शान्ति का यश सारे संसार में इस प्रकार फैल जायगा कि 'न भूतो न भविष्यति'।"

हिन्दुस्तान ने स्वराज्य के अपने तात्कालिक ध्येय पथ में एक बहुत बड़ी मञ्जिल तय कर ली है। तो भी अभी उसे इस कार्य में पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हुई है। स्थान-स्थान पर बड़े पुराने एवं दुराग्रही अन्यायों का भी परिमार्जन कराने में सत्याग्रह ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त करली है। लेकिन आक्रमण अथवा साम्प्रदायिक दंगों के प्रतिकार के लिए अभी तक इस साधन का प्रयोग नहीं किया गया है। उसके तथा उसके जैसे अन्य मामलों के सम्बन्ध में अभी इस तन्त्र का विकास होना बाकी है। सत्याग्रह के शस्त्रागार में उपवास भी एक शस्त्र है। आज तक व्यक्तिगत मामलों में उसका प्रयोग किया गया है और उस कसौटी पर वह खरा भी उतरा है। लेकिन अभी सामूहिक रूप में उसका प्रयोग होना बाकी है। यदि शस्त्र के रूप में उपवास का और विकास होना है तो अवश्य ही सामूहिक उपवास उसकी एक मंजिल होगी दूसरे सारे उपाय असफल सिद्ध होने पर ही सत्याग्रही आत्म-समर्पण करने को तैयार होता है और परिणाम की जुम्मेदारी ईश्वर पर छोड़कर ईश्वर अथवा सत्य में पूरी तरह तन्मय हो जाता है। उपवास करने वाला जिस समाज की इकाई है यदि उस समाज को उसकी आवश्यकता होगी तो उस उपवास से कोई-न-कोई रास्ता निकलना ही चाहिए। और अक्सर ऐसा रास्ता निकल भी आता है। यदि जनता अपने को अत्यन्त प्रिय लगने वाले किसी सत्य के लिए जिसके लिए कि वह प्राणों तक की कीमत देने को तैयार है उपवास करने लगेगी तो उसका परिणाम भी उपर्युक्त व्यक्तिगत उपवास की तरह ही होगा। जिस सत्य को लोग पवित्र मानते हैं जब वह खतरे में हो तो जीवित रहने में भी सार नहीं मालूम होगा। किसी खास अन्याय के लिए जुम्मेदार व्यक्ति पर और साधारण दुनिया पर ऐसे सामूहिक उपवास का जो परिणाम होगा उसी पर ऐसे उपायों की सफलता का अनुपात अवलम्बित रहेगा। इसके साथ ही उपवास के मूल में रहने वाली न्यायोचितता,-शुद्ध हेतु, एवं उसका अवलम्बन करने वाले व्यक्ति

की विशुद्धता पर भी वह अवलम्बित रहेगा। यदि जेल के कैदियों को छोड़ दें तो किसी विशेष अन्याय के विरुद्ध लड़ने के लिए एक बड़ी संख्या में इस प्रकार के उपवास का मार्ग अपना लेने का उदाहरण आज तक दिखाई नहीं देता।

जो सत्याग्रह को सशंक दृष्टि से देखते हैं उन्हें ऐसा लगता है कि जब गांधीजी हमारे बीच में नहीं रहेंगे तब सत्याग्रह का बहुत थोड़ा महत्त्व रह जायगा। वे कहते हैं कि गांधीजी की प्रगाढ़ श्रद्धा एवं असाधारण व्यक्तित्व के कारण ही सत्याग्रह की इतनी प्रगति हो सकी है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज सत्याग्रह गांधीजी के व्यक्तित्व पर ही टिका हुआ है लेकिन यह बात भी उतनी ही सत्य है कि उनके व्यक्तित्व का महत्त्व इसी बात में है कि वे कट्टर सत्याग्रही हैं। गांधीजी की वजह से सत्याग्रह आगे नहीं आया है बल्कि सत्याग्रह की वजह से गांधीजी आगे आये हैं। उनका व्यक्तित्व सत्याग्रह से पृथक् अथवा भिन्न नहीं है। वे सत्याग्रह के प्रणेता हैं फिर भी यह बात नहीं है कि उनके जाते ही सत्याग्रह अनाथ हो जायगा। यदि यह प्रश्न उठे कि उन दोनों में किसका उपकार किसके ऊपर है तो यह कहने के बजाय कि गांधीजी का उपकार सत्याग्रह के ऊपर है यही कहा जायगा कि सत्याग्रह का उपकार गांधीजी पर है। सत्याग्रह अपने खुद के गुणों से ही तरेगा या मरेगा। उसकी व्याप्ति आचरण और लोकप्रियता समय-समय पर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर ही अवलम्बित रहेगी। मुख्य प्रश्न तो यह है कि लोगों को जिस बात की जबरदस्त और महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है वह इससे पूरी होती है या नहीं। यदि वह पूरी होती है तो सत्याग्रह का टिके रहना और उसका विकास होना अनिवार्य है फिर चाहे गांधीजी रहें या न रहें। सिद्धान्त हमेशा ही उसको खोजने वाले अथवा उस पर चलने वाले व्यक्ति की अपेक्षा श्रेष्ठ रहता है। अनेकों गांधी और ईसा की अपेक्षा सत्याग्रह श्रेष्ठ है। सत्याग्रह शाश्वत है। लेकिन जिस मात्रा में गांधीजी ने सत्याग्रह का दर्शन कराके उसे अपने

जीवन में उतारा है उसी मात्रा में वह शाश्वत है, ऐसा कहा जा सकता है।

सत्याग्रह के सम्बन्ध में शंकाशील लोग एक दूसरा मुद्दा यह उपस्थित करते हैं कि सत्याग्रह का अवलम्बन केवल असहाय और दुर्बल व्यक्ति ही करते हैं। संसार के शक्तिशाली लोग कभी उसका अवलम्बन नहीं करते। उनका कहना यह है कि जहां तक सशक्त और सामर्थवान लोगों का सम्बन्ध है सत्याग्रह का भविष्य उज्ज्वल नहीं है। इस प्रकार वे गांधीजी के इस कथन को स्वीकार नहीं करते कि—'सत्याग्रह बलवान का हथियार है।' यदि हम उनका कहना मान भी लें कि जहाँ तक कमजोर लोगों का सम्बन्ध है उसका भविष्य उज्ज्वल है तो भी वह कोई छोटी-सी चीज़ नहीं है। क्योंकि ज़्यादातर कमजोरों के लिए ही ऐसे मार्ग की ज़रूरत होती है। यदि आज तक वे अपने को निःसहाय अनुभव करते थे और अब सत्याग्रह के द्वारा वे यह अनुभव करें कि वे अपनी परिस्थिति सुधारने के लिए और अपने स्वाभिमान को बढ़ाने के लिए कुछ कर सकेंगे तो एक बड़ा काम हो गया। यह बात उतने ही महत्त्व की है जितना कि क्षय रोग का इलाज ढूंढ़ निकालना है। असहायता मनुष्य को पस्तहिम्मत करनेवाली एक मानसिक बीमारी ही है। आशा और विश्वास ये दो इस रोग की शक्तिवर्धक औषधियाँ हैं। उनकी सहायता के लिए इस असहायता से लड़कर उसके पंजे से अपना छुटकारा करा लेने का हथियार यदि उनके हाथ लग जाय तो इस हथियार का भविष्य उज्ज्वल ही होगा। इसी तरह यह भी हम बेधड़क होकर नहीं कह सकते कि जिन सशक्त और सामर्थवान लोगों के पास शस्त्रास्त्र हैं और जिन्हें तेज करने की शक्ति भी उनके पास है वे सत्याग्रह का अवलम्बन कभी भी नहीं करेंगे।। यदि शान्त वृत्ति के हिन्दू ही सत्याग्रह की ओर आकर्षित होते तो बात दूसरी थी; लेकिन हमने यह देख लिया है कि रणशूर सिक्ख भी इस शस्त्र का अच्छी तरह प्रयोग कर सकते हैं। इसी प्रकार हमने यह भी देख लिया है कि

हिन्दुस्तान की पश्चिमोत्तर सीमान्त की पहाड़ियों के निवासी तगड़े और बलवान मुसलमान पठानों को भी यह पसन्द आया है और उन्होंने तलवार का तथा बदले की भावना का परित्याग करके अहिंसा को अंगीकार किया है। इन दो उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि पूर्वोक्त कथन निरपवाद हो सो बात नहीं है। अलबत्ते, सत्याग्रह का अवलम्बन सदैव ही शरीर या मन की शक्ति अथवा कमजोरी पर अवलम्बित न रहना चाहिए और वह ऐसा रहता भी नहीं है। अन्तिम सुपरिणाम, साध्य-साधन सम्बन्ध, उच्च संस्कृति, मानवी विचार-प्रवाह व्यावहारिकता तथा हानि-लाभ से ही उसके प्रयोग की अच्छाई-बुराई निश्चित की जाती है। यदि पूरी तरह विचार करने के बाद कोई इस नतीजे पर पहुँचे कि हिंसा-मार्ग ही अच्छा है तो उसे ग्रहण करने के लिए वह स्वतन्त्र है। इतना ही नहीं, वह उसका कर्तव्य होगा। लेकिन यदि उनकी समझ में यह बात आ जाय कि अहिंसा मार्ग ही अच्छा है तो चाहे वह कमजोर हो चाहे बलवान, चाहे सशस्त्र हो चाहे निःशस्त्र, उन्हें उसके लिए अपनी तैयारी करनी चाहिए। और चाहे कुछ भी क्यों न हो उसीका पल्ला उसे पकड़ना चाहिए।

यह है सत्याग्रह की पृष्ठभूमि। आइये, अब उसके भविष्य पर थोड़ी दृष्टि डालें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भविष्य के सम्बन्ध में बोलना बड़ा कठिन है। सत्याग्रह का पूर्व इतिहास उज्ज्वल है। उसकी वर्तमान प्रगति जोरदार है, उसका भविष्य आशा-जनक है लेकिन वह कुछ महत्त्वपूर्ण प्रत्यक्ष घटनाओं पर ही अवलम्बित रहेगा।

जबतक संसार युद्धों से ऊब न जायगा उसे एक-दूसरे को कत्ल करने के निष्फल प्रयत्नों से घृणा न होगी और लोगों के दिल से लड़ाई का मोह कम न होगा तबतक प्रेम और अहिंसा का मार्ग आकर्षक नहीं प्रतीत होगा। लेकिन जबतक शान्ति एवं शान्तिपूर्ण मार्ग के लिए लोगों के दिल में बेचैनी न होगी, इस आकर्षण के विफल होने की संभावना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बड़े-बड़े विचारशील

दार्शनिक और धर्मोपदेशक शान्तिपूर्ण मार्ग की प्रस्थापना के लिए प्रयत्न कर रहे हैं; लेकिन अभी तक उनका प्रयत्न भावनात्मक और सुधारवादी ही है। अभी उनमें हिंसा की शक्ति के सामने खड़े रहने की ताक़त नहीं है। उनके देशों में जो लोग युद्ध के लिए जिम्मेवार हैं उनके विरुद्ध उनका प्रयत्न ढीला-ढाला है। लेकिन यह संतोष का विषय है कि अब युद्ध का विरोध करने वालों की संख्या बढ़ती जा रही है। यह निश्चित है कि जबतक ऐसे लोग अपना संगठन करके सीधी कार्रवाई करने के लिए तैयार न होंगे तबतक वे आज के सत्ताधारियों को उखाड़ नहीं सकेंगे।

जहाँ एक बार शान्तिपूर्ण प्रत्यक्ष प्रतिकार की सच्ची मांग हुई कि उस सिद्धान्त के प्रसार में कठिनाई न होगी। आज इस नये मार्ग का काफी प्रदर्शन हो चुका है। दुनिया भर के लोग इस प्रदर्शन से परिचित हो चुके हैं। हाँ उसके और भी प्रसार की आवश्यकता है। इस तन्त्र का आज इतना विकास हो चुका है कि साधारण बुद्धि का व्यक्ति इसे समझ सकता है। यह सौभाग्य की बात है कि सत्याग्रह के प्रणेता, प्रयोगकर्त्ता, प्रदर्शन करने वाले और विशेषज्ञ गांधीजी आज भी तत्सम्बन्धी शंकाओं का निराकरण करने के लिए, भूलों का सुधार करने के लिए तथा गलतफहमियों को दूर करने के लिए हमारे बीच में मौजूद हैं। आज भी उनका प्रयोग चालू है और संभव है कि वे उसमें और भी महत्त्वपूर्ण वृद्धि करें।

पाश्चात्य देशों का जीवन अधिक सतेज एवं क्रियाशील है। अतः यह संभव है कि वहां सत्याग्रह शास्त्र की प्रगति उसकी जन्मभूमि भारतवर्ष की अपेक्षा ज्यादा तेजी से हो। हो सकता है कि आध्यात्मिक-परंपरा और प्राचीन संस्कृति के कारण हिन्दुस्तान इस महान् सिद्धान्त के जन्म और रूप ग्रहण करने के लिए ही अनुकूल सिद्ध हो। लेकिन एक बार इस पद्धति के प्रचलित हो जाने पर जिनको इस मार्ग से जाने की इच्छा होगी वे सब इसका उपयोग कर सकेंगे और दूसरों के

मार्ग में भी बाधा पड़ने का कोई कारण नहीं रहेगा। क्योंकि मानव मनोविज्ञान के आधार पर ही सत्याग्रह की रचना हुई है और सभी जगह मानवी मन लगभग एक-सा ही होता है।

यदि हम मानव और मानवरचित संस्थाओं के विकास पर दृष्टि डालें तो मालूम होता है कि मानवी प्रवृत्ति हिंसा के विरुद्ध है और मानव धीरे-धीरे अहिंसा की ओर बढ़ रहा है। यदि यही क्रम चालू रहा तो कोई कारण नहीं कि भविष्य में मानवी झगड़ों को मिटाने वाली संस्थाओं में सत्याग्रह को अत्यन्त आदरणीय स्थान प्राप्त न हो। अनेक शताब्दियों से मानवी जीवन में जीवन-क्रम के रूप में सत्याग्रह को एक शाश्वत एवं प्रभावशाली स्थान प्राप्त है; लेकिन यहाँ हमारी दृष्टि में यदि कोई महत्त्व की बात है तो वह है सामाजिक हथियार के रूप में सत्याग्रह का प्रयोग। यदि राष्ट्र के सामाजिक झगड़ों को मिटाने के लिए सत्याग्रह एक हथियार के रूप में पाश्चात्य समाज में स्थान प्राप्त कर ले तो सफलता के मार्ग में एक बड़ी मंजिल तय कर ली। कोई प्रस्थापित सरकार किसी भी उल्लेखनीय हिंसक संगठन को ज्यादा देर तक सहन नहीं कर सकती और जब सारे वैधानिक मार्ग असफल सिद्ध हो जाते हैं तब सुधारवादियों के लिए मन-ही-मन जल-भुनकर हाथ मलते रहने के अलावा कोई रास्ता नहीं रहता; लेकिन यदि सुधारवादी लोग उचित तैयारी के बाद इस अहिंसक प्रत्यक्ष प्रतिकार का मार्ग अपना लें तो किसी भी मानव-समूह, संस्था या सरकार के ऊपर उनका काफी नैतिक प्रभाव पड़े बिना न रहेगा। यह संतोष का विषय है कि रोमाँ रोलाँ, एन्स्टाइन, जोड, अल्डुस हक्सले, जरोल्ड हर्ड जैसे बड़े-बड़े विचारक अहिंसक प्रतिकार की दिशा में विचार करने लगे हैं। अल्डुस हक्सले की पुस्तक 'एन्डस् एन्ड मीन्स्' के पृष्ठ-के-पृष्ठ गांधीवादी सत्याग्रह पद्धति के स्पष्टीकरण से भरे पड़े हैं। रिचर्ड ग्रेग की 'पावर आफ नान व्हायलेन्स' तो मानो सत्याग्रह, उसकी व्याप्ति, तन्त्र तथा उसके अनुशासन के ऊपर एक प्रबन्ध ही है। ऐसी

पुस्तकों से यह स्पष्ट होता है कि पाश्चात्य विचारक इस महत्त्वपूर्ण विषय के अध्ययन की ओर झुक रहे हैं; परन्तु इतने ही से बहुत आशावादी होने की ज़रूरत नहीं है। हमें अन्तिम आधार तो हिन्दुस्तान में इस पद्धति की होने वाली पूर्ण विजय पर ही रखना चाहिए। ऐसी विजय होने पर ही दुनिया के सब निष्ठावान सुधारक, अथक क्रान्तिकारी तथा स्वयं स्फूर्ति से लड़ने को तैयार रहने वाले लोग सत्याग्रह को मूक, प्रभावी और कार्यक्षम हथियार के रूप में स्वीकार करेंगे।

: १६ : Photo.

गांधीजी के व्यक्तिगत और कौटुम्बिक सत्याग्रह

सत्याग्रह-शास्त्र अब भी प्रगति कर रहा है और उसके प्रवक्ता के मतानुसार वह अब भी प्रयोगावस्था में ही है। अतः सत्याग्रह के सारे उदाहरण अभी प्रयोगात्मक ही कहे जा सकते हैं। यहांतक सत्याग्रह की तत्त्व-प्रणाली और उसके भिन्न-भिन्न पहलुओं पर विचार हुआ। अब आगे के अध्यायों में उन सत्याग्रहों का वर्णन किया जायगा जो भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में किये गये हैं। सामूहिक रूप से किये गये सत्याग्रहों तथा भिन्न-भिन्न समूहों के द्वारा किये हुए सत्याग्रहों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, अतः अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से भिन्न-भिन्न प्रकार के सत्याग्रह अलग-अलग स्वतन्त्र अध्यायों में दिये गये हैं।

गांधीजी सत्याग्रह को जीवन-धर्म मानते हैं। वे इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि वह निःशस्त्र प्रतिकार से एकदम भिन्न है। अतः जीवन के सारे क्षेत्रों में तथा अपने बिलकुल निकट के और प्रिय व्यक्तियों के विरुद्ध भी उसका अवलम्बन किया जा सकता है। वस्तुतः यह सत्याग्रह की खास विशेषता है। जिसने कौटुम्बिक क्षेत्र में उसका अवलम्बन नहीं किया है अथवा जो उसमें असफल सिद्ध हुआ है

उसके लिए दूसरे क्षेत्रों में उसका उपयोग करना कठिन होगा।

× × ×

जब गांधीजी १५ वर्ष के ही थे तो विद्यार्थी अवस्था में ही कुसंगति में पड़कर बीड़ी पीने और चोरी करने की बुरी आदतों के शिकार हो गये। इसीमें उनके भाई पर कर्ज भी हो गया। बालक मोहनदास गांधी ने अपने भाई के एक कड़े का टुकड़ा चुराकर भाई का कर्ज चुकाया; लेकिन उनके दिल को इस चोरी से ज़बरदस्त धक्का लगा। सत्यप्रियता के कारण जल्दी ही उनकी आँखें खुलीं और उन्होंने अपने पिता को एक पत्र लिखकर सारा अपराध स्वीकार कर लिया और उसी पत्र में ग़लती का प्रायश्चित करने की सारी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ले ली। इस पत्र से उनके बीमार पिता गद्गद् हो गये। गांधीजी लिखते हैं कि—"मेरा पाप उनके प्रेमाश्रुओं से धुलकर साफ हो गया।" प्रेमी पिता ने उनका सारा अपराध क्षमा कर दिया।

× × ×

बैरिस्टरी की परीक्षा पास करके जुलाई सन् १८९१ में जब वे हिन्दुस्तान लौटे तब उन्हें जाति से बहिष्कृत कर दिया गया। जाति के विरोध की परवाह न करके उन्होंने विलायत जाने का साहस किया था। जाति के नियमों के अनुसार उन्हें अपने साले-बहनोई के घर पानी पीने की भी इजाजत नहीं थी। उन्होंने इस नियम का बड़ी कड़ाई के साथ पालन किया। रिश्तेदारों के आग्रह करने पर भी चोरी-चोरी उसका भंग नहीं किया। इतना कष्ट सहन करके भी उन्होंने अपनी जाति के बड़े-बूढ़ों के प्रति सद्भाव बनाये रखा। इससे लोगों के विरोध की तीव्रता कम होती गई और यद्यपि जाति ने उनपर से प्रतिबन्ध नहीं उठाया और गांधीजी ने भी उसकी मांग नहीं की—फिर भी उनके अनेक संकटपूर्ण कार्यों में उनसे मदद मिलती गई।

× × ×

इसके बाद का उदाहरण है उनका उपवास, जो कि उन्होंने सन्

१९१३ में दक्षिण अफ्रीका के फोनिक्स पार्क में अपने सहयोगियों के नैतिक पतन के प्रायश्चित्त स्वरूप किया था। वहां अपराध दो आश्रम-वासियों से हुआ था। जब गांधीजी को उस घटना का हाल मालूम हुआ तो उन्होंने यह विचार किया कि जब उनके आश्रम में ऐसी घटना हुई है तो वे स्वयं उसकी जिम्मेवारी से बरी नहीं हो सकते। उन्होंने आत्मशुद्धि के लिए तथा प्रायश्चित्त-स्वरूप पाँच दिन का उपवास किया; लेकिन उन्होंने दूसरों को इस प्रकार के उपवास के लिए उत्साहित नहीं किया और न उन्होंने सब लोगों को यही उपाय सुझाया। वे कहते हैं कि यदि उपवास करनेवाले व्यक्ति के दिल में तीव्र संवेदना हो, भूल करने वाले के साथ अत्यन्त निकटता का सम्बन्ध हो और जिसके लिए उपवास किया जाता है उस व्यक्ति के दिल में उपवास करने वाले के प्रति अत्यन्त आदर हो तभी इस प्रकार का उपवास समर्थनीय होगा। यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि गांधीजी के उपवास के परिणाम स्वरूप फोनिक्स पार्क का सारा वाता-वरण शान्त हो गया।

× × ×

सन् १९१९ के कौटुम्बिक सत्याग्रह का उदाहरण कस्तूरबा से सम्बन्ध रखता है। आपरेशन के बाद कस्तूरबा रक्तस्राव से पीड़ित थीं। गांधीजी ने जल-चिकित्सा शुरू की। उन्होंने कस्तूरबा से कुछ दिनों के लिए दाल और नमक छोड़ने के लिए कहा। कस्तूरबा को गांधीजी के वैद्यकी ज्ञान पर बहुत विश्वास नहीं था। अतः गांधीजी के बहुत आग्रह करने पर भी कस्तूरबा ने उसके लिए साफ इन्कार कर दिया। जब गांधीजी बहुत ही आग्रह करने लगे तो कस्तूरबा ने चिढ़कर कहा—"यदि डाक्टर आपसे भी नमक छोड़ने के लिए कहे तो आप भी नहीं छोड़ेंगे।" गांधीजी के लिए यह चुनौती ही थी। उन्होंने इसे स्वीकार किया और कहा "आगामी एक वर्ष तक मैं दाल और नमक को स्पर्श तक नहीं करूंगा।" कस्तूरबा के लिए यह एक बड़ा

आघात था। उन्होंने इसके लिए क्षमा मांगी और कहा कि वे इन चीज़ों को छोड़ने के लिए तैयार हैं। इन चीज़ों को न छोड़ने के लिए उन्होंने गांधीजी से बहुत अनुनय-विनय की लेकिन गांधीजी अपने शब्दों पर डटे रहे और वह भी दस वर्षों तक। कहना न होगा कि कस्तूरबा ने भी उनका अनुकरण किया। उनके स्वास्थ्य पर इसका ठीक ही असर हुआ और गांधीजी को भी उससे किसी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ।

गांधीजी ने इस घटना का उल्लेख अपने जीवन की एक मधुरतम स्मृति के रूप में किया है।

× × ×

दूसरे लोगों तथा अधिकारियों के विरुद्ध गांधीजी ने जो व्यक्तिगत सत्याग्रह किये उनके उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं।

सन् १८९३ में दक्षिण अफ्रीका में डरबन पहुँचने के बाद एक सप्ताह के अन्दर ही उन्हें प्रिटोरिया जाना पड़ा। उनके पास फर्स्टक्लास का टिकिट था। लेकिन मोरिट्सबर्ग में रेलवे अधिकारियों ने उनसे डब्बा छोड़कर थर्ड क्लास में जाने के लिए कहा। गांधीजी ने डब्बा छोड़ने से इन्कार कर दिया। इसपर पुलिस के द्वारा उन्हें बोरिया-बिस्तर के साथ बाहर निकाल दिया गया। गाड़ी चली गई। उन्होंने रात ठंड में ठिठुरते हुए दक्षिण अफ्रीका के भारतीय लोगों की परिस्थिति पर विचार करते-करते बिता दी।

× × ×

इसी प्रवास में उन्हें एक और कटु अनुभव हुआ। कुछ यात्रा उन्हें टमटम के द्वारा करनी थी; लेकिन चूंकि दूसरे लोग साथ थे अतः उन्हें टमटम के अन्दर जगह नहीं मिली। गाड़ीवान के पास की एक पेटी पर उन्होंने अपना आसन जमाया। उनका यह प्रवास शुरू हुआ ही था कि गाड़ीवान को सिगरेट पीने की लहर आई और उसने उनसे वह जगह छोड़कर पैर रखने की जगह बैठने के लिए कहा।

गांधीजी ने शान्ति के साथ लेकिन उतने ही निश्चय के साथ कहा—"नहीं।" इसपर कण्डक्टर ने नाराज़ होकर उनको चाटा रसीद किया; लेकिन वे कटड़े को मज़बूती से पकड़कर उससे चिपटे हुए वैसे ही बैठे रहे। दूसरे चाटे ने उन्हें करीब-करीब नीचे गिरा दिया। यह देख-कर दूसरे यात्रियों ने बीचबचाव किया और कण्डक्टर को रोका। इस प्रकार गांधीजी ने अपनी जगह नहीं छोड़ी। गाड़ीवान के इस उद्दण्डतापूर्ण व्यवहार पर भी उनके मन में उसके प्रति दुर्भावना पैदा नहीं हुई। इतना ही नहीं बल्कि कोई कानूनी इलाज करने की कल्पना भी उनके मन में नहीं आई।

× × ×

इसके बाद दूसरी घटना है सन् १८९४ की जबकि प्रिटोरिया में प्रेसीडेन्ट क्रूगर के बँगले के सामने फुटपाथ पर उनको ढकेल दिया गया था। पहरे वाले ने उनको इसलिए ढकेल दिया था कि नियमानुसार उस फुटपाथ पर किसी भी काले आदमी के जाने की प्रथा न थी। उसी रास्ते से घोड़े पर बैठकर गांधीजी के एक यूरोपियन मित्र श्री कोट्स जा रहे थे। उन्होंने यह सब देखा। उन्होंने गांधीजी से कहा—"आप अदालत में दावा कर दीजिये, मैं गवाही दूँगा।" लेकिन गांधीजी ने बदला लेने से इन्कार कर दिया। श्री कोट्स ने उस पहरे-दार को डांटा तब उसे भी पश्चात्ताप हुआ।

× × ×

अगली घटना एक उद्दण्ड न्याय का उदाहरण ही है। थोड़े-से समय हिन्दुस्तान में रहकर सन् १८९७ में गांधीजी डरबन लौट गये। उनके ऊपर हिन्दुस्तान में दक्षिण अफ्रीका के यूरोपियन लोगों के विरुद्ध बुरा प्रचार करने का आरोप लगाया गया। इसके साथ ही उन-पर यह भी आरोप लगाया गया कि वे दक्षिण अफ्रीका को हिन्दुस्तानियों से भर देने की साज़िश कर रहे हैं। ये दोनों आरोप झूठे थे; लेकिन जनता को इससे क्या मतलब? किनारे पर पैर रखते ही भीड़

ने कानून हाथ में लेकर अत्याचार करने की शुरुआत कर दी। सब पेशों के मिलकर ३००० से भी ज्यादा लोग वहां जमा हो गये। फिर भी डरबन के पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट की पत्नी श्रीमती अलेक्जेएडर ने बड़ा साहस दिखाया और गांधीजी को बचा लिया। इतना होने पर भी गांधीजी ने किसीके विरुद्ध मुकदमा चलाने से इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा—"लोगों को कुछ ग़लतफ़हमी हो गई है; लेकिन समय आने पर सचाई प्रकट हुए बिना न रहेगी।"

× × ×

एक बार उन्हें अपने खुद के अनुयायियों के हाथों ही कष्ट सहना पड़ा। सन् १९०६ में दक्षिण अफ्रीका में पहिले सत्याग्रह के अन्त में जनरल स्मट्स के शब्दों पर विश्वास करके गांधीजी ने सत्याग्रह स्थगित करना स्वीकार कर लिया और अपनी मर्जी से अंगूठे का निशान दे दिया। लेकिन मीरअलीम तथा अन्य पठान मित्रों के विचार में यह विश्वासघात था। अतः जिस समय गांधीजी निशान देने के लिए निकले उस समय मीरअलीम ने उन्हें रोका और मारते-मारते बेदम कर दिया। लेकिन गांधीजी ने उसके विरुद्ध कानूनी कार्रवाई करने से इन्कार कर दिया और जब स्वतन्त्र रूप से सरकार की ओर से ही मुकदमा चलाया गया तो वे गवाही देने के लिए भी नहीं गये। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इसके बाद मीरअलीम उनका एक कट्टर अनुयायी और भक्त बन गया।

× × ×

उनके ऊपर कोर्ट का अपमान करने का मुकदमा चलाया गया। (१२-३-२०) अहमदाबाद के डिस्ट्रिक्ट जज ने हाइकोर्ट को एक पत्र लिखकर सत्याग्रह के प्रतिज्ञा-पत्र पर दस्तखत करने वाले तीन वकीलों की सनद जप्त करने की इजाजत मांगी थी। गांधीजी ने इसकी आलोचना की। इसपर बम्बई हाइकोर्ट ने उनसे मांफी मांगने के लिए कहा; लेकिन गांधीजी ने माफी मांगने से इन्कार कर दिया और यह सफाई

दी कि (अदालत के एक ज़ेर तजवीज मुकद्मे पर टीका करना) एक राजनैतिक या सामाजिक लेखक के नाते मेरा कर्तव्य है और वे उसके लिए सजा भुगतने को तैयार हैं। हाईकोर्ट ने उन्हें दोषी ठहराया। फिर भी उन्होंने अदालत की आज्ञा नहीं मानी; लेकिन अदालत ने उनको इस व्यवहार के लिए कोई सजा नहीं दी।

× × ×

चम्पारन में मोतीहारी के मजिस्ट्रेट ने जिला छोड़कर चले जाने की आज्ञा दी। तब गांधीजी ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्यक्तिगत सत्याग्रह किया। उस जिले के किसानों की वर्षों से जो शिकायत चली आ रही थी उसीकी जांच करने के लिए वे वहां गये थे। यह बात १७ अप्रैल सन् १९१७ की है जब कि वे मोतीहारी पहुँचे थे। उनसे कहा गया कि उनकी उपस्थिति से सार्वजनिक शांति भंग होने और गंभीर झगड़ा होने की आशंका है अतः उन्हें शीघ्र ही लौट जाना चाहिए। उस समय का गांधीजी का उत्तर विशेषतापूर्ण था। उन्होंने कहा—"मैं यहाँ सच्ची हक़ीकत जानने के लिए आया हूं।" और उन्होंने जाने से इन्कार कर दिया। उन्होंने बताया कि अधिकारियों की आज्ञा भंग करने से जो कुछ सजा मिल सकती है वे उसे भोगने के लिए तैयार हैं। इसपर मुकदमा चलाया गया लेकिन उन्हें सजा नहीं हुई और अन्त में वह आज्ञा उठा ली गई।

इस प्रकार के उदाहरण गांधीजी के जीवन में सर्वत्र बिखरे पड़े हैं। यहां इस प्रकार के और भी उदाहरण दिये जा सकते थे; लेकिन कुछ चुने हुए उदाहरण ही दिये गये हैं।

: १७ :

गांधीजी के सत्याग्रह आन्दोलन

आइये अब दक्षिण अफ्रीका तथा हिन्दुस्तान के कुछ महत्त्वपूर्ण सत्याग्रह आन्दोलनों पर दृष्टि डालें। इनमें पहिला और सबसे ज्यादा

महत्त्व का सत्याग्रह आन्दोलन है दक्षिण अफ्रीका का जो कि लगभग ८ वर्षों तक चलता रहा। उससे केवल ब्रिटिश साम्राज्य का ही नहीं बल्कि सारे संसार का ध्यान सत्याग्रह की ओर गया। इस आन्दोलन की प्रेरणा गांधीजी की ही थी और अन्त तक उन्हींके नेतृत्व में वह चलता रहा था। इसी सत्याग्रह आंन्दोलन में ही उन्होंने अपनी सत्याग्रह-पद्धति का करीब-करीब विकास किया था, अतः उसका बारीकी से अध्ययन करना आवश्यक है।

किसी भी आन्दोलन का शुरू से आखिर तक वर्णन करने के लिए न यहाँ स्थान है न उसका प्रसंग ही है। फिर भी हम यहाँ प्रत्येक आन्दोलन के महत्त्वपूर्ण अंगों पर प्रकाश डालना चाहते हैं। उदाहरणार्थ सत्याग्रह का काल और स्थल, उससे सम्बन्धित पक्ष अथवा सत्याग्रह जिन शिकायतों को लेकर चला उनसे सम्बन्धित सवाल, सत्याग्रह का स्वरुप और सत्याग्रहियों द्वारा योजित उपाय, प्रतिपक्ष की प्रतिक्रियाएँ और अन्त में उसका परिणाम तथा उसकी आवश्यक व्याख्या आदि कुछ थोड़ी-सी बातें ही यहाँ दी जा रही हैं।

स्वाभाविक रूप से ही हम यहाँ दक्षिण अफ्रीका के आन्दोलन को जरा विस्तार से दे रहे हैं।

गांधीजी का पहिला सामूहिक सत्याग्रह दक्षिण अफ्रीका के अंग्रेजी उपनिवेश में हुआ। सन् १८६४ के बाद साधारणतः एशियावासियों का और खासकर हिन्दुस्तानियों का व्यवस्थित आन्दोलन अपनी शिकायतें दूर करवाने के लिए हुआ। नेटाल की धारासभा में एक इस आशय का कानून विचारार्थ—उपस्थित किया गया कि एशियावासी होने के कारण एशियावालों को मतदान का अधिकार न दिया जाय। उसका विरोध करने के लिए एक बड़े सामूहिक प्रार्थना-पत्र पर १० हजार लोगों के हस्ताक्षर करवाकर उपनिवेश मन्त्री की सेवा में पेश किया गया। नेटाल धारासभा में प्रस्ताव पास हो गया; लेकिन उपनिवेश मन्त्री की स्वीकृति न मिलने के कारण वह कानून न बन सका।

जिन लोगों ने आन्दोलन शुरू किया था उनके लिए यह कम संतोष की बात नहीं थी।

लेकिन इसके अलावा और भी सामाजिक तथा कानून-सम्बन्धी शिकायतें थीं। इनमें से बहुत-सी शिकायतें जातिद्वेष, वर्णद्वेष, अथवा एशियावासियों के प्रति यूरोपियन लोगों की ईर्ष्या के आधार पर टिकी हुई थी। मुसलमानों ने तो अपने को अरब कहलाना पसंद कर लिया; लेकिन उनके अलावा और सब हिन्दुस्तानियों को 'कुली' अथवा 'हम्माल' कहा जाता था। क्योंकि ये ही पहले हिन्दुस्तानी थे जो गिरमिट में बँधकर वहाँ गये थे। स्वयं गांधीजी को भी कुली बैरिस्टर कहा जाता था। नेटाल की सोसायटी ने वस्तुतः वर्ण के आधार पर ही एक बैरिस्टर के रूप में उनका नाम दर्ज करने का विरोध किया था। लेकिन उसका यह विरोध सफल नहीं हुआ। हिन्दुस्तानियों को रेलवे स्टेशन के मुख्य द्वार से प्रवेश करने की बन्दी थी। उनको ऊँचे दर्जे के टिकिट लेने में भी कठिनाई होती थी। यदि टिकिट मिल भी जाता तो ऊँचे दर्जे के डिब्बों में जगह मिलना कठिन हो जाता था; क्योंकि उनको अपने बराबरी के प्रवासी मानकर डिब्बे में बिठाने के लिए थोड़े-से यूरोपियन ही तैयार होते थे। उन्हें किसी भी समय डिब्बे से बाहर निकाल दिया जा सकता था या तीसरे दर्जे के डिब्बे में बैठने के लिए कहा जा सकता था। इस बात पर विचार ही नहीं किया जाता था कि उन्होंने ऊँचे दर्जे का किराया दिया है। सन् १८९३ में मॅरिट्ज़बर्ग में स्वयं गांधीजी को भी यही कटु अनुभव हुआ था। उसी प्रवास में पांडिबर्ग में अपनी जगह न छोड़ने के कारण उन्हें एक डच कन्डक्टर की मार खानी पड़ी थी। उस समय का अनुभव और भी कटु था। एक बार गांधीजी जोहान्सबर्ग में ग्रेण्ड नेशनल होटल में ठहरने के लिए गये। लेकिन काले होने के कारण उन्हें ठहराने से इन्कार कर दिया गया। जब वे प्रिटोरिया में थे तब प्रेसीडेन्ट क्रूगर के बँगले के सामने फुट-पाथ पर से जाते हुए पहरेदार ने उन्हें ठोकर मारकर गिरा

दिया था; क्योंकि किसी भी काले आदमी के लिए उस फुटपाथ पर चलना मना था। १३ जनवरी सन् १८९७ के दिन जब गांधीजी हिन्दुस्तान से डरबन लौटे तो यूरोपियन भीड़ ने उन्हें बेदम मारा। उनके ऊपर यह आरोप लगाया गया था कि उन्होंने हिन्दुस्तान में दक्षिण अफ्रीका के यूरोपियनों की बदनामी की है और वे दक्षिण अफ्रीका में अपने हिन्दुस्तानी लोगों को भर देना चाहते हैं। योगायोग ऐसा हुआ कि उसी दिन 'कुर्लंड' तथा 'नादेरी' नामक जहाजों से लगभग ८०० हिन्दुस्तानी बन्दरगाह पर उतरने वाले थे।

दूषितग्रह और जातीय वैमनस्य के अतिरिक्त वहाँ पक्षपातपूर्ण काले कानून भी थे। एक बार जो गिरमिटिया नागरिक होना चाहता था उसे फी आदमी ३ पौण्ड 'पॉल टेक्स' देना पड़ता था। इसी तरह उसे अपनी पत्नी तथा १६ वर्ष से ज्यादा आयु के हरएक बच्चे के लिए भी यह टेक्स देना पड़ता था। बिना परवाने के कोई व्यापार नहीं कर सकता था। दिक्कत यह थी कि यूरोपियनों को बात करते ही परवाना मिल जाता था; लेकिन हिन्दुस्तानियों के रास्ते में नित्य ही अनेक कठिनाइयां आती रहती थीं। इसी प्रकार वहाँ शिक्षा की जांच का भी एक कानून था। इस कानून के अनुसार वहाँ बसने की इच्छा रखने वालों के लिए किसी एक यूरोपीय भाषा की परीक्षा में पास होना लाजमी था। तीन वर्ष तक जो लोग वहाँ रह चुके थे उनपर यह कानून लागू नहीं किया जाता था। सन् १९०६ का एशियाटिक इमिग्रेशन एक्ट विरोधी आन्दोलन जब जोर-शोर पर था तभी सन् १९०७ में ट्रान्सवाल इमिग्रेशन एक्ट पास किया गया। उसके अनुसार तो किसी भी नये बसने वाले हिन्दुस्तानी को भाषा की परीक्षा पास कर लेने पर भी प्रवेश मिलना करीब-करीब बन्द ही हो गया।

नेटाल कांग्रेस के द्वारा जो लगभग १८९४ में स्थापित हुई थी और ट्रान्सवाल तथा केपटाउन की इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं तथा 'इण्डियन ओपीनियन' नामक पत्र के द्वारा यह आन्दोलन चल रहा

था। इसके साथ ही गांधीजी द्वारा चलाये हुए हिन्दुस्तानी लोगों के आन्तरिक सुधार का कार्यक्रम भी चल रहा था। वही उनका उस समय का रचनात्मक कार्यक्रम था। इस कार्यक्रम में घरेलू स्वास्थ्य, रहने के लिये मकान-दुकान और शिक्षा आदि के लिए स्वतन्त्र इमारतों का होना आदि बातें शामिल थीं। इसके साथ ही अपने व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन में अत्यन्त ऊँचे नैतिक आदर्श को अपनाने के कारण गांधीजी का व्यक्तित्व सब लोगों के प्रेम और गौरव का पात्र बन गया था।

अपना काम होते ही हिन्दुस्तान लौट आने के बजाय गांधीजी दक्षिण अफ्रीका में ही ठहर गये। ब्रिटिश उपनिवेशों में हिन्दुस्तानियों को जो अपमान सहना पड़ता था उसका अनुभव उन्होंने स्वयं किया था, उन्होंने अपमान का धैर्य के साथ मुकाबला किया था और सब प्रकार के शारीरिक कष्ट और संकट भी सहन किये थे। फिर भी उनके मन में वहाँ के यूरोपियन लोगों के प्रति किसी प्रकार का वैरभाव नहीं था। वहाँ की राजनैतिक, सामाजिक आदि पद्धति से उन्हें घृणा थी। लेकिन जो लोग उसके लिए ज़िम्मेवार थे उनके प्रति उनके मन में प्रेमभाव ही था। उनमें से कितने ही यूरोपियनों को वे अपने सच्चे मित्र मानते थे। अबतक वे हिन्दुस्तानियों के प्रश्न के साथ समाप्त हो गये थे और अपनी निःस्वार्थ सेवा और त्याग के द्वारा विरोधियों का आदर संपादन कर चुके थे। वहां के अन्यायों को मिटाने का उन्होंने निश्चय कर लिया था; लेकिन उसकी शुरुआत किस प्रकार की जाय इसकी स्पष्ट कल्पना उन्हें नहीं थी।

अन्त में 'एशियाटिक लॉ अमेन्डमेन्ट आर्डीनेन्स' के प्रश्न पर तूफान उठ खड़ा हुआ। पहिले पहल २२-८-१६०६ के ट्रान्सवाल सरकार के खास गजट में गांधीजी ने उस आर्डीनेन्स को पढ़ा। गांधीजी के बिलकुल शुरू के चरित्र-लेखक और जोहान्सबर्ग के बेरिस्टर मिशनरी जोसेफ जे० डोक ने इस प्रसंग पर लिखा है—"ट्रान्सवाल के लगभग

दस हज़ार एशियावासी जो स्वभावतः राज्यभक्त और न्यायप्रिय हैं लगभग अठारह महीनों से सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर रहे हैं। 'एशियाटिक लॉ अमेन्डमेन्ट एक्ट' का आधार यह सिद्धांत था कि एशिया निवासियों ने 'परमिट' का दुरुपयोग करके छलकपट से अपना व्यापार खूब फैला लिया है। अतः वह एक जरायम-पेशा जाति है और उसके साथ जरायम-पेशा लोगों की भांति ही व्यवहार करना चाहिये।" इससे लोगों में तीव्र संताप उत्पन्न हुआ। उन्होंने इस आरोप को सिद्ध कर देने की ज़बरदस्त मांग की, लेकिन इन्कार कर दिया गया। उनकी इस प्रार्थना पर भी ध्यान नहीं दिया गया कि उपर्युक्त मामले की जाँच सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश से करवाई जाय। धारासभा के लिए न तो उन्हें मताधिकार प्राप्त था और न पार्लियामेंट में उनका कोई प्रतिनिधि ही था। ऐसी स्थिति में अंगूठे का निशान देकर अपने ऊपर जरायमपेशा की छाप लगा लेने या उस क़ानून का विरोध करने के अलावा कोई चारा नहीं था। उन्होंने प्रतिकार करने का निश्चय किया। सौभाग्य से उनका नेता सुसंस्कृत, सभ्य, उदार और टालस्टॉय का अनुयायी था। इसीलिये उनका प्रतिकार निष्क्रिय प्रतिकार के रूप में रहा।.........मैंने कल उनसे कहा—"दोस्त, लड़ाई बहुत दिनों तक चलने की सम्भावना है। इंग्लैण्ड इस सम्बन्ध में लापरवाह है और यहाँ की सरकार जरा भी झुकने के लिये तैयार नहीं है।" उन्होंने उत्तर दिया—"कोई चिन्ता नहीं। यदि लम्बे अर्से तक परीक्षा होती रही तो उससे हमारे लोगों की शुद्धि ही होगी और सफलता तो निश्चित ही है।"

इस कानून की स्वयं गांधीजी ने इस प्रकार आलोचना की है—"जहां तक मुझे मालूम है संसार के किसी भी भाग में स्वतन्त्र मनुष्यों के विरुद्ध इस प्रकार का क़ानून नहीं है.........हिन्दुस्तान में (तथा-कथित) जरायमपेशा जातियों के सम्बन्ध में इस तरह के क़ानून हैं जिनके साथ इस आर्डीनेन्स की तुलना की जा सकती है।......क़ानून

के अनुसार केवल जुर्म करनेवाले लोगों के अंगूठे के निशान ही लिये जाते हैं। इसलिए अंगूठे के निशान लेने के सम्बन्ध में सख्ती देखकर मैं दंग रह गया।"

काफी सोच-विचार और गरमागरम बहस के बाद जोहान्सबर्ग में ११-६-१६०६ को ३००० प्रतिनिधियों की बैठक में इस अपमानजनक काले क़ानून का विरोध करने का निर्णय किया गया। प्रत्येक प्रतिनिधि ने यह शपथ ली कि चाहे कुछ हो इस क़ानून का प्रतिकार करना ही है। यह शपथ सेठ हबीब नामक एक सच्चे योद्धा के सुझाव से ली गई थी।

प्रत्यक्ष प्रतिकार करने के पहिले प्रार्थनापत्र, शिष्टमण्डल, मुलाकातें, पत्रव्यवहार आदि सब बातें प्रतिदिन ही की गई थीं। लेकिन उपनिवेश मन्त्री मिस्टर डंकन ने स्पष्ट कह दिया कि वहां के यूरोपियनों के अस्तित्व के लिए सरकार उस आर्डीनेन्स को आवश्यक समझती है।

इस प्रकार सत्याग्रह की पृष्ठभूमि तैयार हुई। नाम दर्ज करवाना, उंगलियों के निशान देना तथा परवाना लेना, इन तीनों बातों से इनकार करना ही सत्याग्रह का स्वरूप तय किया गया। नाम दर्ज न करवाने पर जो कुछ परिणाम हों उन्हें भुगतने के लिए सत्याग्रहियों को तैयार रहना था।

नये आर्डिनेन्स के अनुसार १ जुलाई सन् १६०७ को सरकारी परवाना कार्यालय खुला। गांधीजी की प्रेरणा से कार्यालय के ऊपर शान्तिपूर्ण ढंग से धरना दिया गया। उस समय इतना उत्साह था कि १२-१२ वर्ष के लड़कों ने भी धरना देने वालों में अपना नाम लिखा लिया। लेकिन धरने तथा तीव्र जनमत की परवाह न करके लगभग ५०० व्यक्तियों ने अपने नाम दर्ज करवा कर परवाने ले लिये। लेकिन सरकार इससे आगे अपना काम बढ़ा नहीं सकी इसलिए उसे कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार करने का निश्चय करना पड़ा।

सन् १६०७ के दिसम्बर मास में प्रमुख-प्रमुख व्यक्तियों को नोटिस

दिया गया कि वे अदालत में हाजिर होकर यह बताएं कि उन्होंने अभी तक रजिस्टर में अपना नाम दर्ज क्यों नहीं करवाया। उस समय एक पेचीदा हालत पैदा हो गई। कानून भंग करने के कारण गांधीजी के साथ और कई लोगों को अलग-अलग अवधि की सजा दी गई। लेकिन ३० जनवरी १९०८ को जनरल स्मट्स ने आश्वासन दिया तथा उनके और गांधीजी के बीच जो समझौता हुआ उसके अनुसार गांधीजी मुक्त कर दिये गये। दूसरे दिन अन्य प्रमुख लोग भी छोड़ दिये गये। लेकिन बाद में जनरल स्मट्स ने अपना वचन भंग कर दिया। ऐसे कई मौके आते थे कि जब कठिन अवसर का अन्त होता हुआ दिखाई देता था तभी अधिकारी अपना आश्वासन भंग कर देते थे। जनरल स्मट्स ने आश्वासन दिया था कि आर्डिनेन्स वापिस ले लिया जायगा और हिन्दुस्तानी लोगों द्वारा स्वेच्छा से लिखवाये हुए नाम कानूनसम्मत मान लिए जाएंगे। हिन्दुस्तानियों ने अपना कर्तव्य पूरा कर दिया। अनुयायियों को गलतफहमी होने का ख़तरा उठाकर भी नेताओं ने अपने नाम दर्ज करवा दिये। यह बात मीरआलम को पसन्द नहीं आई और उसने गांधीजी पर हमला करके उन्हें घायल कर दिया, फिर भी गांधीजी ने अपने अंगूठे का निशान दे दिया। लेकिन जनरल स्मटस् ने अपनी तरफ से खेल अच्छा नहीं खेला। आर्डिनेन्स वापिस लेना तो दूर उन्होंने गांधीजी के पत्रों का संतोष-जनक उत्तर तक नहीं दिया। उल्टे हिन्दुस्तानियों के प्रवेश को कड़ाई से बन्द करने वाला एक और बिल उपस्थित किया और आगे चलकर वह क़ानून बन गया।

फिर से लड़ाई शुरू करना अनिवार्य हो गया। १६-६-१९०८ के दिन जोहान्सबर्ग में प्रतिनिधियों की एक बड़ी बैठक बुलाई गई। उस जगह समझौते के अनुसार स्वेच्छा से लिए हुए परवानों की होली जलाकर २००० परवाने स्वाहा कर दिये गये।

तब से एक लम्बी और भयंकर लड़ाई शुरू हुई। जिसमें जुर्माने, जेल, कठिन परिश्रम, मुसीबतें, अपमान और बेत की सजा ही नहीं

बल्कि गोलियाँ भी चलाई गईं। इस लड़ाई में कई उतार-चढ़ाव आये। लेकिन सत्याग्रहियों के लिए लड़ाई ही सर्वस्व थी। उन्हें अन्तिम परिणाम की चिन्ता नहीं थी। बीच-बीच में वातावरण निराशाजनक हो जाता था लेकिन फिर एकदम किसी-न-किसी तरह आग भड़क उठती थी। फिर सफलता की आशा होने लगती और तेज तथा जीवन दिखाई देने लगते। सन् १९१३ में (१३-३-१९१३) हाईकोर्ट के एक फैसले के अनुसार सारे हिन्दुस्तानी विवाह यह कहकर रद्द कर दिये गये कि वे स्थानीय कानून के अनुसार नहीं हैं। हिन्दुस्तानी स्त्रियों पर इसका असर अच्छा ही हुआ और वे सब लड़ाई में शामिल हो गईं। फोनिक्स पार्क आश्रम के १६ व्यक्तियों की टुकड़ी ने ट्रान्सवाल की सीमा में प्रवेश किया। उन सबको सजा दी गई। कुछ तामिल स्त्रियाँ जिनको कि गिरफ्तार नहीं किया गया था खदानों तक गईं और वहां के मजदूरों को ३ पौण्ड वाले अन्यायपूर्ण कर के विरुद्ध सचेत किया। अन्त में इस सारे आन्दोलन की परिणति २०३७ पुरुष, १२७ स्त्रियाँ व ५७ बच्चों के जबरदस्त मोर्चे में हो गई, जिन्होंने ६-११-१९१३ को सुबह ट्रान्सवाल की सीमा को पार करने के लिए कूच किया। इसके बाद गांधीजी, पोलक तथा अन्य लोगों को गिरफ्तार कर लिया गया। ट्रान्सवाल पर आक्रमण करने वाले सारे लोगों को गिरफ्तार करके उनसे खानों में काम करवाया गया। इस बीच हड़ताल की लहर दूसरी खानों में भी पहुँच गई और सत्याग्रहियों को अपरिमित कष्ट उठाने पड़े।

अन्त में यूनियन गवर्नमेंट के लिए स्थिति असह्य हो गई और हिन्दुस्तानियों को सुविधाएँ देने के लिए एक कमीशन बैठाने की घोषणा की गई। १८-१२-१९१३ के दिन गांधीजी, कालेन्बाक और पोलक को छोड़ दिया गया। बाद में अन्य लोगों को भी छोड़ दिया गया। जुलाई १९१४ के अन्त में इण्डियन रिलीफ बिल पास हुआ। उसके अनुसार तीन पौंड का कर रद्द कर दिया गया। हिन्दू और मुसलमान के विधिपूर्वक हुए विवाह कानूनी मान लिये गये। केवल एकपत्नीत्व

ही कानूनी माना गया। इसी प्रकार निवास प्रमाणपत्र नागरिकता का अन्तिम प्रमाण मान लिया गया।

यदि लड़ाई का वर्णन संक्षेप में भी करना चाहें तो भी लड़ाई के समय सत्याग्रहियों ने जिन उदारतापूर्ण कृत्यों का परिचय दिया उनका वर्णन किये बिना उसे पूरा नहीं कर सकते। गाँधीजी कहते हैं—"सत्याग्रही को प्रत्येक क़दम पर अपने विरोधी की स्थिति का विचार करना चाहिए।" अधिक प्रभाव डालने की दृष्टि से शत्रु की कठिन परिस्थिति सत्याग्रही के लिये सुअवसर नहीं हो सकती। बल्कि वस्तुस्थिति इससे ठीक उल्टी होनी चाहिए। और सत्याग्रही को अपने रास्ते से अलग जाकर भी कठिनाई में अपने शत्रु की मदद करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

जब नार्थ कोस्ट के मजदूरों ने हड़ताल की तब यदि कटे हुए गन्ने को कारखाने में लाकर उसका रस निकाला जाता तो माउन्ट एस्कोंब के बगीचे के मालिकों को भारी नुकसान उठाना पड़ता। अतः १२०० मजदूर केवल उस काम को करने के लिए काम पर गये और उसे पूरा करके वापिस हड़ताल में शामिल हो गये।

एक दूसरे मौके पर जब डरबन म्युनिसिपिलैटी के कर्मचारियों ने हड़ताल की उस समय जो म्युनिसिपिलैटी के आरोग्यसम्बन्धी कार्यों में लगे थे या अस्पताल में रोगियों की शुश्रूषा कर रहे थे उन्हें इस दृष्टि से काम पर भेजा गया कि कहीं शहर में बीमारी न फैल जाय और रोगियों को असुविधा न हो जाय।

इस प्रकार के उदार व्यवहारों में सब से ज्यादा स्मरणीय उदाहरण है यूनियन रेलवे के यूरोपियन कर्मचारियों की हड़ताल के समय का। उस समय सचमुच ही सरकार बड़ी कठिनाई में पड़ गई थी गाँधीजी को सुझाया गया कि सरकार पर निर्णायक प्रहार करने क यही सबसे अच्छा मौका है; लेकिन गाँधीजी ने इनकार कर दिया उन्होंने कहा—"ऐसा करना सत्याग्रह-धर्म का त्याग करना है।" इ

निर्णय की चारों ओर बड़ी प्रशंसा हुई। जनरल स्मट्स के सेक्रेटरियों में से एक ने गाँधीजी से कहा—'मुझे आपके आदमी पसन्द नहीं हैं। मैं कभी उनकी मदद की चिन्ता नहीं करता। लेकिन मैं करूँ क्या? आप लोग मुसीबत के समय में हमारी मदद करते हो। तब हम आपके ऊपर किस प्रकार हाथ डालें? मेरा दिल कई बार कहता है कि आप लोग भी अंग्रेज हड़तालियों की तरह हिंसा का अवलम्बन करें तो फिर आपको तहस-नहस करने का मार्ग हमारे लिए खुल जाय। लेकिन आप लोग तो शत्रु को भी नुकसान नहीं पहुँचाते। आप तो केवल कष्टसहन के द्वारा ही विजय प्राप्त करना चाहते हैं और स्वेच्छा से स्वीकार की हुई विनय एवं सौजन्य की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते। बस इसी कारण हम लोग निरुपाय हो जाते हैं।"

शत्रु के मन पर सत्याग्रह का जो परिणाम होता है उसका इससे अच्छा दूसरा उदाहरण नहीं मिलेगा।

निःसन्दिग्ध रूप से कमजोरों के शस्त्र कहे जाने वाले निःशस्त्र प्रतिकार एवं प्रत्यक्ष सत्याग्रह में जो महत्त्वपूर्ण अन्तर है वह दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह से स्पष्ट हो जाता है।

गाँधीजी ने सत्याग्रह का अवलम्बन कमजोर के हथियार के रूप में नहीं किया। उनका यह दावा था कि चाहे शारीरिक दृष्टि से दुर्बल हो लेकिन जो लोग आत्मिक बल रखते हैं सत्याग्रह उन्हींका हथियार बन सकता है। उनके मन में किसी भी अवस्था में हिंसा का विचार नहीं आया। उन्हें अपने विरोधी की कठिनाई से भी फायदा नहीं उठाना था। विरोधी के लिए भी उनके मन में उच्च कोटि की कल्याण-भावना थी और अपने त्याग के बल से दूसरों को जीत लेने पर ही उनका जोर था। सत्य और न्याय उनके पक्ष में थे और वे जोर देकर कहते थे कि कष्टसहन के द्वारा ही हम उनकी प्रस्थापना करेंगे। शत्रु को परेशान करने का विचार भी उनके मन में नहीं आया। लेकिन केवल निःशस्त्र प्रतिकार करने वाला इससे भिन्न प्रकार का व्यवहार करता।

आठ वर्षों तक चलते रहने वाले (सन् १६०६ से १६१४ तक) इस दीर्घकालीन युद्ध का इस प्रकार अन्त हुआ। सामाजिक अन्याय से लड़ने की पद्धति में क्रान्ति करके इस लड़ाई ने एक नया इतिहास लिख दिया।

सत्याग्रह की भाषा

विरमगाँव में कस्टम विभाग की ज्यादती कुछ स्थानिक प्रश्न था। उनकी ज्यादती मानो प्रत्यक्ष अन्याय का नमूना ही थी। अन्यायी प्रथा को तथा उसके साथ होने वाली दूसरी कठिनाइयों को दूर करने में केवल सत्याग्रह की भाषा मुख्य रूप से कारणीभूत हुई। सन् १६१५ में जब गाँधीजी काठियावाड़ जा रहे थे तब बढ़वान में उन्होंने श्रीमोतीलाल दर्जी से जो कि वहाँ के सार्वजनिक कार्यकर्त्ता थे सारी कहानी सुनी। उनकी बेचैनी का गांधीजी के मन पर काफी असर हुआ और उन्होंने उनसे पूछा कि—"क्या लोग जेल जाने के लिए तैयार हैं?" उन्होंने तपाक से उत्तर दिया कि "हम फाँसी पर चढ़ने के लिए भी तैयार हैं।"

राजकोट पहुँचने पर गाँधीजी ने तत्सम्बन्धी आवश्यक जानकारी एकत्र की और उस रास्ते से जाने वाले रेल के मुसाफिरों की करुण कहानी भी समझ ली। इस झगड़े में एक पक्ष में जनता और दूसरे पक्ष में कस्टम के अधिकारी तथा हिन्दुस्तान की सरकार थी। झगड़े का मुद्दा था कस्टम की अर्थशून्य पद्धति को बन्द करना। प्रचार, आदरपूर्वक शिकायतें पेश करना और सत्याग्रह की पृष्ठभूमि पर जनता की ओर से माँगें प्रस्तुत करना इस क्रम से आन्दोलन शुरू किया गया। काठियावाड़ के बागस्त्रा आदि स्थानों का दौरा करके गांधीजी ने अपने भाषणों में स्पष्टरूप से कह दिया कि लोगों को तैयार रहना चाहिए। अन्त में तत्कालीन वाइसराय लार्ड चेम्सफोर्ड की गाँधीजी से बातचीत हुई। वाइसराय ने इस बात को बन्द करने

का आश्वासन दिया और अपने शब्दों को सत्य करके दिखाया।

यहां न तो किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सत्याग्रह किया गया और न उसके लिए किसी प्रकार की तैयारी ही की गई। गांधीजी केवल अपने भाषणों में असन्दिग्ध रूप से उसका उल्लेख करते रहे। हम कह सकते हैं कि यह विना लड़े और विना त्याग किये ही जीती हुई लड़ाई है।

यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि इसी सम्बन्ध में वम्बई गवर्नर के सेक्रेट्री से गांधीजी की झड़प हो गई। उस समय लार्ड विलिंगटन वम्बई के गवर्नर थे। जब गांधीजी ने अपने भाषणों में सत्याग्रह का उल्लेख किया तो इससे सेक्रेट्री साहब चिढ़ पड़े। उन्होंने इसका अर्थ धमकी समझा। गांधीजी ने बड़ी नम्रता से बताया कि धमकी का तो कोई सवाल ही पैदा नहीं होता। इसके बाद सेक्रेट्री साहब ने गांधीजी को चेतावनी दी कि इस प्रकार के किसी भी आन्दोलन को कुचलने की शक्ति सरकार रखती है। अत्यन्त सौम्यता से लेकिन साथ ही उतनी ही गम्भीरता और दृढ़ता से गांधीजी ने उत्तर दिया—"मुझे इस बात में कोई सन्देह नहीं कि ब्रिटिश सरकार शक्तिशाली है लेकिन इस बात पर भी मेरा उतना ही विश्वास है कि सत्याग्रह सर्वश्रेष्ठ उपाय है।"

सत्याग्रह की तैयारी

एक और उदाहरण है जिसमें केवल सत्याग्रह की तैयारी कर रखने से ही सफलता मिल गई। उससे जनता में हलचल भी खूब हुई। मारीशस, ब्रिटिश गायना, त्रिनिदाद, जमैका, ग्रेनडा आदि दूर-दूर के उपनिवेशों में हिन्दुस्तानी मजदूरों के पहुँचने पर उनके साथ करीब-करीब जंगली गुलामों जैसा ही व्यवहार होता था और वे गिरमिटिया मजदूर के नाम से पुकारे जाते थे। सर डब्ल्यू. डब्ल्यू. हंटर नामक इतिहासकार ने इस पद्धति को करीब-करीब गुलामी कहा है। सन् १८६१ से ही इस प्रथा का प्रारम्भ हुआ था और अब उसे बन्द करने

की मांग की जा रही थी। बम्बई की एक विशाल सभा में इस कुप्रथा को बन्द करने के लिए ३१-५-१९१७ अन्तिम तारीख निश्चित की गई। स्त्रियों का एक शिष्टमण्डल भी वाइसराय से मिला। मजदूरों को ले जाने वाले एक जहाज पर धरना देने की तैयारी भी गांधीजी ने की। विरमगांव के कस्टम के प्रश्न से भी यह प्रश्न जादा महत्त्व रखता था। अन्त में यह प्रथा बन्द कर दी गई और गोरे पूंजीपतियों के द्वारा हिन्दुस्तानियों का जो शोषण होता था और अपनी लाचारी के कारण उनका जो अपमान होता था वह एकदम बन्द हो गया।

चम्पारन

हिन्दुस्तान के सत्याग्रह के इतिहास में चम्पारन का नाम सदा के लिए अङ्कित हो गया है। इस मौके पर पहिली बार ही गांधीजी ने अधिकारियों की आज्ञा भंग की और कहा कि कम-से-कम मेरे अपने देश में तो मैं चाहे जैसी आज्ञाओं को अपने ऊपर नहीं लादने दूंगा। वह उनकी लड़ाई की नई पद्धति का प्रारम्भ था। उस समय उन्होंने कोर्ट में जो वक्तव्य दिया वह आज भी उचित है और आगे भी सदा के लिए स्फूर्तिदायक रहेगा। गांधीजी कहते हैं—"मैं अपने जीवन में उस दिन को कभी भी नहीं भूलूंगा। मेरी और किसानों की दृष्टि से वह स्वर्णदिवस था।" हिन्दुस्तान के लिए सविनय अवज्ञा आन्दोलन का वह पहिला पाठ था।

सन् १९०६ की लखनऊ कांग्रेस में गांधीजी गये थे। वहां बिहार के किशोर बाबू नामक एक सज्जन मिले और उन्होंने चम्पारन के किसानों की वर्षों से चली आती रहने वाली शिकायतें सुनाईं और उनसे प्रार्थना की कि वे वहां आकर उनकी शिकायतें दूर करने की कृपा करें। गांधीजी ने उनको आश्वासन दिया कि अच्छा कभी आऊंगा। फिर अप्रैल सन् १९१७ में वे कलकत्ता से बिहार गये। चम्पारन उस प्रदेश के अन्तर्गत है जहां महान् राजा जनक का राज्य था। आजकल वह बिहार के

वायव्य कोने में एक जिला है। लगभग एक शताब्दी से निलहे गोरों द्वारा वहां के सीधे-सादे किसानों का शोषण और उत्पीड़न चल रहा था। कानून और रूढ़ी के द्वारा वहां मालिकों की एक असाधारण सरकारी सत्ता ही स्थापित हो गई थी। फिर ये मालिक लोग शासकों के जात-भाई ठहरे। स्थानीय नेताओं ने सारे कानूनी उपाय करके देख लिये लेकिन अधिकारी और सरकार दोनों ही मालिकों के पक्षपाती होने के कारण कोई भी उपाय नहीं चला। बंगाल टेनेन्सी एक्ट तथा अन्य ऐसे कानूनों का आश्रय मालिकों ने ले रखा था जिनसे कि वे किसानों का शोषण कर सकें। और कितने ही गैरकानूनी करों के लिए यदि कानून से मदद नहीं मिलती तो वे पुरानी रूढ़ियों और रिवाजों का आश्रय लेते रहे। और जब ये दोनों ही काम न आते तो वे पाशवी शक्ति का आश्रय लेते थे। उनकी अपनी स्टेटों में उनका व्यवहार किसी निरंकुश शासक से किसी भी प्रकार कम न था।

मुख्य तथा तत्कालीन आर्थिक शिकायत 'तिनकटिया' प्रथा के सम्बन्ध में थी। तिन कटिया का अर्थ है बीघे में तीन कट्ठे। इसका मतलब यह है कि जमीन के प्रत्येक बीघे का $\frac{3}{20}$ प्रत्येक किसान के लिए उसकी जमीन के $\frac{3}{20}$ । में नील की खेती करना लाजमी था। फिर चाहे वह उसके लिए लाभदायक हो चाहे न हो। कभी-कभी यह मर्यादा $\frac{5}{20}$ तक हो जाती थी। बंगाल टेनेन्सी एक्ट के द्वारा मालिकों का यह अधिकार स्वीकार कर लिया गया था। बाद में जब बनावटी नील बाजार में आने लगी तब निलहे गोरों ने यह अनुभव किया कि नील के धन्धे में कोई फायदा नहीं है। अब वे किसानों से एक नया मुआहिदा करने लगे कि यदि वे पहिले से कुछ ज्यादा लगान दें तो उन्हें नील की खेती से मुक्त किया जा सकता है। इस मामले में भी उन्हें टेनेन्सी एक्ट की कुछ धाराओं से मदद मिली। इस प्रकार नील के व्यापार में निलहों को जो नुकसान हुआ वह सब किसानों के सिर मढ़ दिया गया। जिस जगह निलहों के पास मौरूसी जमीन थी वहां तो वे यह बात कर

रहे थे लेकिन गांवों में जहां कि उनके पास थोड़ी मुद्दत के पट्टे थे और उस मुद्दत के बाद स्थायी मालिक को इसका लाभ होने वाला था वहां वे नकद रुपया वसूल करके तिनकाठी के मुहायदे से उनको मुक्त करने का तरीका अपनाने लगे। वस्तुतः थोड़े समय के पट्टे वाले ग्रामों में तो उस कानून का कोई आधार ही नहीं था। कहा जाता है कि इस तरह उन्होंने लगभग १२ लाख रुपये वसूल किये थे।

निलहों का सरकार और अफसरों पर इतना जबरदस्त असर था कि बेचारे किसान धन-जन को नुक्सान पहुँचने के भय से सरकारी अफसरों के पास जाने का साहस तक नहीं करते थे। उच्च वर्ग के लोगों के साथ भी मार-पीट ही नहीं, उनको हवालात में रख देना, उनके जानवरों को पकड़कर काँजी हौज़ में भेज देना, घर-बार लूट लेना, चमार, धोबी, नाई आदि बन्द कर देना और तो ठीक, उनको घर से बाहर निकलने के लिए भी मना करना और उनके घरों पर बिठाने के लिए अस्पृश्यों को इकट्ठा करना आदि हजारों तरीकों से वहां के लोगों को नित नई पीड़ा पहुँचाई जाती थी। भिन्न-भिन्न अवसरों पर निलहे कानूनी लागबाग वसूल करते थे। शादियों पर प्रत्येक घर पीछे तथा प्रत्येक तेल की घानी पर लाग लगी हुई थी। जब साहब बहादुर ठंडी जगह पहाड़ी पर जाते तो प्रत्येक किसान को 'पपाड़ी' नाम का एक विशेष कर देना पड़ता था। यदि घोड़ा, हाथी या मोटर गाड़ी की जरूरत हो तो उसके लिए भी किसान को ही ज्यादा कर देना पड़ता था। इसके अलावा किसी भी साहब का कोई अपराध हो गया हो तो भारी कर लाद दिये जाते थे।

बेचारे किसान इस आशा से आंख लगाये बैठे थे कि ये सब शिकायतें दूर हों और अन्याय का पूरी तरह परिमार्जन हो।

प्रभावशाली सार्वजनिक व्यक्तियों ने जो कुछ स्थानीय प्रयत्न किये उनका तनिक भी असर नहीं हुआ। पाषाणहृदय निलहों की ओर से कानूनी, सामाजिक या नैतिक किसी भी प्रकार की छूट नहीं मिल रही

थी। ऐसी परिस्थिति में गांधीजी को चम्पारन आने का निमन्त्रण मिला।

१७ अप्रैल १९१७ को वे मोतीहारी जिले के गांव में पहुंचे। उन्होंने वहां जो जांच की वह सत्याग्रह की पद्धति में एक आदर्श पाठ है। वहां पहुँचने पर वे सीधे हाकिमों के पास गये और उन्होंने बताया कि वे क्या करना चाहते हैं। निलहे गोरों के संघ के सेक्रेट्री से भी उन्होंने बातचीत की। कहना नहीं होगा कि उन दोनों का व्यवहार सहानुभूतिशून्य ही था। लेकिन गांधीजी को तो अपने नियम के अनुसार उस जगह रहकर प्रत्यक्ष रूप से अन्याय का सूक्ष्म अवलोकन करना था। किसानों की शिकायतें, उनके ऊपर होने वाले जुल्म तथा उनके द्वारा मालिकों के ऊपर लगाये हुए आरोप इन सब की सत्यता पर गांधीजी को खुद अपना विश्वास और निश्चय करना था। इसके लिये वे एक ग्राम में जा रहे थे कि उनपर क्रि० प्रो० को० की १४४ वीं धारा के अनुसार जिला छोड़ देने का नोटिस तामील किया गया।

गांधीजी ने अपने मन में प्रश्न किया—मेरे अपने देश में मुझपर इस प्रकार की आज्ञा छोड़ने वाला मजिस्ट्रेट कौन होता है? और उन्होंने इस आज्ञा की जरा भी परवाह न करके आगे जाने का निश्चय किया। लेकिन वे शान्ति और संयम से जरा भी न डिगे। उन्होंने बड़े विनम्र भाव से मजिस्ट्रेट को अपने विचार बता दिये। उन्होंने बताया कि "मैं परिस्थिति का अध्ययन करने के लिए आया हूँ। मैं गरीब किसानों की शिकायत की जांच करना चाहता हूँ। अतः इस काम को पूरा किये बिना जिला छोड़ने का मेरा कोई इरादा नहीं है।" जब उन्हें अदालत में बुलाया गया तो उन्होंने अपने वक्तव्य में आज्ञा भंग करने का अपराध स्वीकार किया। उन्होंने कहा कि मैं अपनी अन्तरात्मा की श्रेष्ठतर आज्ञा का पालन कर रहा हूँ। उनके इस मुकदमे का कोई फैसला नहीं सुनाया गया क्योंकि थोड़े ही समय के बाद मामला उठा लिया गया।

इसके बाद उन्होंने अपना तहकीकात का काम फिर शुरू कर दिया। कितनी ही बार बयान लेते समय सी० आई० डी० के अधिकारी भी उपस्थित रहते थे। बीस हजार बयान लिये गये और उसके आधार पर मामला तैयार किया गया। किसानों की मांगें तैयार की गईं। बाद में प्रान्त के गवर्नर ने सारे मामले पर ध्यान रखकर सरकार की ओर से एक जांच-कमेटी की नियुक्ति की और उसमें गांधीजी को किसानों के प्रतिनिधि के रूप में रखा गया। जांच-कमेटी ने एक मत से फैसला दिया कि तिनकठिया प्रथा तथा गैरकानूनी लागबाग रद्द कर दिये जांय और किसानों से जो रकम वसूल की गई है उसका कुछ अंश उन्हें लौटा दिया जाय।

तहकीकात के प्रारम्भ में निलहे खुलेआम विरोध करते थे और सरकार भी उनका पक्ष लेती थी लेकिन गांधीजी ने मजिस्ट्रेट की आज्ञा न मानने की जो तैयारी दिखाई और अपने ही रास्ते चलने का जो उत्साह रखा उससे गोरे मालिकों को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे बहुत फजीहत में पड़ गये। किसानों को सत्याग्रह करने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

वहां अकेले गांधीजी का सत्याग्रह इस विषमता के विरुद्ध हिन्दुस्तान का जनमत जाग्रत करने और प्रान्तीय सरकार की आँखें खोलने के लिए पर्याप्त सिद्ध हुआ। किसानों ने भी काफी संयम से काम लिया। वे धैर्य के साथ सबूत पेश करने के लिये आगे आये और खासकर गांधीजी जिधर ले जांय उधर जाने की मानसिक तैयारी उन्होंने प्रदर्शित की।

पहिली बात यह कि आखिर गांधीजी ने क्या मांगें पेश की थीं ? उन्होंने चम्पारन के आपद्ग्रस्त किसानों की शिकायतों की जांच करने के साधारण अधिकार पर जोर दिया। इस साधारण से अधिकार से सरकार उनको वंचित नहीं रख सकती थी और जब एक बार जांच शुरू हुई तो उसकी ओर से आंख भी मूंद नहीं सकती थी। सरकार

को इन शिकायतों की जानकारी पहिले से ही थी। लेकिन मालिकों के मुनाफे से उनका जो ममत्व था उससे उन्होंने यह सब चलने दिया। अब गांधीजी के आगमन और निर्भय तहकीकात के कारण सरकार की इस शिथिलता की धज्जियां उड़ गईं।

इस प्रकरण में हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि गांधीजी ने किस प्रकार का व्यवहार किया। प्रारंभ से ही उन्होंने बड़ी सावधानी रखी। सबसे पहिले वे एकाएक जाने के लिए तैयार नहीं हुए। लेकिन जाने का निश्चय कर लेने पर फिर उन्होंने आगा-पीछा नहीं देखा। उन्होंने इस बात की भी तैयारी शुरू से ही रखी कि यदि उनकी स्वतन्त्रता पर आघात किया गया तो वे उसका मुकाबला करेंगे। जब कुछ लोगों ने उन्हें मालिकों के विरुद्ध कानूनी कार्रवाई करने की बात सुझाई तो उन्होंने उनके इस सुझाव को यह कहकर रद्द कर दिया कि अदालत का आश्रय लेने से कोई भी परिणाम नहीं निकलेगा। मालिकों से दूर रहने के बजाय उलटे वे सीधे उनके संघ के सेक्रेट्री से मिले और अपना उद्देश्य उनपर प्रकट कर दिया। उन्होंने नम्रतापूर्वक मजिस्ट्रेट की आज्ञा का उल्लंघन करके अपना काम इस प्रकार शुरू रखा मानो कुछ हुआ ही न हो। जब उन्होंने परिस्थिति का अध्ययन कर लिया और यह देख लिया कि इस काम में उन्हें काफी समय देना पड़ेगा तो उन्होंने उस भाग में लगभग ६ प्राइमरी स्कूल शुरू करवाये और डाक्टरी सहायता की व्यवस्था की। वे लोगों को अच्छी तरह से और आरोग्यपूर्ण जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देना चाहते थे। स्थानीय शिक्षक और डाक्टर वैद्य के न मिलने पर उन्होंने उन्हें बाहर से बुलाया और रचनात्मक कार्य और निरपेक्ष ग्राम सेवा की नींव डाली। लेकिन उन्होंने डाक्टरों और शिक्षकों को चेता दिया कि वे राजनैतिक व आर्थिक मामलों में न पड़ें। उन्होंने शिक्षकों के बौद्धिक मान की अपेक्षा नैतिक मूल्यों को ज्यादा महत्त्व दिया। उदाहरणार्थ उन्होंने कस्तूरबा को एक स्त्री-शिक्षक के रूप में भर्ती किया।

जब कस्तूरबा ने यह कहा कि मैं पढ़ा नहीं सकूंगी तो लिखना, पढ़ना, गणित आदि सिखाने के बजाय उनसे स्वच्छता एवं अच्छे रीति-रिवाज सिखाने पर जोर दिया। उनके मतानुसार लिखना, पढ़ना और गणित ही सबसे ज्यादा महत्त्व के विषय नहीं थे। उन्हें इस बात का पूरा विश्वास हो गया था कि ग्राम-शिक्षा के बिना स्थायी काम होना असम्भव है।

खेड़ा सत्याग्रह

विरमगांव के कस्टम और गिरमिटिया कुलियों के मामले में तो केवल सत्याग्रह की भाषा से ही सफलता मिल गई और चम्पारन में केवल गांधीजी को ही सविनय कानून भंग करना पड़ा। लेकिन खेड़ा जिले में कई लोगों को मुसीबत और कष्ट उठाने पड़े। सन् १९१८ के प्रारंभ में गुजरात प्रान्त का खेड़ा जिला सत्याग्रह-भूमि बना। वहां कर-बन्दी के रूप में सत्याग्रह हुआ। अनाज पैदा न होने से जिले में करीब-करीब अकाल की स्थिति हो गई थी और किसानों के लिए लगान देना असंभव हो गया था। कायदे के अनुसार उन्होंने लगान स्थगित करने की प्रार्थना की। लेकिन सरकार ने इसपर विचार करने से इन्कार कर दिया।

लेण्ड रेवेन्यू कोड में यह कहा गया है कि "जब आनेवारी के हिसाब से फसल रुपये में चार आने आई हो तब सरकार को उस वर्ष का लगान माफ कर देना चाहिए। लेकिन हिन्दुस्तान के हमेशा के रिवाज के अनुसार सरकार ने जिद पकड़ी कि फसल चार आना से ज्यादा आई है। अतः किसानों को पूरा लगान देना चाहिए। कुछ समय तक यह झगड़ा चलता रहा। प्रार्थनाएं, प्रान्तीय कौंसिल के प्रस्ताव सब कुछ व्यर्थ हो गये।

इस सब के बाद गांधीजी ने इस विषय पर ध्यान दिया। उन्होंने सारे मामले का अध्ययन करके लोगों को लगान न देने की सलाह

दी। लोगों ने शपथ ली कि भले ही हमारी जमीन चली जाय हम अनुचित लगान न देंगे। जो धनवान् लोग सारा लगान दे सकते थे उन्होंने भी अपने गरीब भाइयों की सहानुभूति में एक साल तक लगान न देने की शपथ ले ली।

गांधीजी ने जनता और सरकार दोनों के ही सामने न्याय का पक्ष रखा। उन्होंने जिले में प्रचार-कार्य के लिये स्वयं सेवक बुलाये और उनके जरिये किसानों में नैतिक धर्म बनाये रखा। उस समय के अहमदाबाद के उदीयमान बैरिस्टर वल्लभभाई पटेल उनसे आकर मिले। इसके बाद किसानों की शिक्षा प्रारंभ हुई। उन्हें सिखाया गया कि अधिकारी उनके मालिक नहीं बल्कि नौकर हैं, अतः सारा डर छोड़कर उनके सामने तनकर खड़े रहना चाहिये। उनकी जुल्म-जबरदस्ती करने की धमकियों का प्रतिकार करना चाहिए। चाहे कोई उन्हें कितना ही क्यों न उभाड़े उन्हें अपनी शान्ति न डिगने देनी चाहिये। उन्हें यह भी सिखाया गया कि यदि उनकी जमीन पर सरकारी कब्जा करने का नोटिस उनके पास आये या उनसे जब्ती का हुकुम तामील करवा लिया जाय तब भी उन्हें उसका मुकाबला शान्ति से करना चाहिए। किसानों ने बड़े धैर्य के साथ नेताओं की सूचना के अनुसार ही चलने का निश्चय किया। अनेक जब्तियाँ हुईं और जमीन सरकार के कब्जे में करने के नोटिस भी आये लेकिन किसानों ने प्रसन्नतापूर्वक सब का स्वागत किया।

इसके बाद वहाँ सविनय अवज्ञा आन्दोलन करने का मौका आया। सरकार ने एक प्याज के खेत को कुर्क कर लिया। चूंकि यह कुर्की बेकायदा थी, गांधीजी ने मोहनलाल पण्ड्या तथा अन्य अपने सात अनुयायियों को सीधे खेत में जाकर फसल काट लेने की सलाह दी। उन्होंने फसल काट ली। अतः उन्हें गिरफ्तार किया गया और सजा दी गई। इससे लोगों का नैतिक धैर्य अधिक बढ़ गया और जेल का डर जाता रहा।

जब सरकार ने यह देखा कि लोग मान नहीं रहे हैं तब उसने बिना किसी प्रकार की घोषणा किये और न किसानों से न उनके प्रतिनिधियों से समझौते की कोई बातचीत किये जल्दी-जल्दी पीछे हटना शुरू कर दिया। जो लगान न दे सकते थे उनके पीछे तकाजा करना बन्द कर दिया गया। जब्तियाँ और कुर्कियाँ बन्द कर दी गईं। इस प्रकार कार्य रूप में सरकार ने यह मान लिया कि जो लोग लगान देने में असमर्थ हैं उन्हें उससे मुक्त कर दिया जाय। लेकिन लोगों के इस अधिकार को स्पष्ट रूप से शब्दों में स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार देर से और कुड़-कुड़ाते हुए लोगों के जिस अधिकार को स्वीकार किया गया उसका फायदा बहुत थोड़े लोगों को मिला। सिद्धान्त रूप में सत्याग्रह सफल हुआ लेकिन सम्पूर्ण विजय की दृष्टि से उसमें काफी कमी रह गई। सरकार ने अनुचित व्यवहार किया। विजय प्राप्त करके भी न लोगों का उत्साह बढ़ा और न उनको पर्याप्त फायदा ही हुआ। इस सत्याग्रह के सम्बन्ध में गांधीजी ने कहा है कि जब सत्याग्रही प्रारम्भ की अपेक्षा अन्त में ज्यादा शक्ति और उत्साह सम्पादन कर लें तभी यह कहा जा सकता है कि सत्याग्रह सफल हो गया। उन्हें प्रतीत हुआ कि लोग निराश और विमनस्क हो गये हैं और अधिकारियों के प्रति उनका व्यवहार पूरी तरह विनय-शील नहीं है। इसके अलावा पूरा लगान वसूल करने के सिलसिले में पक्षपात करके सरकार लोगों में फूट डालने में सफल हो गई थी। सत्याग्रहियों को किसी प्रकार का दखल देने का मौका न देते हुए उनके प्रयत्न को बिलकुल असफल करने की कार्यवाही चालू थी।

लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से इसके परिणाम महत्त्वपूर्ण निकले। गुजरात प्रान्त के सारे किसानों में जबरदस्त जाग्रति हुई। इससे सारे किसान-जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने स्वावलम्बन का पाठ पढ़ा और उनमें आत्मविश्वास पैदा हुआ। उन्हें पहले-पहल यह मालूम

हुआ कि हमारे भी कुछ अधिकार हैं और सामूहिक प्रयत्नों के बल पर हम उन्हें प्राप्त कर सकते हैं।

अपनी आत्मकथा में गांधीजी ने इस लड़ाई के सम्बन्ध में निम्नलिखित उद्गार व्यक्त किये हैं—"जनमत पर इस बात की पूरी छाप पड़ गई कि हमारी गुलामी का अन्त हमारे अपने ही हाथ में है और वह अपने ही कष्ट, त्याग और सहनशीलता पर निर्भर है। खेड़ा सत्याग्रह के द्वारा गुजरात में सत्याग्रह की जड़ें गहरी चली गईं।"

आन्दोलन के बाद गांधीजी ने यह अनुभव किया कि जनता को सत्याग्रह की शिक्षा देने के लिये स्वयंसेवक तैयार करना आवश्यक है। लेकिन उन्हें यह दिखाई दिया कि सत्याग्रह के रचनात्मक पक्ष या शान्तिपूर्ण अंग के प्रति लोगों में अभी आकर्षण नहीं है। उस काम को कर लेने के लिये जल्दी-जल्दी उन्हें काफी लोग नहीं मिले। चम्पारन में उन्होंने अपने स्थान पर जो रचनात्मक कार्य शुरू किया था उसे आगे बढ़ाने की उनकी तीव्र इच्छा थी लेकिन कार्यकर्त्ताओं की कमी तथा अन्य कामों के कारण वह रुक गया।

हिन्दुस्तान की साधारण जनता को सत्याग्रह प्रणाली के अनुसार त्याग और कष्टसहन के लिए तैयार करने और उन्हें उस तरह की शिक्षा देने का प्रयोग सब से पहिले गांधीजी ने खेड़ा जिले की लड़ाई के समय किया और उन्हें उसमें काफी सफलता मिली।

मजदूरों का सत्याग्रह

जब गांधीजी खेड़ा जिले के प्रश्नों में उलझे हुए थे तभी अहमदाबाद की कपड़े की मिलों के मालिक और मजदूरों में झगड़ा शुरू हो गया था। सन् १९१८ में फरवरी मास के प्रारम्भ में श्री अम्बालाल साराभाई मिल मालिकों की ओर से और उनकी बहिन अनुसूया बहन मजदूरों की ओर से गांधीजी से मिले। गांधीजी का विश्वास है कि सत्याग्रही के पास मौका अपने आप ही आ-जाता है कार्यक्षम अहिंसा

श्रौर अन्याय परस्पर-विरोधी हैं। अतः गांधीजी किसी भी अन्याय की उपेक्षा करके चुपचाप नहीं रह सकते। इस प्रकरण में गांधीजी की कार्यक्षम अहिंसा का अर्थ यह है कि अहमदाबाद के मजदूरों की शिकायतों के प्रति उनकी सहानुभूति इतनी ज्यादा थी कि उसके लिए उन्होंने अपने प्राणों को भी खतरे में डाल दिया। लगभग १९ दिनों के झगड़े के बाद उन्होंने उपवास प्रारम्भ किया और इस प्रकार से मजदूरों का नैतिक धैर्य बनाये रखा और जल्दी ही समझौता करवा लिया। इस मौके पर डेनिश विदुषी कुमारी फेरिंग ने गांधीजी को निम्न आशय का तार भेजा—'अपने भाइयों के लिए अपने स्वयं के प्राण खतरे में डाल देने से ज्यादा सच्चे प्रेम का और क्या सबूत हो सकता है।'

उसी समय लड़ाई समाप्त होने पर गांधीजी ने कहा कि इस लड़ाई में द्वेष या वैर-भाव के लिए थोड़ा-सा भी स्थान नहीं था। और वे जितने मजदूरों के सेवक थे उतने ही मिल मालिकों के भी थे। इस लड़ाई के बारे में लिखी हुई 'धर्म-युद्ध' नामक गुजराती पुस्तक में महादेवभाई ने इस हड़ताल का वर्णन अत्यन्त शुद्ध साधनों से, दृढ़ निश्चय के बल पर तथा दोनों ही बाजू कटुता पैदा न होने देते हुए लड़ी गई लड़ाई के रूप में किया है। लड़ाई का परिणाम भी दोनों पक्ष के लिए लाभदायक हुआ।

शुरू में तो दोनों पक्षों का मतभेद कितना बोनस दिया जाय इस बात को लेकर आरम्भ हुआ, लेकिन अन्त में मँहगाई भत्ते के प्रमाण का सवाल पैदा हो गया। जब दोनों पक्ष गांधीजी के पास पहुँचे तब उन्होंने सारे मामले का अध्ययन करके उनको समझाया कि दोनों पक्ष पंच-फैसला मान लें। इसके बाद थोड़े ही दिनों में दुर्भाग्य से कुछ मिल मजदूरों में ग़लतफहमी हुई जिससे उन्होंने हड़ताल कर दी। मालिक तो मुआहदे को तोड़ने का रास्ता ही देख रहे थे अतः वे इस पर बिगड़ पड़े। २२-२-१८ को उन्होंने तालेबन्दी की घोषणा कर दी। गांधीजी ने दोनों को समझाकर देखा लेकिन कोई नतीजा नहीं निकला।

कुल मिलाकर उन्हें यह दिखाई दिया कि मजदूरों का पक्ष ठीक है। जब उन्हें यह निश्चित रूप से मालूम हो गया कि तालेबन्दी होगी ही तो उन्होंने मजदूरों को अपनी ३५ टके बढ़ाने की माँग पर अड़े रहने की सलाह दी। उनका विश्वास था कि मजदूरों की यह माँग न्यायोचित है। लेकिन मिल मालिकों ने यह बात तय कर ली थी कि २० टके से ऊपर नहीं बढ़ना चाहिए। अतः २६ फरवरी १९१८ से हजारों मजदूरों की हड़ताल शुरू हो गई।

उस समय मजदूरों ने जो शपथ ली वह बड़ी सीधी थी। वह निम्न प्रकार थी—'जुलाई महीने की तनख्वाह में ३५ टके ज्यादा लिए बिना हम मिलों में काम करने नहीं जायँगे। तालेबन्दी के समय किसी भी प्रकार का झगड़ा नहीं करेंगे और पूरी तरह अहिंसा का पालन करेंगे। किसी भी प्रकार का दंगा या लूटमार नहीं करेंगे। मिल मालिकों की सम्पत्ति को किसी भी प्रकार का नुकसान नहीं पहुँचाएंगे। अपने मुँह से भी किसी प्रकार का असभ्यतापूर्ण शब्द नहीं निकालेंगे और हद दर्जे तक शान्ति का पालन करेंगे।

तालेबन्दी के दिनों में गाँधीजी और उनके साथी निरन्तर काम में जुटे रहे। उनके साथियों ने मजदूरों के मुहल्लों में जाकर उन्हें स्वच्छ और स्वस्थ जीवन का पाठ पढ़ाया। आवश्यक डाक्टरी सहायता भी पहुँचाई जाती थी। मजदूरों में बाँटने के लिए प्रतिदिन शिक्षात्मक पत्रिका प्रकाशित की जाती थी। इसी प्रकार प्रतिदिन सभाएँ की जाती थीं। और उनमें प्रतिदिन के प्रश्न हल किये जाते थे।

हाँ आर्थिक सहायता के सम्बन्ध में गाँधीजी ने कड़ी नीति अपना रखी थी। पैसे के बल पर चलने वाले आन्दोलन पर उनका विश्वास नहीं है। वे उनको यह उपदेश देते थे कि प्रत्येक आदमी को अपने लिए काम ढूँढ़ लेना चाहिए और पसीने की कमाई का ही भरोसा रखना चाहिए। उस समय आश्रम बन रहा था, अतः उस काम में बहुत से लोग लगा लिये गये। इसके साथ ही वे मजदूरों को यह आश्वासन

भी देते थे कि यदि भूखों मरने का ही मौका आया तो उसमें पहिला नम्बर उनका होगा मजदूरों का नहीं।

१४ दिन तक मजदूरों का नैतिक धैर्य बिलकुल बढ़िया रहा। परन्तु कुछ मिल मालिक अपने कुचक्र चला ही रहे थे। गाँधीजी के सम्बन्ध में अनेक अफवाहें उड़ाई गईं। कुछ भी हो १४ दिनों के बाद मज़दूरों का नैतिक धैर्य छूटता हुआ दिखाई देने लगा। गाँधीजी ने इस अवसर पर एक ऐसा निर्णय किया जो अपनी एक विशेषता रखता था और जो अभिनव एवं अनपेक्षित भी था। उन्होंने यह बात प्रकट की कि जबतक इन सब बातों का अन्त नहीं होगा न तो वे अन्न ग्रहण करेंगे न मोटर पर ही चढ़ेंगे।

यदि उनके ही शब्दों में कहें तो—"पाँच-दस हजार प्रफुल्लित और दृढ़ निश्चय के तेज से चमकने वाले चेहरों के बजाय केवल हजार-दो-हजार थके हुए एवं उद्विग्न चेहरे मुझे दिखाई दिये। ····· मैं उन आदमियों में से हूँ जो कहते हैं कि हर हालत में हमें अपनी प्रतिज्ञा का पालन करना चाहिए। आप अपनी प्रतिज्ञा भंग करें यह बात मैं क्षण भर के लिए भी बरदाश्त नहीं कर सकता। जबतक आप सब लोगों को ३४ टके ज्यादा नहीं मिलते अथवा जबतक अपने इस आन्दोलन में आप पूरी तरह हार नहीं जाते न तो मैं अन्न को स्पर्श करूँगा न मोटर में ही बैठूँगा।"

इससे सारी परिस्थिति बदल गई। मजदूर फिर दृढ़ हो गये। मिल मालिकों पर भी इससे अप्रत्यक्ष दबाव पड़ा। गाँधीजी ने इस सम्बन्ध में स्वीकार किया है कि उस हद तक उनके उपवास में हिंसा का अंश था। लेकिन मजदूरों की टूटती हुई ताकत को रोकने का यह एक ही इलाज वे कर सकते थे। इससे वे निरुपाय हो गये।

अन्त में यह तय हुआ कि प्रोफेसर ध्रुव एकमात्र पंच बनाये जाँय। ३ महीनों के बाद प्रोफेसर ध्रुव ने यह फैसला किया कि जुलाई के वेतन में मजदूरों को ३४ टके ज्यादा दिये जाँय।

इस प्रकार अहमदाबाद में शुरू हुआ यह काम अखण्ड रूप से चलता आ रहा है और अहमदाबाद की मजदूर महाजन यूनियन देश की एक अत्यन्त संगठित संस्था बन गई है। गाँधीजी के द्वारा बताये मार्ग पर ही उसका काम-काज चल रहा है।

व्हायकोम सत्याग्रह

यह घटना एक ऐसे सत्याग्रह का उदाहरण है जो कि एक बड़े दुर्धर्ष एवं आपदास्पद सामाजिक अन्याय को दूर करवाने के लिए किया गया था।

व्हायकोम एक प्रसिद्ध तीर्थ है। भारत के पश्चिमी किनारे पर मालाबार या केरल प्रान्त में त्रावणकोर रियासत की सीमाएं हैं। यहां शंकरजी का एक प्राचीन मन्दिर है। उसीके कारण इस गांव का महत्व बढ़ गया है। मन्दिर गांव के बीचोबीच है। वह सनातनियों का केन्द्र है। सन् १९२४ के प्रारम्भ में यह सत्याग्रह शुरू हुआ। माधवन कृष्णस्वामी तथा केलप्पन ने उसका प्रारम्भ किया। ब्राह्मण बस्ती तथा मन्दिर के पास से जाने वाले आम रास्तों से एक दिन उन्होंने कुछ हरिजनों को साथ लेकर दूसरी ओर जाने का प्रयत्न किया। भिक्षुकों और ब्राह्मणों ने अपनी पीढ़ियों से उस रास्ते से अस्पृश्यों को नहीं जाने दिया था। अपने भाइयों पर लगे हुए इस जुल्मी प्रतिबन्ध को समाप्त करने का निश्चय करके सत्याग्रह के द्वारा मनुष्यमात्र के लिए वह रास्ता खुलवाने के उद्देश्य से उपर्युक्त तीनों सज्जनों ने अपना प्रयत्न आरम्भ किया।

गांधीजी अभी जेल से छूटकर बाहर आये ही थे। उनका स्वास्थ पहिले जैसा नहीं हुआ था। अपेन्डिसाईटीज का जो आपरेशन हुआ था उसका असर भी अभी था। कार्यकर्ताओं ने उनसे सलाह ली। गांधीजी ने उन्हें आशीर्वाद दिया और समय-समय पर मार्गदर्शन का लाभ भी उन्हें मिला।

त्रावणकोर सरकार ने सनातनियों का पक्ष लिया और रास्ते की रक्षा के लिए पुलिस की मदद भेजी। इस सत्याग्रह के मूल में मुख्य प्रश्न यह था कि सार्वजनिक रास्ते का उपयोग करने का अधिकार प्रत्येक नागरिक को है।

जब पहिले जत्थे ने उस रास्ते से जाने का प्रयत्न किया तो ब्राह्मणों और पुजारियों ने उन्हें बुरी तरह पीटा। जत्थे के एक व्यक्ति को गहरी चोट आई। जत्थे में कुछ तो सुधारक थे और कुछ अछूत थे। लेकिन इस मार-पीट के बावजूद भी सुधारक लोग अपने निश्चय पर डटे रहे। वे मन में न तो कुड़कुड़ाये और न उन्होंने बदले या हिंसा की कल्पना को ही आने दिया और प्रतिदिन नियमित रूप से अपना कार्यक्रम चालू रखा। उनमें से कितने ही व्यक्तियों को अनधिकार प्रवेश करने के अपराध में गिरफ्तार किया गया और सजाएँ दी गईं।

सत्याग्रह की कल्पना जन-समाज के मन में गहरी उतर गई और गिरफ्तार व्यक्तियों का स्थान लेने के लिए दूर-दूर के प्रान्तों से स्वयं-सेवकों के जत्थे आने लगे। अब तो सत्याग्रहियों को गिरफ्तार करना बन्द करना पड़ा। रास्ते को रोककर उसके आस-पास कुण्डल बनाने की आज्ञा पुलिस को दी गई। रुकावटों को दूर करने के बजाय गांधीजी ने उनको उसके सामने रातदिन नम्रतापूर्वक खड़े रहने की सलाह दी। स्वयंसेवकों ने पास ही एक छोटी-सी झोंपड़ी बना ली और छः-छः घण्टों की बारी लगाकर बड़ी धार्मिक भावना के साथ अपना काम जारी रखा। फुरसत के समय वे चर्खा चलाते थे। इस प्रकार सब बातें सुचारु रूप से चल रहीं थी। रास्ते की रुकावट पहरेदार, सरकारी अफसर अथवा ब्राह्मण या भिक्षुकों के विरुद्ध हिंसा का अवलम्बन करने का विचार भी स्वयंसेवकों के मन में नहीं आया।

एक लम्बे अर्से तक यह काण्ड ऐसे ही चलता रहा। बाद में बर-सात शुरू हो गई। रास्ते का वह हिस्सा नीचा था; अतः वहां पानी-ही-पानी भर गया। तो भी स्वयंसेवक विचलित नहीं हुए। कितनी ही

बार वे कन्धे-कन्धे पानी में खड़े रहे। उन्होंने तीन-तीन घण्टे की बारी शुरू की, लेकिन अपना पहरा सतत चालू रखा। पुलिस को नाव पर अपनी छावनी बनानी पड़ी।

सत्याग्रह की अखण्डता और स्वयंसेवकों के मूक कष्ट-सहन के कारण यह एक समूचे भारत का प्रश्न बन गया। चारों ओर उसका बोलबाला हो गया। और उसपर अनेक लेख लिखे गये। सन् १९२५ के अप्रैल मास में गांधीजी स्वयं वहाँ गये। त्रावणकोर के अधिकारियों से उनकी बातचीत हुई। गांधीजी ने उनसे आग्रह किया कि केवल पाशवी बल के ऊपर सनातन धर्म की परम्परा मिटाने का प्रयत्न न करें। रास्ते की रुकावट और पुलिस का पहरा हटाने के लिए आखिर उन्होंने अधिकारियों को तैयार किया। सत्याग्रह शुरू होने के एक वर्ष चार महीने बाद सन् १९२५ की वर्षा ऋतु में रास्ता खोल दिया गया और ब्राह्मणों का विरोध भी समाप्त हो गया। अगर सरकारी अधिकारी पुजारियों की मदद करने न दौड़ते तो सम्भव था कि यह प्रश्न पहिले ही हल हो जाता।

इसके बाद त्रावणकोर के महाराज ने सन् १९३७ में एक राजाज्ञा निकाल कर राज्य के सारे सरकारी मन्दिरों को जाति, सम्प्रदाय का भेद किये बिना हिन्दूमात्र के लिए खोल दिया। इस समय गांधीजी व्हायकोम गये थे। वहां १८ जनवरी, १९३७ को अपने भाषण में उन्होंने इस सत्याग्रह का उल्लेख करते हुए कहा—"अभी कुछ ही वर्ष पहिले अवर्ण हिन्दुओं को इस रास्ते से जाने देने के लिए एक विकट लड़ाई लड़नी पड़ी थी। लेकिन आज तो खुद मन्दिर ही सब लोगों के लिए खोल दिये गये हैं।"

नील पुतले का सत्याग्रह

यह सत्याग्रह सन् १९२७ के अन्त में अगस्त से लेकर दिसम्बर महीने के बीच हुआ। विगत शताब्दि के मध्य में मद्रास में नील साहब

की स्मृति में यह पुतला खड़ा किया गया था। सन् १८५७ के भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम में लखनऊ में घिरी हुई सरकारी फौजों को छुड़ाने के लिए बाहर से जो कुमुक आई थी उसीमें नील आया था और वह वहीं मारा गया था। अंग्रेजी प्रमाणों के आधार पर भी यह सिद्ध हो गया है कि वह एक अत्यन्त क्रूर सिपाही था और अनेक अत्याचारों के लिए जिम्मेदार था। उसके सम्मान में पुतले की स्थापना होने से लोगों को उसके द्वारा उनपर लादी गई अनन्त अवहेलनाएं और अपमानों का बारबार स्मरण होता था। इस दुःखपूर्ण स्मृति के प्रतीक को मिटाने के लिए आन्दोलन करना स्वाभाविक ही था।

कई लोग अपने हाथों में छेनी और हथौड़े लेकर सत्याग्रह करने के लिए पुतले की ओर चले। पुलिस ने पुतले पर पहरा बिठला दिया और जो सत्याग्रही उसके पास जाते उनको गिरफ्तार करना शुरू किया। गांधीजी ने इस आन्दोलन को अपना आशीर्वाद दिया और साप्ताहिक यंग इण्डिया में स्वयंसेवकों का मार्ग-दर्शन करने वाले कई लेख लिखे। इनमें से एक लेख में उन्होंने लिखा है—"स्वयंसेवकों को जल्दबाजी नहीं करना चाहिए। जल्दबाजी हिंसा की ही एक अवस्था है। सत्याग्रही को सफलता की तनिक भी चिन्ता नहीं होती। उसके लिए सफलता तो निश्चित है; लेकिन उसे यह भी जानना चाहिए कि वह ईश्वर की ओर से मिलती है। उसका कर्त्तव्य तो केवल कष्ट-सहन करते रहना ही है।" उन्होंने उन स्वयंसेवकों की हिंसक प्रवृत्ति की आलोचना की जिन्होंने कुछ विज्ञप्तियों में हिंसक प्रवृत्ति प्रकट की थी। वे कहते हैं—"यहां रोष एवं घृणापूर्ण भाषा के लिए कोई स्थान नहीं है। हमें तो उस सिद्धान्त को मिटाना है जिसे लेकर इस पुतले को खड़ा किया गया है। हम किसी भी व्यक्ति को नुकसान पहुँचाना नहीं चाहते।"

कितने ही स्वयंसेवकों को सजाएं दी गईं। लेकिन वह सत्याग्रह ज्यादा दिनों तक चला नहीं और यह कहा जा सकता है कि तात्कालिक उद्देश्यों की दृष्टि से वह असफल हो गया। बाद में जब कांग्रेस के

मंत्रिमण्डल ने शासन सम्भाला तब श्रीराजगोपालाचारी ने सबसे पहिला काम यही किया कि उस पुतले को उस सम्माननीय स्थान से हटाकर अजायबघर के एक ऐसे कोने में रखवा दिया जहां किसीका ध्यान न जाने पाए।

बारडोली सत्याग्रह

बारडोली की महान लड़ाई के समय किसानों ने जो अग्निपरीक्षा दी उसके मुकाबले में हिन्दुस्तान के उपर्युक्त सत्याग्रह बहुत छोटे प्रतीत होते हैं। बारडोली की लड़ाई में जो प्रश्न निहित थे वे समूची रैयतवारी पद्धति के लिए महत्वपूर्ण हैं। आन्दोलन को कुचलने के लिए सरकार ने अपनी सारी ताकत लगा दी थी और वह उसी समय झुकी जब उसने यह जान लिया कि लोगों को कुचलना बिलकुल असम्भव है।

सन् १६२२ में पहिले असहयोग आन्दोलन के समय यदि सब बातें अच्छी तरह होती रहतीं तो बारडोली ताल्लुके में बड़ी जबरदस्त लड़ाई हुई होती और असहयोग आन्दोलन के कार्यक्रम के सारे अङ्ग कार्य रूप में परिणत हुए होते। लेकिन चौरा-चौरी के शोचनीय हिंसा-काण्ड ने बारडोली को इस सौभाग्य से वंचित कर दिया। करबन्दी आन्दोलन एक अनिश्चित समय के लिए स्थगित कर दिया गया। लेकिन बाद में सन् १६२८ में सन् १६२२ की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक रूप से ताल्लुके ने अपना काम करके दिखा दिया। उस ऐतिहासिक लड़ाई के अन्त में श्रीमती सरोजिनी नायडू ने गांधीजी को लिखा "बारडोली में आदर्श सत्याग्रह करना आपका एक स्वप्न था। अपने एक विशेष रास्ते से उसे पूर्णता तक पहुंचा कर बारडोली ने विशेष अर्थ में आपका स्वप्न सच्चा कर दिया है।"

प्रति ३० वर्ष के बाद बम्बई सरकार प्रत्येक ताल्लुके में नया बन्दोबस्त करती थी और प्रायः बन्दोबस्त का अर्थ ही होता था लगान में

वृद्धि। बारडोली और चौरासी ताल्लुके में ३० प्रतिशत वृद्धि कर दी गई। लोगों के विरोध के परिणामस्वरूप घटाकर यह वृद्धि २२ प्रतिशत कर दी गई। लेकिन किसानों ने सरकार के निर्णय पर भी एतराज किया और उन्होंने यह मांग की कि लगान में किसी भी प्रकार की वृद्धि करने के पहिले खुली जांच होनी चाहिए। लेकिन सरकार ने इस विरोध की कुछ परवाह नहीं की।

अब किसानों ने खूब शान्तिपूर्वक विचार करके आखिरी फैसला कर लिया। उन्होंने एक सम्मेलन का आयोजन किया और उसमें उसका विरोध करने का प्रस्ताव पास करके सरकार को इस आशय का नोटिस दे दिया कि यदि सरकार अपनी जिद पर अड़ी रही तो हम कर देना बन्द कर देंगे।

वहां की कुल जन-संख्या ८८००० थी। और इस नये हिसाब से कुल ६२७०००) लगान देना होता था। गांधीजी ने सारी स्थिति का अध्ययन किया और लड़ाई को आशीर्वाद दिया। बारडोली के किसानों की प्रार्थना पर वल्लभभाई ने लड़ाई का नेतृत्व करना मंजूर कर लिया। वल्लभभाई की बदौलत किसानों का अन्त तक त्याग करने का निश्चय दृढ़ हो गया। बड़े उत्साह के साथ लड़ाई प्रारम्भ हो गई।

अपनी 'स्टोरी आफ बारडोली' नामक पुस्तक में स्व० महादेवभाई देसाई ने लड़ाई का आद्योपान्त वर्णन किया है। हम यहाँ उसकी मोटी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ दे रहे हैं ताकि पाठकों को साधारणतः उसकी कल्पना हो जाय।

सरदार वल्लभभाई पटेल ने ताल्लुके का विधिवत् संगठन किया। कितने ही वर्षों से ताल्लुके के विभिन्न भागों में समाज-सेवा के ४-५ केन्द्र चलाये जाते थे। लड़ाई के समय सुविधाजनक स्थानों पर १६ शिविर खोले गये। वहाँ लगभग २५० स्वयंसेवकों के लिए प्रबन्ध किया गया। प्रत्येक स्वयंसेवक को एक निश्चित काम सौंप दिया गया। ताल्लुके का सारा वातावरण एक फौजी छावनी के रूप में बदल गया।

लड़ाई, त्याग, निर्भयता, प्रतिकार आदि शब्द ही लोगों की जबान पर थे। प्रतिदिन खबरें और सूचना देने वाली दोनों प्रकार की पत्रिकाएँ निकाली जाने लगीं।

किसानों ने यह कठोर प्रतिज्ञा ली कि वे पूरी तरह अहिंसक रहेंगे, हद दर्जे का कष्ट-सहन करेंगे और हँसते-हँसते सर्वस्व बलिदान करने की तैयारी रखेंगे। बारडोली में प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ और उसमें यह अन्तिम निर्णय किया गया कि सरकार ने लगान की जो दुबारा जाँच की है वह मनमानी, अन्याय्य और जुल्मी है। उसमें सारे किसानों को यह आदेश दिया गया कि जब तक सरकार पुराने हिसाब से लगान लेने के लिए तैयार नहीं होती अथवा जबतक मौके पर जाकर के लगान का प्रश्न निर्णय करने के लिए एक निष्पक्ष जाँच कमेटी नहीं बैठाई जाती वे लगान देने से इनकार कर दें। यह परिषद् १२ फरवरी १९२८ के दिन हुई।

सरदार वल्लभभाई पटेल द्वारा बुलाई हुई सभाओं में उन स्त्री, पुरुषों और बच्चों की भीड़ इकट्ठी होने लगी जो किसी भी प्रकार का त्याग करने के लिए तैयार थे। थोड़े-से ही समय में सारे ताल्लुके में मानो बिजली दौड़ गई। ऐसा लगने लगा कि वही सन् १९२२ का पुराना जमाना आ गया है।

लगान वसूल करने के लिए सरकार ने हद दर्जे की सख्ती करने का प्रयत्न किया। उसने कुछ भी बाकी नहीं छोड़ा। खुशामद, रिश्वत, धमकी, जुर्माना, कैद, जब्ती और लाठी-चार्ज आदि सारे उपाय करके देख लिये। उसने जातियों में फूट डालने का प्रयत्न किया। बड़ी-बड़ी स्टेटें जब्त कर ली गईं और जब कोई स्थानीय उन्हें लेने वाला नहीं मिला तो वे पानी के मोल बाहर वालों को बेच दी गईं। लगभग १४०० एकड़ जमीन पर कब्जा करके उसे नीलाम किया गया। लोगों को डराने-धमकाने के लिये ४० पठान रखे गये और एक भय का वातावरण निर्माण कर दिया गया। लेकिन इस सबका यही नतीजा निकला कि

सारा ताल्लुका और भी ज्यादा संगठित हो गया। जाति-संस्थाएँ मजबूत बन गईं, सारे सरकारी नौकरों तथा नीलाम में जब्तशुदा माल खरीदने वालों का कड़ा सामाजिक बहिष्कार किया गया। अलबत्ता विरोधी की शारीरिक आवश्यकताओं के लिए अवश्य सुविधाएँ दी गईं।

समूचे भारतवर्ष ने इस लड़ाई के प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित की और बारडोली के योद्धाओं की प्रशंसा की; क्योंकि स्त्रियों ने भी पुरुषों की ही भाँति लड़ाई का भार उठाया था। सरकार की दमन-नीति के विरोध में असेम्बली के कई सदस्यों ने स्तीफे दे दिये। पार्लियामेन्ट में भी इस मामले की चर्चा हुई। किसान बिल्कुल दृढ़ और अहिंसक बने रहे। साढ़े पाँच महीनों की लड़ाई के बाद सरकार झुकी। गवर्नर ने एक जाँच कमेटी बैठाई। जब्तशुदा चीजें लौटा दी गईं और गाँव के जिन कर्मचारियों ने स्तीफा दे दिया था उन सब लोगों को फिर से नौकरियाँ दी गईं। कमेटी ने बहुत-से अंशों में किसानों की शिकायतें स्वीकार कीं और २२ प्रतिशत के बजाय केवल ६॥ प्रतिशत वृद्धि करने की सिफारिश की।

इस रिपोर्ट के द्वारा किसानों की बात पूरी तरह सच्ची सिद्ध हुई और सत्याग्रह शस्त्र की कार्यक्षमता निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गई। उनकी शिकायत न्यायोचित थी। उनका कहना विवादरहित था और उनकी कार्य-पद्धति अहिंसक थी।

सिरशी, सिद्दापुर और हिरेकेरूर में करबन्दी

सन् १९३१ में कर्नाटक प्रान्त के इन तीन ताल्लुकों में जिस परि-स्थिति में करबन्दी आन्दोलन करना पड़ा वह सन् १९१८ की खेड़ जिले की स्थिति से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। अन्तर इतना ही है कि सन् १९३०-३१ के गाँधी-इरविन पेक्ट के अनुसार जो जबरदस्त सविनय अवज्ञा आन्दोलन बन्द कर दिया गया उसके साथ यह आन्दोलन भी बन्द कर दिया गया; लेकिन चूँकि यह आन्दोलन और

सविनय अवज्ञा आन्दोलन साथ-साथ ही चल रहे थे। इससे जनता को हानि पहुँची क्योंकि अधिकारियों ने पहले से ही उस सम्बन्ध में अपने मन दूषित कर लिए थे और वहाँ के कार्यकर्ताओं पर राजनैतिक उद्देश्य रखने का आरोप किया गया था।

सन् १९३१ के प्रारम्भ में ये तीन ताल्लुके आधे अकाल के शिकार हो गये। फसल बहुत ही कमजोर हुई। सिरशी एवं सिद्दापुर ताल्लुके की मुख्य व्यापारिक फसल सुपारी की कीमतें काफी गिर गईं। फसल रुपये में चार आने से भी कम आई। अतः किसानों ने केवल इस वर्ष के लगान को स्थगित कर देने की माँग की। सभा, सम्मेलन, शिष्ट मण्डल प्रार्थना-पत्र किसीसे भी मतलब हल नहीं हुआ। सरकार ने इस आर्थिक आन्दोलन का सम्बन्ध उत्तरी कनारा जिले के अंकोला ताल्लुके के राजनैतिक करबन्दी-आन्दोलन से जोड़ने का प्रयत्न किया। यह बात सच है कि प्रमुख राजनैतिक कार्यकर्ता ही यह आन्दोलन चला रहे थे लेकिन उनकी आर्थिक शिकायतें बिलकुल ठीक थीं और किसानों को छूट मिलना आवश्यक था।

सिरशी और सिद्दापुर उत्तरी कनारा जिले में घाट के ऊपर के ताल्लुके हैं और हिरेकेरूर ताल्लुका धारवाड़ जिले में है। इन तीनों ताल्लुकों के किसानों ने वैधानिक ढंग से धीरे-धीरे आगे बढ़ने की होशियारी प्रदर्शित की थी। वे राजनीतिक झगड़ों में उलझना नहीं चाहते थे। उन्होंने अर्ज-मारूज की, सम्मेलन बुलाया, प्रस्ताव पास किये और जिले के बड़े अधिकारियों से भेंट की। उनकी शिकायतों से जिन-जिन लोगों का सम्बन्ध था उन सबके सामने उन्होंने अपनी कठिनाइयाँ रखीं और जो कुछ भी वे कर सकते थे वह सब करके उन्होंने देख लिया। कहा जाता है कि सिरशी के अधिकारियों ने तो खानगी तौर से यह सिफारिश कर दी थी कि लगान स्थगित कर दिया जाना चाहिए। यहाँ उसका उल्लेख करना असंगत न होगा। ऐसा कहा जाता है कि उनसे सिफारिश वापस लेने के लिए कहा गया।

और जब उन्होंने वैसा करने से इन्कार कर दिया तो दूसरे ताल्लुके में तार द्वारा उनकी बदली कर दी गई। कुछ भी हो स्थिति बिगड़ती गई और प्रत्यक्ष करबन्दी का आन्दोलन शुरू हुआ। सरकार ने मामले के औचित्य-अनौचित्य का विचार करने से इनकार कर दिया और आन्दोलन की कमर तोड़ देने का विचार किया। सिरशी और सिद्धापुर ताल्लुके के किसानों का पक्ष काफी मजबूत था; क्योंकि सन् १६२३ में ही श्री कालिन्स नामक वसूली विभाग के एक बड़े अफसर ने उन दो ताल्लुकों की कसकर जाँच की थी और उसने सिफारिश की थी कि इनको लगान में स्थायी छूट दी जाय। लेकिन सरकार ने इन सब बातों की ओर से आँखें मूँद लीं और यह प्रगट करना शुरू कर दिया कि इस आन्दोलन के मूल में राजनैतिक उद्देश्य निहित है।

तीनों ताल्लुकों के किसान अपने सिद्धान्त पर दृढ़ रहे और उन्होंने हजारों जब्तियां तथा अनेक प्रकार के जुल्मों का मुकाबला किया। उन्होंने बड़े धैर्य और शांति के साथ जमीन जब्त करने के नोटिसों की तामील की। बहुत-सा जब्तशुदा सामान बेंच दिया गया और कुछ जमीन नीलाम भी करवा दी गई। हाँ, उन्हें खरीदने के लिए कोई भी स्थानीय ग्राहक तैयार नहीं हुए।

तीनों ताल्लुकों में कुल मिलाकर लगभग ७००-८०० जब्तियां हुईं और जमीन जब्त करने के २०० नोटिस जारी हुए; लेकिन इसी समय ४-३-३७ को गांधी-इरविन पेक्ट का समाचार आ धमका।

अंकोला में जो राजनैतिक करबन्दी-आन्दोलन जनवरी १६३१ से चल रहा था वह स्वभावतः ही वापस ले लिया गया और किसानों को कहा गया कि वे लगान दे दें। उन्होंने लगान दे भी दिया। लेकिन चूंकि इन तीन ताल्लुकों का आन्दोलन आर्थिक कारणों से चलाया गया था। अतः उसे तो चालू रखना पड़ा। गांधीजी को सारी स्थिति से परिचित कराया गया और उन्होंने लड़ाई चालू रखने की इजाजत दे दी।

इस बीच नीलाम की जगह धरना देने के अपराध में तथा आन्दोलन

से सम्बन्ध रखने वाले अन्य कारणों के लिए अनेक स्वयंसेवकों को सजाएं दी गई थीं और उनमें से कई लोगों को तालुका छोड़-कर अन्यत्र चले जाने का नोटिस दिया गया था। पुलिस ने धारवाड़ और बेलगांव में अनेक तलाशियां ली थीं और उसके आधार पर पुलिस अधिकारी आन्दोलन के सूत्रधार माने जाने वाले लोगों पर षड्यन्त्र के मामले चलाने का विचार कर रहे थे। लेकिन अन्त में अधिकारियों को विश्वास हो गया कि यह आन्दोलन सचमुच आर्थिक शिकायतों को ही लेकर चल रहा है। कहा जाता है कि स्थानीय अधिकारियों के झुकने के पहिले गांधीजी को सारी बातें लार्ड इरविन के सामने रखनी पड़ी थीं। मई सन् १६३१ में रेवेन्यू कमिश्नर तथा कार्यकर्ताओं में समझौता हो गया। हिरेकेरूर तालुके की रैयत को काफी छूट मिली। उनका एक वर्ष का लगान स्थगित कर दिया गया। सिरशी और सिद्दापुर तालुके के लिए सरकार ने यह वचन दिया कि यदि लोग व्यक्तिगत रूप से प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत करेंगे तो उनकी वसूली मुल्तवी कर दी जायगी। लेकिन हमेशा की भांति स्थानीय अधिकारियों ने इस धारा का अर्थ व्यापकता से नहीं लगाया और गरीब जनता को फिर से कष्ट सहने पड़े। समझौते के बाद वे लोग मुक्त कर दिये गये जो कि सजा भुगत रहे थे और जो नोटिस एवं मामले चलाये जाने वाले थे वे भी वापस ले लिये गये। यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि फौरन ही आन्दोलन भी बन्द कर दिया गया।

बाद में सन् १६३१ के नवम्बर मास में सिरशी और सिद्दापुर तालुकों को सरकार ने सन् १६२३ में श्रीकालिन्स द्वारा सिफारिश की हुई कुछ सुविधाएं दी। इनमें से एक थी लगान में १७००० रुपये वार्षिक की स्थायी छूट। यद्यपि यह काम बहुत देर से हुआ फिर भी इससे जनता को कुछ तसल्ली हुई। यह स्पष्ट ही है कि अधिकारियों की यह इच्छा थी कि जनता यह अनुभव करे कि उसे ये सुविधाएं सरकार की उदारता के परिणामस्वरूप मिली हैं न कि आन्दोलन की बदौलत।

: १८ :

दूसरे लोगों के द्वारा किये गये सत्याग्रह

इस अध्याय में कुछ ऐसे सत्याग्रह-आन्दोलनों का वर्णन किया जा रहा है जो गांधीजी की गैरहाजिरी में हुए और जिनको उनके आशीर्वाद मिलने का मौका या सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका।

पहाड़ी जाति के लोगों का सत्याग्रह

शिमला के उत्तर में हिमालय में कोटगिरी या कोटगढ़ नामक एक पहाड़ी जिला है। वह हिन्दुस्तान से तिब्बत जाने वाले रास्ते पर पड़ता है। वहां बेगार या जबरदस्ती मजदूरी करवाने की कुप्रथा प्रचलित थी। केवल सरकारी अधिकारी ही नहीं बल्कि शिकार या सैर के लिए जाने वाले यूरोपियन भी उस अधिकार के नाम पर वहां के ग्रामीणों को परेशान करते थे। बेगार का अर्थ है किसी भी समय कम-से-कम दर पर जबरदस्ती काम करवा लेने की प्रथा। कई बार किसानों को नाम-मात्र की मजदूरी पर बुला लिया जाता था जिससे उनकी खेती को बहुत नुकसान होता था। इतना ही नहीं उनको साहबों के बंगलों पर अपनी गाएं ले जानी पड़ती थीं और वहां उन्हें दुह कर उनको सस्ते दाम में दूध देना पड़ता था।

यह प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही थी। लेकिन इधर कुछ दिनों में गरीब किसानों में जाग्रति हुई और उन्होंने इस कुप्रथा का विरोध करके अधिकारियों से दाद-फरियाद की परन्तु उनकी शिकायत मिटाना तो दूर उलटे कपूरसिंह नामक एक स्थानीय नेता को जेल में डाल दिया गया। जनता पर दमन का दौर-दौरा हो गया। शिमला से पुलिस बुलाई गई। दूसरे और लोगों को पकड़ा गया या मशीनगन, काला पानी, या जन्म कैद आदि का भय दिखा कर छोड़ दिया गया।

ऐसी ही परिस्थिति में कपूरसिंह के खिलाफ कुछ सबूत इकट्ठा किया गया और उसे सजा दे दी गई। यह बात है सन् १९२१ की जब कि सारे देश में असहयोग की गूंज हो रही थी।

कुछ समय के बाद श्री ई. एस. स्टोक्स नामक एक यूरोपियन सज्जन ने जो कि वहां रहकर बाग-बगीचे का धन्धा करते थे, इस प्रश्न को अपने हाथों में लिया और इस पुराने अन्याय का कसकर प्रतिकार करने के लिए एक आवश्यक संगठन खड़ा किया। उन्होंने एक कमेटी बनाई और लोगों से यह प्रतिज्ञा करवाई कि वे शब्दशः कमेटी की आज्ञा का पालन करेंगे और कमेटी के द्वारा ही अपनी बात कहेंगे।

इसके बाद अपनी मांग का एक मसविदा अत्यन्त नपे-तुले शब्दों में तैयार करके जिला कमिश्नर के पास भेजा गया। उसने इसके ऊपर कोई ध्यान नहीं दिया। दूसरे अधिकारियों से भी मिला गया; लेकिन उसका भी कोई फल नहीं हुआ। वह प्रथा चालू ही रही। वहां के ब्रिटिश अधिकारियों की सुख-सुविधा और ऐश-आराम इसी प्रथा पर अवलम्बित थे। यही कारण था कि वे इस प्रश्न पर ध्यान देना नहीं चाहते थे। इसके बाद पंचायत ने यह प्रकट किया कि यदि एक निश्चित समय में बेगार बन्द नहीं की गई तो हजारों की बस्ती वाला यह जिला किसी भी प्रकार का काम करने से इन्कार कर देगा।

नतीजा यह हुआ कि शिमला के कमिश्नर को वहाँ तक आना पड़ा। उसने गांव और लोगों में फूट डालने का पुराना रास्ता अख्तियार किया। कड़ी कार्रवाई करने की धमकी दी। उसने कई लोगों को बुलाया। लेकिन कोई भी इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से बोलने के लिए तैयार नहीं हुआ। सब ने पंचायत की ओर संकेत किया। लोगों ने पूरी तरह अहिंसक वातावरण बनाये रखा। उन्होंने किसी भी सरकारी अफसर अथवा उस भाग में प्रवास करने वाले यूरोपियन को अनाज देने या किसी भी प्रकार का काम करने से इन्कार कर दिया। उन्होंने एक स्वर से कहा कि "सबसे पहिले इस अन्यायपूर्ण प्रथा का

अन्त हो जाना चाहिए।" कुछ महीनों तक लड़ाई चलती रही। कमिश्नर के आ जाने पर थोड़े ही दिन में ग्रामीणों की मांगें मंजूर कर ली गईं। सारे मुख्य-मुख्य रास्तों पर छपे हुए सरकारी परिपत्र लगाये गये। ग्रामीणों से करवाये जाने वाले काम काफी मर्यादित कर दिये गये और उनकी ठीक-ठीक मजदूरी भी निश्चित कर दी गई। इस प्रकार ग्रामीणों को उनकी सहनशीलता, ऐक्यता, त्याग करने की तैयारी और विशेषकर अहिंसक वृत्ति के कारण सफलता प्राप्त हो गई।

२१-७-१६२१ के यंग इण्डिया में गांधीजी ने इस सम्बन्ध में एक लेख लिखा। उसमें वे कहते हैं कि "आज मिस्टर स्टोक्स की भाँति दूसरा कोई भी भारतीय सरकार से लड़ाई करता हुआ दिखाई नहीं देता। वे उन पहाड़ी लोगों के एक सच्चे मार्गदर्शक, तत्वज्ञ और मित्र बन गये हैं। पाठकों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि शिमला की छाया में खुद वाइसराय की आँखों के सामने बेगार ली जा रही है। ......लोगों को कमजोरी नहीं दिखानी चाहिए। लेकिन एकनिष्ठ रहकर और अधिकारियों का गुस्सा मोल लेकर भी उसकी (कपूरसिंह) भाँति जेल में जाने के लिए तैयार हो जाना चाहिए।"

सिरशी का गाड़ीबन्दी आन्दोलन

कोटगिरी के आन्दोलन की ही भाँति कर्नाटक के कारवार जिले में भी एक आन्दोलन हुआ जिससे उसी तरह के अन्याय का अन्त हुआ। वे भी धूम-धाम के ही दिन थे। असहयोग के मन्त्र से सारा वातावरण गूँज रहा था। बम्बई प्रान्त के दक्षिणी भाग के तत्कालीन रेवेन्यू कमिश्नर श्री कॅडेल सन् १६२१ के प्रारम्भ में सिरशी पधारे। सरकारी अफसरों के उपयोग के लिए गाड़ीवान की आवश्यकता या सुविधा-असुविधा का ख्याल न रखते हुए कम-से-कम पैसों में जबरदस्ती गाड़ियाँ बेगार में पकड़ने की प्रथा उन दिनों सारे जिले में प्रचलित थी। कितनी ही बार तो गाड़ी कई दिनों के लिए ले जाई जाती थी

और इससे खेती के काम में बहुत नुक्सान होता था। गाड़ी का अर्थ है—गाड़ी, बैल-जोड़ी तथा साथ ही गाड़ीवान भी। सारा कारबार जिला-जंगलों में बसा था और दो-तिहाई से अधिक भाग पहाड़ी था। वहाँ एक मील भर भी रेलगाड़ी का रास्ता नहीं था, अतः जाने-आने का एकमात्र साधन बैलगाड़ी ही था। सन् १६२१ में न तो मोटर थी न लारी। अतः सारा आवागमन बैलगाड़ी पर ही निर्भर था।

ऐसी परिस्थिति में एक ग्रामीण ने कमिश्नर के आदमियों को अपनी गाड़ी देने से इन्कार कर दिया। साहब के चपरासी ने डांटडपट तथा ऐसे ही अन्य उपायों से उसे राजी करने का प्रयत्न किया, लेकिन वह तैयार नहीं हुआ। ओडलमने नामक एक व्यापारी हिम्मत के साथ आगे बढ़ा और कहा कि मैं यह डांटडपट नहीं होने दूँगा। वह तथा गाँव के अन्य प्रतिष्ठित लोग अपनी यह शिकायत लेकर कमिश्नर साहब के बँगले पर पहुँचे। साहब ने शिकायत सुनना तो दरकिनार, उल्टे आगबबूला होकर व्यापारी को धक्के देकर निकाल दिया। व्यापारी ने यह सब बड़े धैर्य के साथ सहन किया। सब लोग दुःखी होकर लौट आये। यह बात आग की तरह चारों ओर फैल गई और नरम पड़ने के बजाय किसान लोग और भी साहसी हो गये। केवल सिरशी ही नहीं सारे जिले में खासी उत्तेजना फैल गई। प्रारम्भ में काफी संगठन नहीं था फिर भी सरकारी नौकरों को गाड़ी न देने की बीमारी सारे जिले में फैल गई। सरकार की समझ में नहीं आया कि क्या किया जाय। कमिश्नर के साथ के सब लोगों का बहिष्कार कर दिया गया। कहा जाता है कि यह बहिष्कार उस जिले तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि रत्नागिरी जैसे अन्य जिले में भी उसने कमिश्नर का पीछा नहीं छोड़ा।

लगभग एक महीने के आन्दोलन के बाद सरकार ने स्थानीय नेताओं से समझौता किया और भेंट वगैरा की प्रथा बन्द की। और उसकी जगह सरकारी दौरा करने वाले अधिकारियों के उपयोग के

लिए कुछ गाड़ियों को भाड़ा देने की प्रथा शुरू की। लड़ाई छोटी और थोड़े समय तक हुई और उसका अन्त भी शान्तिपूर्ण एवं संतोषजनक हुआ। कहा जाता है कि जब बाद में धारा सभा में प्रश्न पूछा गया तब कमिश्नर ने अपने आवेश के लिए दुःख प्रकट किया। इस प्रकार ग्रामीणों को परेशान करने वाले एक कारण का अन्त हुआ।

मुलशी पेटा सत्याग्रह

यह सत्याग्रह हायड्रोइलेक्ट्रिक स्कीम की उस योजना के विरुद्ध किया गया था जिसके अनुसार लगभग ४१ ग्रामों को पानी में डुबोकर शहरों, रेलगाड़ियों तथा बम्बई की मिलों में बिजली पहुँचाने का प्रयत्न किया गया था।

पूना शहर से लगभग ३० मील के फासले पर मुलशी पेटा नामक एक पहाड़ी भाग है। सन् १९२० में टाटा पावर कम्पनी ने वहाँ पानी जमा करने की योजना बनाई। इस योजना के अनुसार लगभग ४१ गाँव पानी के नीचे चले जाते और लगभग ११००० आदमी बेघरबार हो जाते। कम्पनी मुआवजा देने के लिये तैयार थी; लेकिन बाप-दादा के जमाने से चले आने वाले घरबार छोड़कर बाहर जाने वाले हजारों लोगों को चाहे जितना मुआवजा दिया जाय पर्याप्त नहीं होता। उस भाग में रहने वाले मावली लोग बड़े परिश्रमी किसान हैं और उनमें से बहुत-से उन बहादुर सिपाहियों की संतान हैं जो शिवाजी की सेना में थे। मावले इससे स्वभावतः ही बेचैन हुए। उन्होंने पूना के काँग्रेसी नेताओं से सलाह-मशवरा किया। ये भी असहयोग आन्दोलन की ही धूम-धाम के दिन थे। काँग्रेसी नेताओं ने निश्चित किया कि यदि मावले उसके सारे नतीजे भोगने को तैयार हों तो सत्याग्रह शुरू किया जा सकता है। १३०० मावलों ने इस आशय के एक प्रतिज्ञा-पत्र पर दस्तखत किये कि या तो अपनी जमीन को बचा लेंगे या उसके लिए अपनी जान कुर्बान कर देंगे। इस प्रश्न को लेकर सारे महाराष्ट्र में जाग्रति की गई। ता० १६-४-१९२१ को रामनवमी के दिन विधिवत्

लड़ाई शुरू हुई। कुल मिलाकर १२०० स्त्री-पुरुष और बच्चे तथा महाराष्ट्र के कुछ प्रमुख नेता उस जगह बैठ रहे जहाँ बाँध बनाया जा रहा था। बाँध बनाने में लगभग ५००० मजदूर लगे हुए थे। उन सब ने भी काम बन्द कर दिया। एक महीने भर तक यही कार्यक्रम चालू रहा। प्रत्येक बात अहिंसक ढंग से हुई। कम्पनी ने कुछ समय के लिए पूरी तरह काम बन्द कर दिया। अतः लड़ाई का तात्कालिक उद्देश्य पूरा हो गया। इसके बाद बरसात शुरू हो गई।

हिन्दुस्तान के अन्य किसानों की भांति मावले भी साहूकारों के कर्ज के बोझ से पिस रहे थे। साहूकारों को लगा कि यदि लड़ाई इसी प्रकार चलती रही तो सरकार बीच में पड़ जायगी और उन्हें बदले में बहुत कम मुआवजा मिलेगा। अतः साहूकारों ने सत्याग्रहियों को मालूम न होने देते हुए कम्पनी के इञ्जिनियर और मैनेजर से बातचीत शुरू कर दी। कम्पनी के मैनेजर ने इस बात का वायदा किया कि यदि फिर दुबारा सत्याग्रह का उत्पात न हो तो वह काफी हर्जा देने के लिए तैयार है। साहूकारों ने उनको समझाने का प्रयत्न किया लेकिन मावले अपनी जमीन न छोड़ने की मांग पर डटे रहे। लगभग ढाई वर्ष तक लड़ाई चलती रही। अन्त में लैण्ड एक्विजिशन एक्ट के अनुसार सरकार ने जमीन अपने कब्जे में ले ली। अब किसानों को कम्पनी, साहूकार और सरकार तीनों का गुस्सा मोल लेना पड़ा। उनमें से कुछ किसान विरोधियों से जा मिले। अतः उनकी कठिनाई और भी बढ़ गई। इसके अलावा महाराष्ट्र के नेताओं में इस लड़ाई की आवश्यकता के सम्बन्ध में एक मत भी नहीं था।

दिसम्बर १६४१ में लड़ाई की दूसरी लहर उठी। गिरफ्तारी, सजा, धमकी जुल्म सब कुछ होते रहे। महाराष्ट्र के बहुत-से नेताओं को जेल जाना पड़ा। कुल मिलाकर १२५ मावले, ५०० स्वयंसेवक, कितने ही नेता तथा अनेक स्त्रियों को सजा भोगनी पड़ी। प्रायः सारे प्रमुख नेताओं के जेल चले जाने पर साहूकारों को अच्छा मौका मिला

और नेताओं के मतभेद से लाभ उठाकर उन्होंने किसानों को बढ़ा हुआ मुआवजा स्वीकार करने के लिए फुसला लिया। इससे लड़ाई की कमर टूट गई क्योंकि जिनके फायदे के लिए वह लड़ी जा रही थी वे ही पीछे हट गये।

इसका परिणाम यह हुआ कि किसानों को अलबत्ता काफी मुआवजा मिला। लेकिन जिन साहूकारों के कर्ज की चक्की में वे पिस रहे थे उन्हींकी जेब में मुआवजे का बहुत बड़ा हिस्सा चला गया। किसानों के सन्तोष के लिए करीब-करीब कोई स्थान नहीं रहा।

बोरसद सत्याग्रह

सारे ताल्लुके पर बतौर सजा के लगाये गये जुर्माने के खिलाफ यह सत्याग्रह किया गया और अन्त में इसमें यह साबित हुआ कि लोगों के बजाय पुलिस ही ताल्लुके की बदमाशी के लिए उत्तरदायी थी।

गुजरात प्रान्त के सूरत जिले में बोरसद एक ताल्लुका है। सन् १९२२ में गांधीजी को सजा हो गई। इसके बाद मार्च के मध्य में कुछ विचित्र परिस्थिति में सत्याग्रह की यह छोटी-सी लड़ाई चलाने के लिए सरदार वल्लभभाई पटेल को वहां बुलाया गया। देवर बाबा नाम के डाकू की लूट में गुप्त रूप से सम्मिलित होने का झूठा आरोप लगाकर बोरसद ताल्लुके के निवासियों पर सरकार ने उन्हें सजा देने के लिए दण्ड-कर लगा दिया। शासन करने के लिए ताल्लुके में बड़ोदा तथा अंग्रेजी इलाके की ज्यादा पुलिस बिठा दी गई और उसका खर्च भी बेचारे निरपराध किसानों पर लाद दिया गया।

कुछ समय तक देवर बाबा ने डाके डालने, धनवानों को उड़ा ले जाने और बदले में उनसे भारी रकमें वसूल करने का तांता लगा दिया था। यह सिलसिला लगभग एक महीने तक चलता रहा। इसके बाद एक प्रतिस्पर्धी मुसलमान डाकू उठ खड़ा हुआ और उसने उसी ताल्लुके में वे ही सब बातें शुरु कर दीं। उन दोनों के विरुद्ध किसी

भी प्रकार पुलिस की दाल नहीं गलती थी। बोरसद ताल्लुका बड़ौदा की सीमा से लगा हुआ था अतः वहां की पुलिस का भी इस मामले पर इतना ही ध्यान था लेकिन दोनों के संयुक्त प्रयत्न भी असफल सिद्ध हुए।

बाद में बड़े अधिकारियों को बताये बिना ही गुप्त रीति से पुलिस तथा रेवेन्यू विभाग के अधिकारियों ने यदि उनके ही शब्दों में कहें तो काँटे-से-काँटा निकालने की तरकीब चलाई। देवर बाबा को पकड़ने के लिए उस मुसलमान डाकू की सहायता ली गई। उसने यह स्वीकार कर लिया कि यदि उसे काफी शस्त्र और थोड़े-से पुलिस के सिपाही भी दिये जायं तो वह जरूर मदद करेगा।

योजना तो अत्यन्त आकर्षक थी। लेकिन उस चतुर डाकू ने पुलिस की सहूलियत और संरक्षण से लाभ उठाकर पकड़ लिए जाने तक अपना ही मतलब साधा। उसने पुलिस को खूब झुलाया। डाके बढ़ने लगे। ऐसी स्थिति में सरकार ने उलटे ग्रामीणों पर ही यह आरोप लगाया कि वे डाकुओं की मदद कर रहे हैं और इस वजह से ताल्लुके में अतिरिक्त पुलिस बैठा दी गई।

इस बीच सरदार वल्लभभाई पटेल को पुलिस तथा मुसलमान डाकू के इस समझौते की खबर लग गई। सारी स्थिति का अध्ययन करके उन्होंने लोगों को आज्ञा दी कि वे ज्यादा कर न दें। ग्रामों में गश्त लगाने के लिए उन्होंने २०० स्वयंसेवकों के जत्थों का संगठन किया। उन्होंने लोगों को निर्भय होकर मकान के दरवाजे खुले रखने के लिए तैयार करने में काफी सफलता प्राप्त की। नहीं तो डाकुओं के डर से वे बेचारे रात-दिन अपने को तालों में बन्द रखते थे।

फोटो की सहायता से इस प्रकार के प्रमाण एकत्र किये गये कि ताल्लुके में नियुक्त किये हुए पुलिस के सिपाही ही डाकुओं के डर से अपने घर के दरवाजे भीतर बाहर ताले लगाकर बन्द रखते थे। इसी

प्रकार एक आदमी के लगी हुई गोली से यह भी सिद्ध हो गया कि वह पुलिस की ही गोली है। अतः इससे यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया कि डाकू अपने काम के लिए पुलिस के ही दास गोले का प्रयोग कर रहे थे। इस बात के प्रकट होते ही बड़ोदा की पुलिस ने बड़ी जल्दी अपना हाथ वहां से हटा लिया। लेकिन लोगों के प्रतिकार की कोई परवाह न करके ब्रिटिश पुलिस ने अलबत्ता ज्यादा कर वसूल करना और उसके न देने पर सम्पत्ति जप्त करना चालू रखा।

बम्बई के तत्कालीन गवर्नर सर लेस्ली विल्सन ने जब ये सब बातें सुनी तो उन्होंने स्थिति की जांच के लिए गृहमन्त्री को भेजा। जब उनके ध्यान में सच्ची बात आई तो उन्होंने उसी समय वहां से ज्यादा पुलिस हटा दी और वह कर भी रद्द कर दिया। इस बीच सरदार पटेल द्वारा संगठित २०० स्वयंसेवकों के डर से देवर बाबा भी वहां से भाग गया।

गुरु का बाग सत्याग्रह

सिक्ख एक बहादुर और सैनिक जाति है जो पंजाब में रहती है। हिन्दुस्तान के आधुनिक इतिहास के कितने ही पन्ने उनकी शूरवीरता से भरे पड़े हैं। आजकल वे साठ लाख की तादाद में हैं। उनके धर्म पन्थ की स्थापना सोलहवीं शताब्दि में गुरु नानक ने की। जब मुसलमान लोग उन्हें सताने लगे तो गुरु गोविन्दसिंह ने उनको एक जबरदस्त लड़ाकू जाति बना दिया। अंग्रेजों की हुकूमत के पहिले कुछ वर्षों तक वे पंजाब पर राज्य कर रहे थे।

सिक्खों में उदासी, अकाली आदि भिन्न-भिन्न दल हैं। इनमें अकाली दल सुधारक माना जाता है। वे सच्चे शूर और स्वार्थत्यागी हैं। सामाजिक और धार्मिक सुधारों के लिए वे अपने सनातनी भाइयों के साथ अनेक अहिंसक लड़ाइयां लड़ते आये हैं।

सिक्खों के धर्म-ग्रन्थ ग्रन्थ साहब कहे जाते हैं। गुरुद्वारों में उनकी

पूजा की जाती है । इन गुरुद्वारों पर वहां सार्वजनिक स्वामित्व कायम करने का महत्त्वपूर्ण एवं विवादग्रस्त मुद्दा उपस्थित हुआ। बहुत-सी जगह गुरुद्वारों पर महन्तों का अधिकार था और वह करीब-करीब उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति ही हो गया था। इसके अलावा बहुत-से महन्त आचार-भ्रष्ट भी हो गये थे। अकाली पन्थ के शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी ने ये सब मन्दिर सार्वजनिक ट्रस्टियों के हाथों में सौंपने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। कानून और रूढ़ि महन्तों के पक्ष में थे और सरकार ने भी उनका ही पक्ष लिया। जब कानूनी तथा मत परिवर्तन करने के प्रयत्न असफल हुए तो सत्याग्रह एवं जनमत के दबाव से अकाली दलने मन्दिरों पर कब्जा करने का निश्चय किया। नीचे एक ऐसी ही वीरतापूर्ण लड़ाई का वर्णन किया जा रहा है जो कि आदर्श सत्याग्रहियों द्वारा लड़ी गई थी।

'गुरु का बाग' का शाब्दिक अर्थ है गुरु का बगीचा। हुआ यह कि वहां के महन्त ने मन्दिर एवं उसके आसपास के बगीचे पर भी अपना कब्जा बताया। उसने कानूनी मदद ली और पुलिस का संरक्षण प्राप्त कर लिया। सारे अकालियों को वहां जाने की मनाई कर दी गई। वहां प्रतिदिन अकाली लोगों का बलिदान होना शुरू हो गया। यह अगस्त सन् १९२२ की बात है। इसपर लगभग एक हजार आदमियों ने मन्दिर के पास ही अपना डेरा डाल दिया और लगभग ४ हजार लोगों ने वहां से १० मील के फासले पर अमृतसर के मन्दिर के आंगन में मुकाम किया। मनाही की आज्ञा और पुलिस के पहरे की कोई परवाह न करके अकालियों के जत्थे गुरु के बाग की ओर बढ़े। उनके साथ अत्यन्त क्रूरता, निर्दयता और पशुतापूर्ण व्यवहार किया गया। अकाली पूरी तरह अहिंसक बने रहे और जबतक वे बेहोश न हुए तबतक बिना किसी शिकायत के सब कुछ सहन करते रहे।

हर रोज अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर में रहने वाले लोगों में से १०० तथा गुरु के बाग के मन्दिर के पास डेरा डालकर रहने वालों में से

1342

२५ व्यक्ति बड़ी शान और गम्भीरतापूर्वक इस दृढ़ निश्चय के साथ मोर्चे पर आगे बढ़ते थे कि चाहे कितनी ही मुसीबतों का सामना क्यों न करना पड़े वे गुरु का बाग लेकर ही रहेंगे। सब के काले साफों पर सफेद फूल की मालाएँ लिपटी रहती थीं। प्रत्येक व्यक्ति अहिंसा की शपथ लेता था। इसके बाद वह दल बाग के पास वाले पुल के पास तक जाता था। पुल के ऊपर लोहे की नोक लगे हुए डण्डे लिए यूरोपियन तथा हिन्दुस्तानी सिपाहियों का पहरा रहता था। सत्याग्रहियों की टुकड़ी शान्तिपूर्वक आकर पुलिस के पहरे से एक गज के फासले पर खड़ी होती और मूक प्रार्थना करने लगती। इसके बाद 'सत श्री अकाल' का गगनभेदी नारा लगाकर बड़े धैर्य के साथ आगे बढ़ते थे। उस समय वहां विलक्षण रोमाञ्चकारी घटना होती थी। सत्याग्रहियों के कोमल शरीरों पर लोहा लगे हुए बेतों की मार पड़ने लगती और उनके शरीर से लाल-लाल गरम रक्त की धारा बहने लगती। यहां तक कि वे बेहोश हो जाते थे। उन्हें उसी हालत में शिविरों में ले जाया जाता था और दोनों पक्षों का उस दिन का कार्यक्रम समाप्त हो जाता था।

दीनबन्धु एन्ड्रूज ने उस दृश्य को स्वयं अपनी आँखों से देखकर अपने उद्गार इस प्रकार प्रकट किये हैं—"चूं तक किये बिना या अपनी आँखें तक ऊँची न किये बिना शान्ति के साथ दुःख की प्रत्यक्ष खाई में जाने वाले इन अहिंसक योद्धाओं को देखकर मुझे ऐसा लगा मानो मैं प्रत्यक्ष क्रूस का दृश्य देख रहा हूँ। कितने ही दिनों तक यह सिलसिला जारी रहा और हजार से भी ज्यादा स्वयंसेवक खानगी अस्पताल में पहुँच गये।" तत्कालीन पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ड श्री मेकफरसन ने कुछ दिनों के बाद अपनी लाठी-चार्ज विषय पर लिखी हुई पुस्तक में निम्नलिखित बातें स्वीकार की हैं—"हड्डी टूट जाने वाली चोटें लगना बहुत संभव है। सब लोग पूरी तरह अहिंसक थे। अतः जत्थे के लोगों ने पुलिस का किसी भी प्रकार का प्रतिकार नहीं किया न उनको बदले में मारा ही। सम्भव है कि कुछ जख्मी लोग बेहोश हो गये हों। १९२३

जख्मी बीमारों का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—२६१ जख्म कमर के ऊपर, ३०० शरीर के सामने, ७१ सिर के, ६० जननेन्द्रिय के, १६ गुदा के, ७ दाँतों के, १५८ मुक्कों की मार के, ८ तेज जख्म, २ फटे हुए जख्म, ४० मूत्रपिण्ड या मूत्राशय में, ६ हड्डी टूटने के और २ जोड़ टूट जाने के थे।"

विरोधी पक्ष की इस साक्षी के आधार पर यह कल्पना सहज ही की जा सकती है कि स्वामित्व तथा कानून और सुव्यवस्था के नाम पर अहिंसक अकालियों के साथ कितने पाशवी ढंग से व्यवहार किया गया।

इसके पश्चात् पाशवी शक्ति के बल पर स्वयंसेवकों को तितर-बितर करने के निंद्य तरीके छोड़कर उसके बजाय गिरफ्तारी शुरू की गई। लगभग २१० आदमी पकड़े गये। एक ही ऑनरेरी मजिस्ट्रेट ने चार बैठकों में कुल मिलाकर १२७००० रुपये के जुर्माने की सजा दी। कैदियों की संख्या आखिर में करीब-करीब एक हज़ार तक पहुँच गई।

इस सब का अन्त एक समझौते के रूप में हुआ। जिस जमीन के लिए झगड़ा हो रहा था उसे सर गंगाराम ने नवम्बर के मध्य में पट्टे पर ले ली और बाग के पेड़ों के काटने पर किसी प्रकार का एतराज नहीं किया। लेकिन मार्च १९२३ तक कैदियों को जेल में ही पड़े रहना पड़ा। बाद में जनमत के दबाव एवं पञ्जाब असेम्बली में पास हो जाने वाले एक प्रस्ताव के द्वारा उनको थोड़ा-थोड़ा करके छोड़ दिया गया।

बाद में कुछ वर्षों तक जब तक गुरु द्वारा कानून पास नहीं हुआ और गुरुद्वारों के कब्जे का प्रश्न स्थायी रूप से नहीं मिटा अकालियों को प्रतीक्षा करते रहना पड़ा।

झण्डा सत्याग्रह

यदि झण्डा राष्ट्र की इज्जत का प्रतीक न हो और जो लोग उसकी इज्जत करते हैं वे यदि अपने त्याग और बलिदान के द्वारा उस पर पवित्रता का तेज न चढ़ावे तो उसकी कीमत एक साधारण कपड़े

से ज्यादा नहीं हो सकती। हमारे तिरंगे राष्ट्रीय झण्डे ने अपनी इज्जत की रक्षा के लिए अनेक बार अपने हिन्दुस्तानी सुपुत्रों को पुकारा है और उन्होंने कभी भी उसकी पुकार खाली नहीं जाने दी है। इसीलिए हिन्दुस्तानियों की सर्वोच्च भावना एवं अपार त्याग के धागे हमारे इस झन्डे के आस-पास गुथे हुए हैं।

नागपुर झण्डा सत्याग्रह के बहाने जब विदेशी सरकार ने झण्डे के ऊपर स्वेच्छाचारी एवं उद्दण्ड पाबन्दियां लगाईं तब राष्ट्रीय झण्डे की इज्जत की रक्षा करने का अवसर आया। किन्हीं आकस्मिक घटनाओं के कारण नागपुर में झण्डा सत्याग्रह हुआ। मध्यप्रान्त की राजधानी नागपुर में तिरंगे झण्डे लिए हुए कांग्रेस का एक जुलूस सिविल लाइन्स की ओर जा रहा था। १—५—२३ के दिन पुलिस ने जुलूस को रोका और दफा १४४ लगा दी।

जिन लोगों के ऊपर जुलूस की जिम्मेदारी थी उन्होंने झण्डा लेकर आगे जाने का आग्रह किया। उन्हें पकड़ लिया गया और अलग-अलग अवधि की सजाएं दे दी गईं। इसपर सारे हिन्दुस्तान का ध्यान उस ओर आकर्षित हो गया। राष्ट्रीय झण्डे की इज्जत की रक्षा के लिए स्वयंसेवकों के दल नागपुर आने लगे। एक 'नागपुर सत्याग्रह समिति' बनवाई गई उसके द्वारा लड़ाई प्रारम्भ कर दी गई। प्रतिदिन गिरफ्तार होने के लिए छोटी-छोटी टुकड़ियां भेजी जाने लगीं। कुछ दिनों तक कांग्रेस वर्किंङ्ग कमेटी के एक सदस्य सेठ जमनालालजी बजाज के हाथ में लड़ाई के सूत्र रहे। वर्किंङ्ग कमेटी ने लड़ाई का समर्थन किया और जो लोग उसके लिए कष्टसहन कर रहे थे उनका अभिनन्दन किया। ८, ९, १० जुलाई को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की जो बैठकें नागपुर में हुईं उनमें भी इस लड़ाई का समर्थन किया गया। जमनालालजी की गिरफ्तारी के बाद लड़ाई का नेतृत्व सरदार वल्लभभाई पटेल के सुपुर्द किया गया। यह घोषणा की गई कि १८ जुलाई के दिन सारे हिन्दुस्तान भर में झण्डा-दिवस मनाया जाय। उस दिन

सारी प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियां अपने अपने जिलों के प्रमुख शहरों में झण्डे के जुलूस निकालने वाली थी। उनसे यह भी अपेक्षा की गई थी कि वे नागपुर भी कुछ स्वयंसेवक भेजेंगी। इस समय तक लगभग १००० से अधिक स्वयंसेवकों ने पहिले ही वहां जाकर सत्याग्रह किया था और वे प्रान्त की भिन्न-भिन्न जेलों में कष्ट उठा रहे थे।

दूसरी जगहों की भांति नागपुर में भी १८ जुलाई को झण्डे के जुलूस का बड़ा भारी कार्यक्रम बनाया गया था। जुलूसबन्दी की आज्ञा लागू थी। फिर भी पुलिस ने १८ जुलाई के जुलूस में न कोई बाधा डाली न जुलूस निकालने वालों के विरुद्ध ही कोई कार्रवाई की। किसी तरह की इजाजत न लेने पर भी उन्होंने जुलूस निकलने दिया। आम रास्ते पर झण्डा लेकर चलने वाले हज़ारों व्यक्तियों को गिरफ्तार करने की मूर्खता सरकार में ध्यान के आ गई।

सितम्बर १९२३ में दिल्ली में कांग्रेस का जो विशेष अधिवेशन हुआ उसमें अपने दिव्य त्याग के द्वारा राष्ट्रीय झण्डे की शान बनाये रखने वाले स्वयंसेवकों को बधाई दी गई।

सामाजिक अन्याय

गांधीजी सदैव ही बहुत जोर देकर इस बात का प्रतिपादन करते आये हैं कि सत्याग्रह एक ऐसा शस्त्र है कि जीवन के किसी भी क्षेत्र में तथा मित्र और शत्रु, अपने और पराये, एक और अनेक व्यक्ति और संस्था सबके विरुद्ध चलाया जा सकता है। जिस प्रकार 'गुरु का बाग सत्याग्रह' सम्पूर्ण जाति के सुधारकों द्वारा अन्याय और रूढ़िवाद के विरुद्ध किये हुए सत्याग्रह का उदाहरण है उसी प्रकार जाति के छोटे-छोटे समूहों के द्वारा उनसे भी ज्यादा छोटे कारणों के लिए किये हुए सत्याग्रहों के उदाहरण मौजूद हैं।

गुजरात के खेड़ा जिले में धर्मज नामक एक छोटा-सा ग्राम है। वहां के नवयुवकों ने इसी प्रकार का एक सत्याग्रह किया। ग्राम के एक

प्रमुख नागरिक ने अपनी मां की बारहवीं के दिन बहुत बड़ा जातिभोज देने का आयोजन किया। जाति के नवयुवक इस प्राचीन प्रथा के विरुद्ध थे। उन्होंने उसे समझाने-बुझाने का काफी प्रयत्न किया लेकिन कोई परिणाम नहीं निकला। उन्होंने इस बात की सौगन्ध खाई कि वे परोसे हुए अन्न का स्पर्श नहीं करेंगे, उस समारम्भ में भाग नहीं लेंगे, और विरोध रूप में उस दिन उपवास रखेंगे और जाति के बड़े-बूढ़े इस सम्बन्ध में उन्हें जो कुछ सजा देंगे या बुरा व्यवहार करेंगे उस सबको वे खुशी-खुशी सहन करेंगे।

अतः उस दिन लगभग २८५ विद्यार्थियों एवं छोटे-छोटे बालकों ने उपवास किया। बड़े-बूढ़े खूब नाराज हुए लेकिन अपने सिद्धान्तों के लिये खुशी-खुशी कष्ट सहने को तैयार रहने वाले अपने ही बच्चों के विरुद्ध वे बेचारे क्या करते? उन नवयुवकों को पत्र लिखकर गाँधीजी ने उनकी त्याग करने की तैयारी की प्रशंसा की और उनको प्रोत्साहन देकर आगे लिखा—'यदि वे इस प्रकार दृढ़ रहे तथा शुद्ध, सुन्दर और प्रेममय हथियार का प्रयोग करते रहे तो समाज की सारी कुप्रथाएँ नष्ट हो जायगीं।'

विचित्र सफलता

बंगाल के मुंशीगंज में कालीदेवी के सामने हरिजनों ने जो सत्याग्रह किया उसमें बड़े ही विचित्र ढंग से सफलता मिली। अन्य हिन्दू उपासकों की भांति मन्दिर में प्रवेश करने की इजाजत प्राप्त करने के लिए उन्होंने ६ महीनों से अधिक सत्याग्रह किया। अन्त में कुछ व्यक्तियों ने उपवास शुरू किया। इतना होने पर भी केवल उच्चवर्ण की स्त्रियों से ही यह सहा नहीं गया। उनमें से २०० स्त्रियों ने अपने हाथों में करवत, कुल्हाड़ी, हथोड़े आदि लेकर मन्दिर पर आक्रमण कर दिया और रास्ते की रुकावटें हटाकर देवदर्शन के लिए व्याकुल अपने हरिजन बन्धुओं के लिये मन्दिर का मार्ग खोल दिया। इसपर मनुष्य-समाज भी चुप होकर बैठ गया।

जेल में सत्याग्रह

सन् १९२५ के प्रारंभ में एक दिन यरवदा जेल में १६०० कैदियों ने भोजन करने से इन्कार कर दिया, जेल के सुपरिन्टेन्डेन्ट ने कुछ फूल के पौधे और तुलसी के रोप उखाड़ दिये और उनके चबूतरे तथा शंकर गणपति मारुती आदि हिन्दुओं के पवित्र देवों के भी छोटे-छोटे चबूतरों को खोद डाला। इन्हीं कारणों से कैदियों ने अन्नत्याग किया था। जेल के हिन्दू कैदियों में से कितने ही प्रतिदिन स्नान करने के बाद पौधों में पानी डालते थे और मूर्तियों की पूजा करते थे। उनका नियम था कि वे बिना पूजा किये अन्न ग्रहण नहीं करेंगे। लेकिन वे पौधे, देवमूर्तियां और उनके चबूतरे जब निष्ठुरतापूर्वक उखाड़ फेंके गये तो उनकी भावनाओं को जबरदस्त धक्का लगा और उन्होंने उपवास शुरू कर दिया। उन्होंने काम करने से इन्कार नहीं किया। केवल अन्न ग्रहण करने से इन्कार किया।

यूरोपियन सुपरिन्टेन्डेन्ट को इस बात की कल्पना न थी कि इस बात से कैदियों की भावना को इतना जबरदस्त धक्का लगेगा। लेकिन इतना सब करने के बाद और कुछ करने की उसकी हिम्मत नहीं हुई। उसने थोड़े-से ही पौधे और चबूतरे उखड़वाये थे, लेकिन इतना बड़ा विक्षोभ देखकर उसने पीछे हट जाना ही ठीक समझा। उसने कैदियों के नेताओं को आश्वासन दिया कि देवमूर्तियां वापस दे दी जायगीं और चबूतरे फिर से बनवा दिये जायंगे। उसके इस आश्वासन पर कैदियों ने २४ घंटे के बाद अपना उपवास छोड़ दिया और जब उनकी मूर्तियां उन्हें वापस मिलीं और चबूतरे भी फिर से तैयार हो गये तो उन्हें बहुत खुशी हुई।

इस सम्बन्ध में सुपरिन्टेन्डेन्ट का कहना यह था कि वहाँ इस प्रकार के पौधे, चबूतरे और मूर्तियां बड़ी संख्या में बढ़ते जा रहे थे। यह बढ़ती किसीके भी ख्याल में नहीं आई थी। इस तरह से दूसरे धर्म के लोग

भी अपनी-अपनी मूर्तियां लाकर सब दूर उनकी प्रतिष्ठा कर देंगे और इसका अन्त भी नहीं आयगा। यह बात सत्य है कि लगभग जेल खुलने के समय से ही तुलसी के रोप लगाना तथा चबूतरे बनाकर उन पर मूर्तियों की प्रतिष्ठा करना कुछ अनुचित ढंग से हो रहा था। लेकिन सुपरिन्टेन्डेन्ट का यह भय बिलकुल निराधार था कि मुसलमान, सिक्ख और ईसाई भी इसी प्रकार की बातें करेंगे।

सुपरिन्टेन्डेन्ट को यह सब बातें अच्छी नहीं लगीं। वह किसी-न-किसी प्रकार इन मूर्तियों को हटा देना चाहता था। कुछ सप्ताह इसी प्रकार बीत गये। इसके बाद सुपरिन्टेन्डेन्ट ने जेल के भिन्न-भिन्न विभागों के हवलेदारों को यह आज्ञा दी कि वे चौबीस घन्टे के अन्दर जेल के सारे चबूतरे, मूर्तियां और पौधे उखाड़ फेकें। आज्ञा मिलते ही उन्होंने मूर्तियां हटाने का काम शुरू कर दिया। इस बीच जो कुछ सप्ताह का समय गया उसमें कैदियों को पिछली बार जो तात्कालिक विजय मिली थी उससे उनका भावावेश कम नहीं हुआ था। यह बात सुनते ही उन्होंने इसे सारी जेल में फैला दिया और एक ऐसी गम्भीरता और उदासीनता सारी जेल में फैल गई जो इससे पहिले कभी नहीं देखी गई थी। सैंकड़ों कैदियों ने इस बात का निश्चय किया कि जब-तक फिर से उनकी मूर्तियों की स्थापना न हो जायगी तबतक वे अन्न ग्रहण नहीं करेंगे। उन्होंने अपना काम चालू रखा। केवल जेल अधिका-रियों से बोलना और अन्न ग्रहण करना बन्द कर दिया।

लगभग ४८ घंटों तक उपवास चालू रहा। सारी जेल में एक प्रकार की उदासीनता फैल गई थी। जेल के एक भाग में जिसे 'सेपरेट' कहा जाता था जब हवलदार कुदाली लेकर आया और उसने महार कैदियों से चबूतरा खोद डालने के लिये कहा तो वहाँ के एक प्रमुख हिन्दू कैदी ने महार कैदियों को समझाया कि हमारे ही दूसरे हिन्दू भाइयों को जो बात पवित्र लगती है उसे खोद डालना तुम्हारा कर्तव्य नहीं है। इस बात का असर उनके ऊपर हुआ और उन्होंने चबूतरे खोदने से

इन्कार कर दिया। इसपर हवलदार ने स्वयं ही वह काम करने का निश्चय किया। लेकिन उस कैदी ने उससे भी इसी प्रकार की प्रार्थना की। "अपनी धर्मभावना के बिलकुल विरुद्ध काम करने के लिये ही तुमको सरकार से तनख्वाह नहीं मिलती है। मान लो कि यदि सुपरिन्टेन्डेन्ट ने कल तुमसे अपने बच्चों को मारने के लिये कहा तोक्या इस २६) महीने के लिये तुम उसका कहना मान लोगे? यदि मैं तुम्हारी जगह होता तो भूखों मरना पसन्द करता, भीख मांग लेता या और कुछ करता लेकिन दिन भर उपवास करने वाले और अपने प्राणों को भी छोड़ने के लिए तैयार रहने वाले अपने ही सैकड़ों भाइयों की धर्मभावना को ठेस न पहुँचाता।" ये उद्गार सुनते ही हवलदार का मन विचलित हो गया। फिर भी कुदाली को एक ओर रखने के लिए वह तैयार नहीं हुआ। यह देखकर वही कैदी फिर बोला—"यदि मेरी बात तुम्हारी समझ में न आती हो तो यह देखो मैं तुम्हारे और चबूतरे के बीच में खड़ा होता हूँ। तुम अपनी कुदाली की पहिली चोट मेरे सिर पर पड़ने दो। मेरी लाश यहाँ बिछाकर ही तुम इस हीन काम को कर सकोगे।" हवलदार पर इस बात का बहुत असर पड़ा। दस-बारह कैदी यह सब देख रहे थे। अन्त में हवलदार काम छोड़कर चला गया।

तीसरा दिन आया। अपना-अपना काम करने से परिश्रम के कारण बेहोश हो जाने वाले कितने ही कैदियों को दवाखाने में ले जाया गया। न तो किसीने एक भी शब्द कहा न गुरगुराहट की और न किसी प्रकार की शिकायत ही की। निश्चित समय पर उनको भोजन दिया जाता था लेकिन वे इन्कार कर देते थे। अन्न त्याग करने वालों की संख्या ११०० और १२०० के बीच में थी। जो कुछ उन्हें कहना होता था वह वे अपने बैरक के नेता के मार्फत ही कहते थे।

दिन निकलने लगा। उसी समय 'सेपरेट' के जिस कैदी ने हवलदार का हृदयपरिवर्तन किया था उसने सुपरिन्टेन्डेन्ट को एक स्लेट पर

लिखकर यह सूचना भेजी कि वह दूसरे कैदियों की सहानुभूति में उपवास कर रहा है। लेकिन यदि यह सब समाप्त करके शान्ति स्थापित करने का मौका मिले तो उससे मुझे बहुत खुशी होगी। लगभग दस बजे प्रातःकाल सुपरिन्टेन्डेन्ट उस कैदी के पास गया और उसे सारी परिस्थिति समझाने का प्रयत्न किया। सुपरिन्टेन्डेन्ट ने उसे बताया कि उसने प्रत्येक स्नानागार के पास २′×२′ के आकार के नये चबूतरे बनाने का हुक्म दे दिया है और उसके ऊपर मूर्ति की प्रतिष्ठा करने या तुलसी के रोप लगाने की कैदियों को स्वतन्त्रता होगी। उस कैदी को अपने साथ ले जाकर सुपरिन्टेन्डेन्ट ने कुछ बनते हुए चबूतरे भी दिखाये और उससे पूछा कि इस प्रकार की व्यवस्था हो जाने पर उपवास छोड़ने में क्या कठिनाई है? इसपर उस कैदी ने कहा कि कुछ सप्ताह पूर्व सुपरिन्टेन्डेन्ट ने जो आश्वासन दिया था उसे पीछे से भंग कर दिया। अतः अब उसी अवस्था में उपवास छोड़ा जा सकता है जब कि सुपरिन्टेन्डेन्ट इस प्रकार की लिखित आज्ञा दें कि अब जो नई व्यवस्था की जा रही है वह कायम रहेगी।

चबूतरे बनाने का काम चालू था। दोपहर के समय लगभग २ बजे लिखित आज्ञा भी सुना दी गई। इन्स्पेक्टर जनरल ऑफ प्रिज़न्स अहमदाबाद गया था। वह जल्दी ही वहाँ से लौटा और लगभग ४ बजे सायंकाल जेल में आया। कैदियों से यह कहा गया था कि जबतक चबूतरे तैयार नहीं हो जाते और उनपर मूर्ति की प्रतिष्ठा नहीं होती तथा फूल, धूप, केले, नारियल आदि से साँगोपाँग पूजा न हो तबतक वे उपवास न छोड़ें। अतः जब आई० जी० पी० ने कैदियों से पूछा तो उन्होंने यही जवाब उसे दे दिया।

अन्त में कैदियों की इच्छानुसार सब बातें हो गईं। जो कैदी नियमित रूप से पूजा करते थे उन्होंने दूसरे दिन सुबह स्नान करके लगभग ११ बजे सदैव की तरह पूजा की। प्रायः सभी जगह के चबूतरे तैयार हो गये थे और मूर्ति तथा पौधे फिर से लगा दिये गये

थे। प्राणप्रतिष्ठा कराने के लिये बाहर से ब्राह्मण बुलाया गया था। कैदियों को आधे दिन की छुट्टी दी गई। इस प्रकार कैदियों को अपनी शिकायतों में विजय मिली और यह काण्ड समाप्त हुआ।

कुछ दिनों के बाद एक जेलर ने कहा कि मैंने अबतक जितने सत्याग्रह सुने और देखे हैं उनमें यह सब से ज्यादा नियमबद्ध, बिलकुल शुद्ध और आदर्श सत्याग्रह था।

: १६ :

कुछ ऐतिहासिक उदाहरण

श्री रिचर्ड ग्रेग कहते हैं कि—"इतिहासकारों का झुकाव राजनीति और लड़ाइयों की ओर अधिक रहा है। अतः उन्होंने इस दूसरी घटना (अहिंसक प्रतिकार) की तरफ बहुत थोड़ा ध्यान दिया है और उनमें से कई घटनाओं का तो नाम-निशान भी नहीं रहा है।" इसी संदर्भ से गांधीजी से पूछा गया कि क्या आत्मबल-सम्बन्धी कोई ऐतिहासिक उदाहरण है? इस सम्बन्ध में उन्होंने अपनी 'हिन्द स्वराज्य' नामक पुस्तक के 'अहिंसक प्रतिकार' वाले अध्याय में लिखा है कि—"स्थान-स्थान पर उसकी (आत्मशक्ति की) कार्य-प्रवृत्ति का प्रमाण मिलता है। लेकिन यदि इतिहास का अर्थ केवल राजा, महाराजा और उनके काम ही हों तो फिर उस इतिहास में आत्मिक बल या अहिंसक प्रतिकार नहीं मिलेंगे।............इतिहास तो वस्तुतः प्रेम या आत्मिक शक्ति के अविरत कार्य के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों का रजिस्टर है।"

फिर भी अहिंसक दृष्टिकोण से चारों तरफ देखकर हमें ऐसे उदाहरण ढूंढ़ निकालने का प्रयत्न करना चाहिए जिनके द्वारा इस प्रकार के प्रतिकार की कार्यपद्धति का अध्ययन किया जा सके। कोई एक अहिंसक प्रतिकार सफल हुआ या नहीं इसका कोई विशेष महत्त्व

नहीं है। हिंसक प्रतिकार भी तो असफल होते हैं। केवल इतना ही नहीं कि असफल होते हैं बल्कि कई बार तो पूरी तरह असफल होते हैं और दोनों पक्षों का विध्वंस एवं रक्तपात ही शेष रहता है। हमें तो इस बात का अध्ययन करना है कि किसी विशेष परिस्थिति में किस प्रकार अहिंसक प्रतिकार का संगठन किया गया और किस प्रकार वह कार्यान्वित किया गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गांधीजी के उदय के पूर्व अहिंसक प्रतिकार के शास्त्र और कला की कोई रूपरेखा नहीं बनी थी और तबतक वह किसी योजनाविहीन तन्त्र तथा तात्त्विक अधिष्ठान के बिना अव्यवस्थित रूप से प्रयोग में लाया जा रहा था। फिर भी उपर्युक्त बातों में से बहुत-सी बातें उसमें अन्तर्भूत रहती ही थीं। हां, तत्कालीन परिस्थिति में से ही उसका निर्माण हुआ था।

अल्डुस हक्सले अहिंसक क्रान्ति की पद्धति का समर्थन करता है क्योंकि उसका यह विश्वास है कि वही एक ऐसा मार्ग है जिसके द्वारा सचमुच ही हमारा उद्देश्य पूरा हो सकता है। पहिले दक्षिण अफ्रीका की सन् १९०६ से १९१४ तक की लड़ाई का उल्लेख करके वह कहता है—"हम इसे पूरी तरह सफल कह सकते हैं" इसके बाद हिन्दुस्तान के स्वातन्त्र्य-संग्राम का उल्लेख न करके वह सीधे निम्न-लिखित अहिंसक आन्दोलनों का ज़िक्र करता है जो पूरी तरह अथवा किन्हीं अंशों में सफल हुए हैं।

फिनलैण्ड—१९०१ से लेकर १९०५ तक फिनलैण्ड के निवासियों ने रशियन अधिकारियों के विरुद्ध अहिंसक प्रतिकार किया। वह पूरी तरह सफल हुआ और फिनलैण्ड के ऊपर जो ज़बरदस्ती फौज में भर्ती होने का कानून लादा गया था वह उठा लिया गया।

जर्मनी—उसने लिखा है कि जर्मनी में बिस्मार्क के विरुद्ध अहिंसक प्रतिकार के दो मोर्चे सफल हुए—केथलिकों का कुल्टाकाम्फ (संस्कृति-रक्षा का युद्ध) और मज़दूरों का मोर्चा जो सन् १८७१ के

वाद की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी को मान्यता प्राप्त कराने के लिए लड़ा गया था।

इंग्लैंड—उसने एक उदाहरण देकर बताया है कि किस प्रकार ब्रिटिश मज़दूरों ने अहिंसक असहयोग की धमकी देकर इंग्लैण्ड और रूस के युद्ध को टाल दिया था। यह घटना सन् १९२० की है। ९ अगस्त १९२० के दिन जिस कौन्सिल आफ ऐक्शन का निर्माण हुआ उसने सरकार को चेतावनी दी कि यदि सरकार रूस पर आक्रमण करने के लिए पोलैण्ड में ब्रिटिश सेनाएँ भेजने की योजना कार्यान्वित करने का आग्रह करेगी तो आम हड़ताल कर दी जायगी। मज़दूर लोग सेना या शस्त्रास्त्रों को लाना-ले जाना बन्द कर देंगे और उस युद्ध का ज़बरदस्त बहिष्कार किया जायगा। मज़दूरों की ओर से यह अन्तिम सूचना पाकर लायड जार्ज के मन्त्रीमण्डल ने रूस पर आक्रमण करने का इरादा छोड़ दिया। अल्डुस हक्सले द्वारा उल्लेखित उदाहरणों के अलावा कुछ अन्य उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

हंगेरी—सम्पूर्ण राष्ट्र के द्वारा सामूहिक रूप से अहिंसक प्रतिकार करने का उदाहरण १९ वीं शताब्दी के मध्य में हंगेरी में मिलता है। इस लड़ाई के दो भाग किये जा सकते हैं। पहिला भाग सन् १८३२ से १८४८ तक का और दूसरा भाग सन् १८४८ से १८६७ तक का।

सन् १७२० में या उसके आसपास आस्ट्रिया और हंगेरी ने अपने संयुक्त प्रयत्न के द्वारा दूसरों के अधिकार से अपने प्रदेश मुक्त करवा लिये। उन्होंने स्वतन्त्र एवं समान दर्जे के राष्ट्र के रूप में एक ही राजसत्ता के आधीन एकसाथ मिलजुल कर रहने का निर्णय किया। विएना में राजदरबार भरने लगा और हंगेरियन सरदारों की राष्ट्रीय भावना धीरे-धीरे कमजोर की गई। लेकिन कुछ निष्ठावान् एवं कट्टर लोगों के मन में यह भावना समाई रही कि हंगेरी एक राष्ट्र है। सन् १८२८ के आसपास जब आस्ट्रिया के राजा ने हंगेरी के लोगों को सेना में भर्ती होने की आज्ञा दी तो उन्होंने भर्ती होने से इन्कार कर

दिया। उन्होंने कहा कि हंगेरी की पार्लियामेन्ट को ही सैनिक भर्ती करने का अधिकार है। पांच वर्षों के झगड़े के बाद सन् १८३२ में हंगेरी की पार्लियामेन्ट बुलाई गई और उसके पहिले अधिवेशन में ही हंगेरियन भाषा में भाषण देकर कौंट झेचेनी ने सब लोगों को आश्चर्य-चकित कर दिया। इससे कुछ लोगों को बड़ा धक्का लगा। इसके बाद 'हम असहाय हैं, अतः हमको आस्ट्रिया के सामने झुकते रहना चाहिए' इस प्रकार की शिक्षा देने वाले नरमदली लोगों को सम्बोधित करते हुए फ्रान्सिस डीक नामक एक आदर्शवादी और कर्मठ नेता ने कहा—"तुम्हारे कानून पैरों तले कुचले जा रहे हैं फिर भी तुम्हारे मुँह में ताले पड़े हुए हैं। अपने अधिकारों पर हमला होते हुए देखकर भी जो राष्ट्र उसका मुकाबला नहीं करता उसे धिक्कार है। इस प्रकार की मन्त्रमुग्धता से तो हम अपनी गुलामी की जंजीर मज़बूत ही कर रहे हैं। जो राष्ट्र अन्याय और जुल्म को चुपचाप सहन कर लेता है उसका विनाश निश्चित है।"

उस समय तक झगड़ा चलता रहा जबतक कि सन् १८४८ में हंगेरी में जनता के प्रति उत्तरदायी सरकार की स्थापना नहीं हो गई। इस नई सरकार में डीक स्वयं न्याय विभाग का मन्त्री बना। लेकिन यह विजय ज्यादा दिनों तक नहीं टिकी। हंगेरी को अपने क़ब्जे में कर लेने के विचार आस्ट्रिया के दिमाग़ में लगातार घूमते ही रहते थे। उचित मौका मिलते ही आस्ट्रिया की सेना ने हंगेरी के प्रदेश को घेर लिया। हंगेरी के विधान को धता बता दी गई। पार्लियामेन्ट कुचल दी गई। राष्ट्रीय संस्थाएँ तोड़ डाली गईं। हंगेरियन भाषा का गला घोट दिया गया। कौन्टी कौन्सिल्स (स्थानीय संस्था) उठा दी गईं और सैनिक दृष्टि से देश का विभाजन करके उसे आस्ट्रिया के हाथ में सौंप दिया गया। कुछ समय तक कहीं भी आशा का कोई चिह्न दिखाई नहीं दिया।

यूरोप के राजनीतिज्ञों ने कहा कि हंगेरी मर गया है। लेकिन

अपनी 'रीसरेक्शन आफ हंगेरी' नामक पुस्तक में आर्थर ग्रिफिथ्स ने लिखा है—"फ्राँसिस डीक आज भी जीवित है और उसके जीवन में ही हंगेरी का जीवन समाया हुआ है।"

अब हंगेरी के स्वातन्त्र्य युद्ध का दूसरा दौर शुरू हुआ। अपने को राजनैतिक कार्य करने में असमर्थ देखकर डीक ने शिक्षा और उद्योग-धन्धों की राष्ट्रीय योजनाएँ बड़े जोर-शोर के साथ प्रस्तुत कीं। सन् १८२७ तक हंगेरी की प्रगति विएना दरबार के लिए भय का विषय हो गई। आस्ट्रिया के राजा ने हंगेरी को मनाने के भिन्न-भिन्न उपाय किये। घूस, अधिकार, धमकी सब कुछ देकर देख लिया; लेकिन डीक अविचल रहा। डीक ने लोगों को आदेश दिया कि जबतक हंगेरी की पार्लियामेन्ट स्वतन्त्र सरकार के रूप में मन्जूर न कर ली जाय तबतक आस्ट्रिया के द्वारा शुरू किये हुए किसी भी काम में सहयोग न दिया जाय। जब आस्ट्रिया के राजा ने हंगेरी का दौरा किया तो उसका बहिष्कार किया गया। इसी तरह आस्ट्रियन माल का भी बहिष्कार किया गया।

डीक ने लोगों को जो उपदेश दिया उनके मुख्य सूत्र इस प्रकार थे—"किसी भी प्रकार के हिंसाकाण्ड के प्रलोभन में मत फँसो और न कानून की मर्यादा ही छोड़ो। यही एक सुरक्षित रास्ता है जिसके द्वारा हम निःशस्त्र होने पर भी सशस्त्र शक्तियों के विरुद्ध टिक सकते हैं। यदि मुसीबतें उठानी पड़ें तो बड़े धैर्य के साथ उठाओ। उसने घोषणा की—'हिंसा के अतिरिक्त सब तरीकों से प्रतिकार करो।'

हंगेरी की जनता ने आस्ट्रिया के लोगों को कर देने से साफ इन्कार कर दिया। आस्ट्रियन अधिकारियों ने धन-सम्पत्ति पर कब्जा कर लिया लेकिन उसे खरीदने-बेचने के लिये कोई भी हंगेरियन तैयार नहीं हुआ। सरकार ने अनुभव किया कि कर लगाने की अपेक्षा माल जब्त करने में अधिक खर्चा होता है। बाद में कुछ दिनों तक आस्ट्रिया के सैनिकों को हंगेरी के घरों में रखने की व्यवस्था की गई। लोगों ने शारीरिक

प्रतिकार नहीं किया लेकिन असहयोग की नीति अपना ली। जब जनता ने किसी भी प्रकार की मदद करने से शान्तिपूर्वक इन्कार कर दिया तो आस्ट्रियन सैनिकों की स्थिति असह्य हो गई। सरकार ने आस्ट्रियन माल का बहिष्कार गैरकानूनी करार दे दिया। लेकिन हंगेरियन पीछे नहीं हटे। सारी जेलें भर गईं। आस्ट्रिया की पार्लियामेंट में एक भी प्रतिनिधि भेजने से हंगेरी ने इन्कार कर दिया। कौन्टी कौन्सिल्स ने भी आस्ट्रिया की देखरेख में काम करने से इन्कार कर दिया। इसपर फ्रान्सिस जोसफ ने समझौते के लिए प्रयत्न किया। कैदियों को मुक्त कर दिया गया और थोड़ा-बहुत स्वायत्त शासन दिया गया। लेकिन हंगेरियनों ने इस बात पर ज़ोर दिया कि उनको सम्पूर्ण अधिकार मिलने चाहिएं। राजा ने गुस्से में आकर जबरदस्ती सैनिक भर्ती करने की आज्ञा निकाली। लेकिन नता ने इस आज्ञा को मानने से इन्कार कर दिया।

अन्त में आस्ट्रिया को झुकना पड़ा। ता० १८-२-१८६७ को हंगेरी को शासन-विधान के सम्पूर्ण अधिकार मिल गये।

इंग्लैंड की आम हड़ताल

कोयले की खानों में काम करने वाले मजदूरों की मांगों का समर्थन करने के लिए मई सन् १९२६ में ग्रेटब्रिटेन में जो महान् आम हड़ताल हुई वह यद्यपि सदोष नेतृत्व एवं अन्य कई कारणों से असफल हुई तथापि हम उसको सामूहिक अहिंसक प्रतिकार का एक अच्छा उदाहरण कह सकते हैं। यद्यपि सरकार ने हिंसा को भड़काने का प्रयत्न किया तथापि साधारण हड़ताली मजदूरों ने हड़ताल के लगभग ९ दिनों तक पूरी-तरह अपने भाषण और कार्य में अहिंसा और अनुशासन का पालन किया और उन्होंने इतनी खिलाड़ी वृत्ति, इतनी एकनिष्ठता, सुसंगठन और दृढ़ता का परिचय दिया कि आश्चर्य होता था। हड़ताल में लगभग ३० हजार मजदूर शामिल हुए थे। सन् १९२५ के

जुलाई मास में ही ब्रिटेन की ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने हड़ताल को मान्यता दी थी। लेबर कांग्रेस की जनरल कौंसिल को हड़ताल के सब अधिकार सौंप दिये गये थे। लेकिन यह कहा जा सकता है कि हड़ताल से उत्पन्न होने वाली स्थिति का मुकाबला करने के लिए पूरी तैयारी नहीं की गई थी। कौन्सिल तो उल्टे हड़ताल को टालने की ही कोशिश कर रही थी। नेताओं की यह वृत्ति ही अन्त में हड़ताल की असफलता का कारण बनी।

दूसरी ओर सरकार पूरी तरह तैयार थी और उसने शुरू से ही यह पुकार मचाई थी कि हड़ताल के मूल में कोई आर्थिक कारण नहीं है बल्कि वह तो ब्रिटेन के शासन-विधान और सरकार को उलट फेंकने का एक क्रान्तिकारी प्रयत्न है। सरकार ने रेलगाड़ी तथा यातायात के अन्य साधन चलाने के लिए मध्यम वर्ग के बहुत-से लोग इकट्ठे कर लिये। वस्तुतः यह आरोप बिल्कुल ग़लत था कि हड़ताल क्रान्ति का एक प्रयत्न था।

हड़ताल के तीसरे दिन सर जान सायमन ने हाउस आफ कॉमन्स में भाषण देते हुए यह घोषित किया कि यह आम हड़ताल गैरकानूनी है और हड़ताल में भाग लेने वाले मजदूर संघों के रुपये-पैसे जब्त हो सकते हैं। प्रत्येक हड़ताली मजदूर ने नौकरी के वायदे को भंग किया है, अतः उससे हर्जाना भी वसूल किया जा सकता है। पांच दिनों के बाद न्यायाधीश ॲशबरी ने जो फैसला दिया उसमें उन्होंने सर सायमन के मत को ग्रहण किया था।

इस हड़ताल में पूर्व तैयारी, परस्पर सहयोग और केन्द्रीयकरण का अभाव था। इसके अलावा पूर्वोक्त फैसले का भी असर मजदूरों के मन पर पड़ा था। इससे जनरल कौन्सिल का मुंह सूख गया। दूसरे दिन जिनके समर्थन से हड़ताल शुरू हुई थी उन खानों के मजदूरों तथा अन्य हड़ताली मजदूरों से विचार-विनिमय किये बिना ही जनरल कौंसिल ने प्रधान मन्त्री से मुलाकात करके बिना शर्त आत्मसमर्पण

कर दिया और हड़ताल वापस ले ली। एकाएक किये हुए इस विश्वासघात से मजदूर चक्कर में पड़ गये। उनके छक्के छूट गये और वे प्रक्षुब्ध भी हुए। इसके बाद तो कई मजदूर जुल्म के शिकार हुए और मजदूर संघ भी अपनी प्रतिष्ठा, कानूनी अधिकार और खासकर आत्मसम्मान खो बैठे।

अपनी 'दी पावर आफ नान व्हायलेन्स' नामक पुस्तक में श्री ग्रेग ने हड़ताल की असफलता का नीचे लिखे अनुसार विवेचन किया है— "साधारण मजदूरों की दृष्टि से देखें तो यद्यपि यह आम हड़ताल लगभग पूरी तरह अहिंसक थी तथापि नेताओं का व्यवहार वास्तविक अर्थ में अहिंसक नहीं था। वे न तो एकदिल ही थे न उनका निश्चय ही पक्का था। अधिकांश में या तो वे व्यक्तिगत सुखों का त्याग करने के लिए तैयार नहीं थे या हड़ताल करने के अधिकार के लिए जेल जाने को तैयार नहीं थे। मजदूर संघों ने समाचार पत्रों के प्रकाशन को चालू रखने की मांग ठुकरा दी। इससे सत्य के प्रचार के मार्ग में बहुत बड़ा रोड़ा अटक गया और हड़ताल के विरोधी जो कुछ कहते अथवा साधारण जनता उसके प्रति जो आदर व्यक्त करती वह सब रुक गया। इसी प्रकार साधारण मजदूर भी मानो अन्धेरे में ही रख दिये गये। इससे मजदूरों के लिए मध्यम वर्ग का संगठित समर्थन भी प्राप्त नहीं किया जा सका। खान के मजदूरों के एक नेता ने अपने एक भाषण में गलतबातें कहीं और कुछ समयोचित घटनाओं की जानकारी दबाने का प्रयत्न किया। उनके भाषणों से यह दिखाई देता था कि उनकी अन्तःप्रवृत्ति प्रक्षोभ, तिरस्कार व घृणा से भर गई थी। जनरल कौंसिल के वक्तव्य में भी अखीर-अखीर में कुछ बातें छिपा ली गई थीं। जनरल कौन्सिल ने हृदय से प्रतिकार नहीं किया। उसमें तो अनिच्छा से की हुई एक दम-दिलासा थी। सच्चे अहिंसक प्रतिकार की सार वस्तु उसमें नहीं थी।"

यदि यह उपर्युक्त विवेचन ठीक है तो यह इसका सब से अच्छा

स्पष्टीकरण है कि अहिंसक प्रतिकार निश्चित रूप से कैसा होना चाहिए और कैसा नहीं। कोई व्यक्ति यह कहेगा कि यदि सच्ची अहिंसा का पालन किया गया होता और हड़ताल सफल होती तो कितना अच्छा होता। इससे उन्हें अहिंसक गति शास्त्र का स्पष्ट रूप से दर्शन हो जाता।

पेक्स की खानों के मजदूरों की हड़ताल

१६२६ की इंग्लैण्ड की आम हड़ताल अहिंसक प्रतिकार में—खासकर नेताओं में मूलभूत कमियां रह जाने के कारण असफल हुई लेकिन हंगेरी में पेक्स की हड़ताल ने तथा उसे अन्त में जो सफलता मिली उसने एक बात सिद्ध कर दी कि यदि कुछ इने-गिने दृढ़निश्चयी लोग सही स्थिति ग्रहण कर लें और अन्त तक उसपर डटे रहें तो जो चाहें वही करके दिखा सकते हैं।

हड़ताल का सीधा-सा कारण था आर्थिक। सन् १६३४ में पेक्स के १२०० मजदूरों ने अपनी मांग ज्यादा काम और एक सप्ताह के १४ शिलिंग वेतन के लिए हड़ताल कर दी। मन्दी के कारण उनको सप्ताह में केवल तीन दिन काम मिलता था। मजदूरी बिल्कुल अपर्याप्त होती थी। उसमें भी उनकी तनख्वाह में से आठ प्रतिशत काट लिया जाता था।

जब मजदूर लोग खानों में थे तभी हड़ताल की घोषणा कर दी गई। वे वहीं बैठ गये और जबतक उनकी मांग मंजूर न हो तबतक ऊपर आने से इन्कार कर दिया। दो दिन के बाद उनमें से ४४ व्यक्तियों की हालत खराब हो जाने से उनको ऊपर लाना पड़ा। भूख-प्यास और थकावट से वे बेहाल हो गये थे। उनमें से कुछ लोग तो बेहोश हो गये थे। कितने ही बड़बड़ा रहे थे और कितने ही मृत्यु के नजदीक पहुँच गये थे। हंगेरियन सरकार ने यह जाहिर किया कि पेक्स के आसपास के क्षेत्र में खतरा पैदा हो गया है और वहां सेनाएँ तैनात कर दीं।

खान के मजदूरों से जो समझौते की बातचीत हुई उससे कोई नतीजा नहीं निकला।

खान के अन्दर से मजदूरों ने संदेशा भेज दिया कि "जबतक आप हमारी सारी माँगें अभी मंजूर करने का वचन नहीं देते तबतक आगे बातचीत करना व्यर्थ है। ऊपर आकर भूखों मरने के बजाय हम यहीं दम घुटकर मर जाना पसन्द करेंगे। हम हंगेरियन हैं और हमें आशा है कि खान के गर्त में से और हमारे पीड़ित हृदय में से जो करुण चीत्कार उठ रही है वह हमारे देशवासियों तक अवश्य पहुँचेगी······। जब हम युद्ध के सैनिक थे तब हमें संरक्षण प्राप्त था। आज हम उत्पादन के सैनिक हैं अतः हमारा दावा है कि हमें अब भी उसी प्रकार का संरक्षण मिलना चाहिए।" इसके बाद उन्होंने ३४५ शव-पेटियाँ भेजने की प्रार्थना की और सन्देशा दिया कि हमने मृत्यु को अपना लेने का निश्चय कर लिया है। हमारी याद भुला दीजिये। बाल-बच्चों को हमारा अन्तिम आशीर्वाद।

तीसरे दिन खानों के मालिकों ने दूसरे ३००० मजदूरों के लिए तालेबन्दी कर दी। इससे खान विभाग के ४०००० लोगों में और कटुता फैल गई। रास्तों पर सेना की गश्त शुरू हो गई। हड़ताल से सहानुभूति रखने वाले और ये सब बातें अपने सामने देखने वाले दो व्यक्ति समझौते का प्रयत्न करने के लिए मजदूरों के पास गये। सोशल डेमोक्रेटिक दल का पार्लियामेन्ट का सदस्य चार्ल्सपेअर कहता है—
"मैंने कई उग्र हड़तालें देखी हैं लेकिन पेक्स की हड़ताल में मैंने जितना जबरदस्त दृढ़ निश्चय देखा है उसका मुकाबला किसीसे भी नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार हंगेरियन पार्लियामेन्ट के डेमोक्रेटिक-सोशलिस्ट सदस्य जनरल जेमास इस्टर जेलोस ने खानों के गर्भ में ऐसे मजदूरों को देखा जिनको उनके मित्रों ने इसलिए खम्भों से बाँध दिया था कि कहीं वे आत्महत्या न कर लें। वहाँ उसे भूख, थकावट, सामूहिक उन्माद साकार रूप में दिखाई दिये। उसने इस घटना का—'मेरे

जीवन का एक भयंकर दृश्य' कहकर वर्णन किया है। वह आगे कहता है—काफी थककर उस जबरदस्त गर्मी में खान के गर्भ की उस मैली जमीन पर कोयलों के ढेलों का तकिया बनाकर वे लोग इधर-उधर पड़े हुए हैं।

चार दिनों के बाद समझौता करने के लिए उनको तैयार किया गया। सरकारी रेलों ने कम्पनी से ज्यादा कोयला खरीदना स्वीकार कर लिया। सरकार ने यह जाहिर किया कि वह वेतन काटने के बारे में जाँच करेगी। कम्पनी ने वायदा किया कि वह किसी भी मजदूर को हड़ताल करने के लिए परेशान नहीं करेगी और उसने थोड़ा-सा बोनस भी दिया।

लेकिन जब हड़तालियों की हालत सुधरी तब उनके समाधान का कोई कारण नहीं दिखाई दिया। उनका कहना था कि जब उन्होंने शर्तें मंजूर कीं तब उनका मन अत्यन्त दुर्बल हो गया था और वे अच्छी तरह नहीं जानते थे कि वे क्या कर रहे हैं। चार दिनों तक खानों में रहने के कारण वे इतने थक गये थे कि उनका अपने दिमाग पर कोई काबू नहीं रहा था।

साढ़े तीन महीनों के बाद पेक्स के ६६८ खान के मजदूरों ने दस फीसदी मजदूरी बढ़ाने के लिए फिर हड़ताल कर दी। तालेबन्दी और सेनाओं का प्रदर्शन तो सदा की भाँति हुआ ही; परन्तु २६ घंटों में ही व्यवस्थापकों ने उनकी माँग मंजूर कर ली और हड़ताल करने के लिये मजदूरों को कोई तकलीफ न देना भी मंजूर कर लिया।

इस हड़ताल के बारे में श्री ग्रेग ने अपने उद्गार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—"हड़ताल के कुछ काम और उसके कुछ मजदूरों की अन्तःप्रवृत्ति यद्यपि हिंसक थी फिर भी उनकी तीव्र निराशा, कष्टसहन, ऐक्यता और सहनशीलता, अन्याय के सम्बन्ध में स्पष्टता ये सब बातें इतनी विचित्र थीं कि संसार की लापरवाही और अज्ञान एकदम नष्ट

हो गया। दूसरी हड़ताल में मालिकों को मजदूरों की सब माँगें मंजूर करनी पड़ीं।

दुखोबार

दुखोबार काकेशश के किसानों की एक ईसाई जाति थी। दुखोबार का ठीक अर्थ है—आत्मबल के द्वारा लड़ाई करने वाले। अपने पीटरह्वेरेंजियन नामक नेता को वे देवता की तरह मानते थे। उसके कहने पर सन् १८९६ में उन्होंने सेना में भर्ती होने से इन्कार कर दिया। कोफ़क सेना का उनपर हमला हुआ और उनको निर्दयता के साथ मारा। सन् १८९६ के अगस्त मास में कैदियों की टुकड़ी में उस मारपीट के परिणामस्वरूप मर जाने के कारण एक आदमी का बलिदान हो गया। इसके बाद तो सैकड़ों लोगों को ऐसी जगह देश-निकाला दिया जहाँ की जलवायु खराब थी और सर्दी पड़ती थी और न काम मिलता था न खाना। इससे अन्त को वे मौत के शिकार हो गये।

इस सत्यव्रत और परिश्रमी किसान-जाति को बाद में बहुत परेशान किया गया और सेना में भर्ती होने से इन्कार करने के अपराध में मुकद्दमे चलाये गये।

सन् १८९६ के दिसम्बर मास में उनका समर्थन करते हुए विरूकोह्व, टेम्र्‌वोह्व और चर्टकोह्व ने 'धावा' नाम का एक पत्र प्रकाशित करवाया। टालसटाय ने भी इसका समर्थन किया। इसपर पहिले दो को तो निर्वासित कर दिया गया और तीसरे को देशत्याग करने की आज्ञा दी गई।

सन् १८९८ के आस-पास दुखोबारों को देश छोड़ने की इजाजत मिल गई और १ अक्टूबर १८९८ के दिन खिलकोह्व व आयरमोड उनके पहिले दो कुटुम्बों को कनाड़ा ले गये। सेना में भर्ती होने का उन्होंने जो विरोध किया उसे वहाँ स्वीकार कर लिया गया और वे

शान्तिप्रिय नागरिक माने-जाने लगे। रशिया से कनाडा जाने के लिए ७३६३ दुखोबारों को सुविधाएँ प्रदान की गईं।

उनकी अपनी कुछ धार्मिक अन्ध श्रद्धाएँ थीं। अतः वे कनाडा के निवासियों के साथ घुलमिल न सके। वे किसी भी प्रकार के सरकारी नियन्त्रण को अच्छा नहीं समझते थे। अतः उन्होंने जन्म-मृत्यु दर्ज करवाने से भी इन्कार कर दिया।

अच्छे कारीगर किसान और बागवान के रूप में उन्होंने काफी ख्याति प्राप्त की। व्हेरीजिन भी उनके साथ कनाडा का बाशिन्दा हो गया।

कारवार का अहिंसक प्रतिकार

ब्रिटिश आक्रमण के प्रारम्भिक काल में कारवार जिले के निवासियों ने ब्रिटिश लोगों का मुकाबला जिस प्रकार किया वह नीचे बताया जा रहा है।

आज कर्नाटक प्रान्त में उत्तर कानड़ा और दक्षिण कानड़ा नामक दो जिले हैं लेकिन सन् १८६२ के पहिले इन दोनों को मिलाकर एक ही जिला था और वह मद्रास इलाके के अन्तर्गत था। सन् १८६२ में उसके दो हिस्से करके उत्तर कानड़ा तो बम्बई इलाके में मिला दिया गया और दक्षिण कानड़ा मद्रास इलाके में। ब्रिटिश प्रभुत्व के पहिले कानड़ा मैसूर राज्य में था। सन् १७९९ में मैसूर की लड़ाई में अंग्रेजों ने टीपू सुलतान को हराकर उसके सारे राज्य पर कब्जा कर लिया, और उसी समय सर टामस मुनरो ने कानड़ा जिले पर अधिकार जमाया।

कानड़ा के लोगों ने नये शासकों के सामने सहज ही में सिर नहीं झुकाया। टामस मुनरो के जिले में प्रवेश करते ही लोगों ने उसका कड़ा अहिंसक प्रतिकार किया। सर टामस मुनरो ने जो पत्र लिखा उससे इसकी पूरी कल्पना हो जाती है।

पूर्ण असहयोग, राजनैतिक एवं सामाजिक बहिष्कार तथा

आवश्यकता पड़ने पर गाँव-के-गाँव छोड़कर चले जाने का रास्ता ही उन्होंने अपनाया था। सर मुनरो चाहता था कि लोग ब्रिटिश शासन को स्वीकार कर लें और इसके लिए उसने नये बन्दोबस्त का प्रलोभन दिया; लेकिन जमीन के मालिकों ने जमीन का पुराना हिसाब दिखाने से साफ इन्कार कर दिया। कहा जाता है कि मौका आने पर वे बहुतेरे क़ागज भी जला देते थे। तब सर मुनरो ने मनमाने और जालिमाना ढंग से जमीन के हिस्से करना शुरू किया। जमींदार और किसान के विरोधी हितों से लाभ उठाकर उसने उनमें फूट डाल दी। इस प्रकार कुछ वर्षों तक षड्यन्त्र और जबरदस्ती के बल से वह अपना अधिकार जमाये रहा।

सर मुनरो के पत्र के निम्नलिखित उद्धरण से अपने आप इस बात पर प्रकाश पड़ता है।

२० दिसम्बर १७६६ को हल्दीपुर (उत्तरी कानड़ा) से लिखे हुए सर टामस मुनरो के पत्र का उद्धरण—

"यहां की रैयत उच्छृङ्खल और सिरजोर है········ज्योंही उनको मेरा इरादा मालूम हुआ उन्होंने मुझे चक्कर में डालने की कार्रवाई शुरू की········उन्होंने कचहरियों में आने से इन्कार कर दिया······ मैंने जिन अधिकारियों को भेजा उनको आग और पानी तक नहीं दिया और उनको करीब-करीब भूखों मरना पड़ा। मैं किसी गांव में जाता तो लोग दूसरे गांव चले जाते। इससे कितने ही सप्ताहों तक मैं जिस जिले में गया वहां मुझे एक भी आदमी नहीं मिला·····। यदि फ्रान्सीसियों की भांति बगावत किये बिना अथवा अपने अधिकारों की सनदें भेजे बिना वे कचहरी में आकर विभिन्न ग्रामों की फसल और जमीन के सम्बन्ध में चर्चा करते तो आज की अपेक्षा अधिक सही लगान बैठा होता और मुझे वसूल करने में तथा उनको जमा करने में काफ़ी सुविधा होती········मालिक बड़े दबंग और मजबूत हैं। और

उनको बीच के दलालों के ऊपर अवलम्बित रखने के तुम्हारे प्रयत्न वे ठुकरा देंगे।"

२५ अगस्त सन् १८०० को कुन्दापुर [दक्षिण कानड़ा] से सर मुनरो ने जो पत्र लिखा उसका उद्धरण—

"कारवार का सत्ताधीश बनने के बजाय मैं अच्छी जलवायु के प्रदेश में एक साधारण सिपाही की तनख़्वाह में दिन गुज़ारना ज्यादा पसन्द करूंगा।"

: २० :

रौलट एक्ट सत्याग्रह

आगे के अध्यायों में उन सत्याग्रह आन्दोलनों का संक्षिप्त वृत्तान्त दिया जा रहा है जो गांधीजी ने राष्ट्रव्यापी पैमाने पर शुरु किये थे। ये सारे आन्दोलन बड़े महत्त्व के हैं अतः प्रत्येक आन्दोलन का वर्णन स्वतन्त्र अध्यायों में किया जा रहा है। अप्रैल सन् १९१९ का रौलट एक्ट सत्याग्रह इनमें सबसे पहिला है।

चंपारन (१९१७) और खेड़ा (१९१८) के छोटे-छोटे सत्याग्रह के बाद जब ३–९–१९ को रौलट बिल पर कानून की मुहर लग गई तो गांधीजी को राष्ट्रव्यापी आन्दोलन करने का मौका अचानक मिल गया।

पहिले महायुद्ध का अन्त नवम्बर सन् १९१८ में हुआ और विजय की माला मित्रराष्ट्रों के गले में पड़ी। विजय प्राप्ति के युद्ध में हीला-हवाला न करते हुए हिन्दुस्तान ने अपना पार्ट अच्छी तरह अदा किया था। उसने स्वेच्छापूर्वक अपना रक्त बहाया था और तिजोरियां खाली कर दी थीं। स्वभावतः ही हिन्दुस्तान को यह आशा थी कि यदि पूर्ण स्वराज्य नहीं तो कम-से-कम स्वराज्य का अधिकांश भाग तो

उसे मिलेगा ही। लेकिन भूखे हिन्दुस्तानियों के मुँह पर राजनैतिक अधिकारों का छोटा-सा टुकड़ा फेंकने के पहिले ही उनके नागरिक अधिकारों को कुचल देने वाला रौलट एक्ट पास कर दिया गया। सरकार ने राजद्रोह का नाम-निशान तक मिटा देना तय किया और इस कानून के द्वारा भारत रक्षा कानून अथवा आर्डिनेन्सों के समान सरकारी जांच करने के अधिकार सरकार ने इस कानून के द्वारा अपने हाथ में ले लिये।

हिन्दुस्तान के क्रान्तिकारी अपराध और राजद्रोह-सम्बन्धी रौलट रिपोर्ट १९–१–१९१९ को प्रकाशित की गई। ६–२–१९ को बड़ी धारासभा में रौलट बिल पेश किया गया। गांधीजी ने २४–२–१९१९ को यह घोषित किया कि यदि यह बिल कानून बन गया तो मैं इसके विरुद्ध सत्याग्रह आन्दोलन शुरू करूंगा। बिल नं० २ तो रोक दिया गया था लेकिन बिल नं० १ जिसका नाम 'क्रिमिनल लॉ अमेन्डमेन्ट एक्ट' था ३ मार्च को पास हो गया। जिन दिनों धारासभाओं में इस बिल के ऊपर चर्चा हो रही थी उन्हीं दिनों गांधीजी ने देश भर का दौरा किया और उस कानून के खिलाफ वक्तव्य दिये। दक्षिण भारत में तो उन्हें बहुत उत्साह दिखाई दिया। १८ मार्च १९१९ को उन्होंने सत्याग्रह के लिए एक प्रतिज्ञापत्र प्रकाशित करवाया। यह सब अभी नई स्थापित की हुई सत्याग्रह समिति के नाम से ही किया गया। मद्रास से यह सूचना भेजी गई कि ३० मार्च सत्याग्रह के पहिले दिन के रूप में मनाया जाय। लेकिन बाद में इसे बदलकर ६ अप्रैल कर दिया गया। यह नई सूचना दिल्ली तथा अन्य कुछ स्थानों पर न पहुँच सकी और वहां ३० मार्च को ही सत्याग्रह दिवस मनाया गया।

प्रतिज्ञापत्र में रौलट एक्ट का वर्णन "अन्यायपूर्ण तथा न्याय और स्वाधीनता के सिद्धान्तों के लिए घातक और व्यक्ति के उन मौलिक अधिकारों को हानि पहुँचाने वाला जिनपर भारत और स्वयं राज्य की रक्षा अवलम्बित है" कहकर किया गया था।

२८ फरवरी १६१६ को जो घोषणापत्र प्रकाशित किया गया उसमें गांधीजी कहते हैं—"आज हम जो कदम उठा रहे हैं वह हिन्दुस्तान के इतिहास में सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण गिना जायगा। ज्यादा-से-ज्यादा कष्टसहन करने का निश्चय करके तथा सरकार के प्रति किसी भी प्रकार की द्वेषभावना मन में न आने देते हुए प्रतिज्ञाबद्ध सत्याग्रही सरकार से अन्तिम प्रार्थना करता है। अपनी शिकायतों को दूर करवाने के साधन के रूप में जो हिंसा की क्रियाशीलता में श्रद्धा रखते हैं उन्हें सत्याग्रह एक अमोघ उपाय बताता है। इसके अलावा जो इस उपाय को अपनाता है और जिसके विरुद्ध इसे अपनाया जाता है उन दोनों के ही लिए यह कल्याणकारी है। यह अन्याय अत्यन्त भयङ्कर है और इसे मिटाने के सारे सौम्य उपाय असफल सिद्ध हो गये हैं। सत्याग्रही इस बात का निश्चय पहिले ही कर लेता है।"

सम्पूर्ण हिंदुस्तान में सत्याग्रह दिवस किस प्रकार मनाया जाय इस सम्बन्ध में गांधीजी ने अपने २३ मार्च के वक्तव्य में कहा—"सत्याग्रह खासकर एक धार्मिक आन्दोलन है। वह तपस्या और आत्मशुद्धि का ही एक मार्ग है। सत्याग्रह कष्टसहन के द्वारा अन्याय को मिटाने का सुधार करने का प्रयत्न करता है। ६ अप्रैल का दिन हमारे अपमान और उसके निवारण के लिए प्रार्थना दिवस के रूप में मनाया जाना चाहिए। (उस समय तक वाइसराय इस एक्ट पर अपनी स्वीकृति दे चुके होंगे)" सत्याग्रह दिवस के लिए उन्होंने निम्नलिखित कार्यक्रम सुझाया—

(१) चौबीस घंटों का उपवास किया जाय। लेकिन वह भूख-हड़ताल की तरह सरकार पर दबाव डालने के लिए न हो। बल्कि सविनय कानून भंग के लिए एक योग्य सत्याग्रही बनाने वाले आवश्यक अनुशासन के साधन के रूप में हो। जिसने सत्याग्रह की प्रतिज्ञा नहीं ली है उन्हें भी अपनी जख्मी भावनाओं की तीव्रता के प्रतीक के रूप में उपवास करना चाहिए।

(२) उस दिन सब जगह हड़ताल रखी जाय।

(३) आम सभाओं का आयोजन करके उनमें रौलट एक्ट वापस ले लेने का प्रस्ताव पास किया जाय।

यह कार्यक्रम आम जनता के लिए था। लेकिन प्रतिज्ञाबद्ध सत्याग्रही के लिए एक विशेष कार्यक्रम बनाया गया था। अकेले बम्बई में ही प्रतिज्ञाबद्ध सत्याग्रहियों की संख्या ६०० थी। उन्हें सत्याग्रह समिति की ओर से जब्त साहित्य तथा अखबारों के रजिस्ट्रेशन के कानून को सविनय भंग करने की सूचना दी गई थी। दूसरी बातों के साथ ही उन्हें इस बात की भी सविस्तार सूचना दी गई थी कि सजा जुर्माना, तख्ती आदि के लिए कोर्ट में कोई बचाव न करते हुए किस प्रकार निर्भयतापूर्वक उनका मुकाबला किया जाय।

सारे हिन्दुस्तान से इस आन्दोलन का बहुत जोरदार समर्थन किया गया। बहुत-से स्थानों पर शान्तिपूर्ण हड़ताल, उपवास, प्रार्थना और विशाल आम सभाएं आदि कार्य-क्रम हुए। उनमें लाखों लोगों ने भाग लिया। लेकिन दुर्भाग्य से कहीं-कहीं जनता ने जरूरत से ज्यादा उत्साह दिखाया। पुलिस ने भी परिस्थिति को सहानुभूति और चतुरता से सम्भालने का प्रयत्न नहीं किया। देहली में ३० मार्च को ही यह दिन मनाया गया। वहां पुलिस ने गोली चलाई। इसमें ५ व्यक्ति मारे गये और कितने ही जख्मी हो गये। दूसरे स्थानों पर भी सरकार ने दमन-चक्र चलाया। कांग्रेस के आगामी अधिवेशन की तैयारी करने के लिए डा० किचलू और डा० सत्यपाल अमृतसर गये थे। वहां उनको गिरफ्तार करके अज्ञात स्थान में ले जाया गया। सरकारी अफसर के प्रक्षोभजनक व्यवहार के कारण गुजरानवाला व कसूर के लोगों ने हिंसा का अवलम्बन किया। इस प्रकार पंजाब की स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गई। गांधीजी को जल्दी ही वहां बुलाया गया। अतः वे वहां जाने के लिए रवाना भी हो गये। लेकिन पंजाब सरकार ने उनको रास्ते में ही रोककर, पुलिस के पहरे में वापस बम्बई पहुँचा दिया।

इस बात से अहमदाबाद और वीरम गांव की जनता ने हिंसा का अवलम्बन करके जानमाल पर आक्रमण कर दिया।

इसके बाद जलियानवाला बाग में तो दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं की हद ही हो गई। वहां जनरल डायर ने जो गोली चलवाई उससे ही सरकारी रिपोर्ट के अनुसार ४०० निःशस्त्र और असहाय लोग उसके शिकार हुए और लगभग १००० व्यक्ति घायल हुए। इसके साथ फौजी कानून लगा दिया गया जिसके द्वारा मुल्की और फौजी अधिकारियों ने जनता पर मनमाने अत्याचार किये। खुलेआम कोड़े लगाना, कतार बांधकर चलाना, जल्दी ही मुकदमा चलाकर सजा देना आदि बातें चालू रहीं। कितने ही महीनों तक पंजाब पर मानो शैतान के राज्य की काली छाया फैली रही। वे कृत्य ब्रिटिश शासन पर ऐसे कलङ्क हैं जो कभी भी मिट नहीं सकेंगे मानो ये सब काफी न हों इसलिए अकेले पंजाब में ही ५१ व्यक्तियों को फाँसी की सजा दी गई और लगभग २०० व्यक्तियों को लम्बी-लम्बी सजाएँ दी गईं। कई लोगों को देश-निकाला दिया गया। इनमें से कुछ घटनाओं से तो गांधीजी तिलमिला उठे। किसीको सत्याग्रह के नाम पर कलङ्क लगाने का मौका न मिले यह विचारकर उन्होंने १८ अप्रैल १६१६ को आन्दोलन स्थगित कर दिया। कारण कुछ भी क्यों न हो लेकिन उन्होंने यह अनुभव कर लिया था कि लोग सामुदायिक हिंसा करने पर आमादा हो जाते हैं। जनता द्वारा किये हुए हिंसक कार्यों की आड़ लेकर सरकार ने जो क्रूर दमनचक्र चलाया था वे उसे रोक देना चाहते थे। उस समय के एक वक्तव्य में वे कहते हैं—"आज सत्याग्रह पर मेरी श्रद्धा पहिले से भी ज्यादा दृढ़ हो गई है। यह मेरा सत्याग्रह–शास्त्र का दर्शन ही है जिसके कारण मुझे यह आन्दोलन बन्द करना पड़ रहा है।·········मैं हिंसक प्रवृत्ति के अस्तित्व से परिचित हूँ·········अहमदाबाद और वीरम गाँव में जो हिंसा हुई है उसका सत्याग्रह से तनिक भी सम्बन्ध नहीं है·········उस हिंसा से सत्याग्रह का थोड़ा-

सा भी कार्यकारण-सम्बन्ध नहीं है। यदि कुछ है तो सत्याग्रह ने उसे रोकने में ही मदद की है······पंजाब की घटनाओं से सत्याग्रह का सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। हमें इस अपराध करने की प्रवृत्ति का अन्त करके शान्ति प्रस्थापित करने के मार्ग में सरकार की जितनी भी हो सके मदद करनी चाहिए। एक सत्याग्रही के नाते आज हमारा यही कर्तव्य है। हमें निर्भयता से सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों का समर्थन करते रहना चाहिए। जब ऐसा होगा तभी हम सामूहिक सत्याग्रह के मार्ग पर चलने के योग्य हो सकेंगे।

२१-७-१९१९ को एक वक्तव्य निकालकर गांधीजी ने उसमें यह बात स्पष्ट कर दी कि सरकारी नीति में वाञ्छनीय परिवर्तन के चिह्न दिखाई देने के कारण अनेक मित्रों और हितचिन्तकों की सलाह के अनुसार वे सविनय कानून भंग प्रारम्भ नहीं करेंगे। क्योंकि वे सरकार को परेशान नहीं करना चाहते। उन्होंने सारे सत्याग्रहियों को शुद्ध स्वदेशी तथा हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का प्रचार करने की आज्ञा दी।

कुछ भी हो जिस रौलट एक्ट को वापस लेने के लिए सत्याग्रह प्रारम्भ किया था उसका भविष्य निश्चित हो गया था। एक भी बिल कानून नहीं बन सका और जिसपर कानून की मुहर लगी वह कभी भी लागू नहीं किया जा सका। वह कानून कागजों में ही रहा।

जितने राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह हुए उनमें यह पहिली राष्ट्रव्यापी लड़ाई थी। सारा भरतखण्ड इस लड़ाई की समर-भूमि था। यह सत्याग्रह बहुत दिनों तक नहीं चला। केवल ६ अप्रैल से १८ अप्रैल तक ही यह आन्दोलन चालू रहा। इस युद्ध में एक ओर हिन्दुस्तान की सरकार और दूसरी ओर आम जनता थी। लड़ाई का कारण था नागरिकों की स्वतंत्रता पर पदाघात करने वाले अन्यायपूर्ण और प्रक्षोभक कानूनों का जनता पर लादा जाना और सत्याग्रह का स्वरूप था सत्याग्रह समिति द्वारा चुने हुए कुछ अनुचित कानूनों का सविनय भंग करना। शान्तिपूर्ण हड़ताल, उपवास, प्रार्थना तथा आम सभा का

कार्यक्रम जनता के सामने रखा गया। दुर्भाग्य से कई जगह सामूहिक हिंसाकाण्ड शुरू हो गये और सरकार ने भी अत्यन्त निर्दयतापूर्वक उसका दमन करना शुरू कर दिया। अन्त में सत्याग्रह का मूल उद्देश्य—रौलट एक्ट को बेजान बना देना—सफल हो गया।

: २१ :

अहिंसात्मक असहयोग

यदि यह मान लें कि रौलट एक्ट जैसे किसी विशेष अन्याय के विरुद्ध चुने हुए सत्याग्रहियों द्वारा किसी विशेष कानून को सविनय भंग करना पहिले राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह का मुख्य लक्षण था तो यह मानना पड़ेगा कि खासकर पंजाब और खिलाफत के मामलों के विरुद्ध तथा उसी सिलसिले में स्वराज्य के लिये सारे सरकारी तन्त्र से असहयोग करना दूसरे राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह का प्रमुख और महत्त्वपूर्ण अङ्ग है।

२१-७-१९ के दिन गांधीजी ने घोषित किया कि हम फिर जल्दी ही सत्याग्रह शुरू नहीं करेंगे। इसका यह मतलब नहीं कि सब बातें ठीक ढंग से हो रही थीं। गांधीजी ने बाद में यह बात स्वीकार की थी कि हिंसक प्रवृत्ति का पूरा अन्दाज लगाये बिना आन्दोलन शुरू करके उन्होंने हिमालय जैसी भूल की है। लेकिन जनता के जबरदस्त असन्तोष के कारण अब भी मिटे नहीं थे और ऐसे नये-नये कार्य सरकार कर रही थी जिससे जनता का क्षोभ बढ़े।

सरकारी दमन एवं हिन्दुस्तान में राजनैतिक सुधार न करने में सरकार ने जिस निर्लज्ज नीति को अपनाया उससे दूसरे राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह के लिए जनता में अधिकाधिक उत्साह पैदा हो रहा था। पञ्जाब के जलियानवाला बाग तथा दूसरी जगहों के काले कारनामों के लिए जो अधिकारी उत्तरदायी थे उन्होंने गोली चलाने में समझदारी

से काम नहीं लिया इस बात को स्वीकार करके भी सरकार ने उन्हें उनकी ईमानदारी के लिए प्रमाणपत्र दिये और उनके अपराधों पर पर्दा डाल दिया। यूरोपीय जाति ने जनरल डायर को विभूति का स्थान दिया और २०००० पौंड की एक तलवार उसे भेंट की। पञ्जाब के अत्याचार की जांच करने के लिए सरकार ने हंटर-कमेटी बैठाई। लेकिन उसने वहां के कारनामों पर लीपा-पोती करने का ही काम किया। कमेटी के सामने महत्त्वपूर्ण राजबंदियों को गवाही देने की इजाजत नहीं दी गई। इसपर कांग्रेस ने कमेटी से असहयोग किया। कमेटी के हिन्दुस्तानी सदस्यों ने अपना भिन्न मत लिखा। लेकिन सरकार ने इसकी परवाह न करके मई १९२० के अन्त में कमेटी के बहुमत की रिपोर्ट मंजूर कर ली। इसी बीच कांग्रेस ने अपनी गैरसरकारी कमेटी बैठाई। इस कमेटी ने २५-३-१९२० को अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। लेकिन सरकार ने उसे उसी समय जब्त कर लिया।

इस सारे अन्याय के साथ खिलाफत-सम्बन्धी अन्याय भी जुड़ गया जिससे हिन्दुस्तान का सारा मुसलमान-समाज बिगड़ गया। लड़ाई के समय ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री ने तुर्किस्तान के सामने सहानुभूतिपूर्ण सन्धि की शर्तें रखने का अभिवचन दिया था। तदनुसार यह बात स्वीकार की गई थी कि अरबस्तान और मध्य पूर्व के मुसलमानी प्रदेश गैरमुसलमानों की सत्ता में न जाने दिये जायँगे और खिलाफत को धक्का न लगने दिया जायगा। तुर्की की गैरमुसलिम जनता को आवश्यक संरक्षण देना स्वीकार करके मुसलमानों ने यह मांग की थी कि तुर्किस्तान में खलीफा की सत्ता अबाधित रूप में कायम रहे और यदि अरबों की इच्छा हो तो अरबस्तान तथा अन्य धार्मिक क्षेत्रों पर खिलाफत की हुकूमत इस प्रकार कायम कर दी जाय जिससे उनकी स्वतन्त्रता पर कोई आघात न हो। और जब १४-५-१९२० को तुर्किस्तान पर लादी हुई संधि की शर्तें प्रकाशित की गईं तब दिखाई देने लगा कि पहिले जो वायदे किये गये थे उन सबको धूल में मिला दिया

गया है। लेकिन वाइसराय ने हिन्दुस्तान के मुसलमानों से एक विज्ञप्ति निकालकर अपील की कि वे अब इन बातों पर कोई ध्यान न दें। लेकिन मुसलमान जनता में उत्तरोत्तर असंतोष बढ़ता जा रहा था। जब मुसलमानों को यह अनुभव हुआ कि ब्रिटिश सरकार से प्रार्थना करना व्यर्थ है तो उन्होंने सशस्त्र बगावत करने के बजाय गांधीजी के नेतृत्व में असहयोग का एकमात्र मार्ग स्वीकार किया।

इस प्रकार पञ्जाब के अत्याचार, खिलाफत-सम्बन्धी अन्याय तथा इसके साथ ही सत्ता त्याग करने की सरकार की अनिच्छा आदि बातों से लोगों का असन्तोष बढ़ता जा रहा था और वे उन्हें भीतर-ही भीतर उकसा रही थीं।

इसके साथ ही जनता के हृदय पर गांधीजी का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। जब उनपर से पञ्जाब-प्रवेश का प्रतिबन्ध उठा लिया गया तो १७ अक्टूबर १९१९ को वे पञ्जाब गये। उनके आगमन से भयभीत पञ्जाबी जनता को बड़ा धीरज बंधा। इसके बाद अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। वहां गांधीजी ने जनता को सौम्यनीति तथा प्रतियोगी सहयोग का मार्ग बताया। उस समय वे आज जितने उग्र नहीं थे। कांग्रेस ने उनकी अधिकांश बातें स्वीकार कर लीं। उन्होंने सरकारी अत्याचार की उतनी ही निन्दा की जितनी जनता की हिंसक वृत्ति की। उन्होंने कहा कि—"यदि आप पागलपन का मुकाबला पागलपन से न करके विवेक से करेंगे तो परिस्थिति पर विजय प्राप्त कर लेंगे।"

१० मार्च १९२० तक खिलाफत के सम्बन्ध में सरकार का जो रुख रहा उससे गांधीजी बिलकुल निराश हो चुके थे। उस दिन उन्होंने जो घोषणापत्र प्रकाशित किया उससे स्पष्टतः असहयोग की सूचना मिलती है। "आइये संक्षेप में इस बात पर विचार करें कि यदि हमारी मांगें मंजूर न हुईं तो हम क्या करेंगे। सशस्त्र लड़ाई चाहे वह गुप्त रूप से हो चाहे वह प्रकट रूप से बर्बरता का ही मार्ग

है। भले ही इस कारण से क्यों न हो कि वह अव्यवहार्य है अभी उसका विचार छोड़ देना चाहिए।......अतः अब केवल असहयोग का ही मार्ग शेष रहता है। यदि हम पूरी तरह हिंसा से अलिप्त रह सकें तो यह मार्ग जितना विशुद्ध है उतना ही अत्यन्त परिणामकारक भी है। स्वेच्छा से सरकार के साथ असहयोग करना ही जनता के असंतोष को व्यक्त करने की एकमात्र कसौटी है।"

६ अप्रैल से १३ अप्रैल तक सारे भारतवर्ष में राष्ट्रीय सप्ताह मनाया गया। सप्ताह का प्रारम्भ उपवास और प्रार्थना से हुआ। इस सप्ताह में तीन सभाएँ करनी थीं। पहिली रौलट एक्ट को वापस लेने के लिए प्रार्थना करने के लिए, दूसरी पञ्जाब के अत्याचारों को दूर करने के लिए और तीसरी खिलाफत के अन्याय का निवारण करने के लिए। यह सूचित कर दिया गया था कि हड़तालें न की जांय। जनता को सत्य और अहिंसा का यथार्थ अर्थ समझकर आगामी संघर्ष की तैयारी करने का आदेश दिया गया था।

इस बीच गांधीजी अखिल भारतीय होमरूल लीग के अध्यक्ष बन गये थे। लीग का नाम बदलकर 'स्वराज्य सभा' कर दिया गया था। इस सभा की ओर से रचनात्मक कार्यक्रम की चतुःसूत्री का जनता में प्रसार किया गया। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य, चरखे के साथ-साथ स्वदेशी प्रचार, राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दुस्तानी का प्रसार तथा भाषाओं के आधार पर प्रान्तों की रचना यही चतुःसूत्री कार्यक्रम था।

इन्हीं दिनों उन्होंने निर्भयतापूर्वक घोषित किया—"मेरा दृढ़ विश्वास है कि देश के राजनैतिक जीवन में विशुद्ध सत्य और प्रामाणिकता लाना बिलकुल संभवनीय है। उन्होंने यह भी कहा कि जबतक मेरी शिरा में रक्त का एक भी बूंद रहेगा तबतक मैं सत्य और अहिंसा को राष्ट्र के सारे आन्दोलनों का आधार बनाने का प्रयत्न करता रहूंगा।

मुसलमानों का जो शिष्टमण्डल इंग्लैंड के तत्कालीन प्रधान मन्त्री

लॉयड जार्ज के पास गया वह निराश होकर ही लौटा। उन्होंने इस बात पर जोर देना शुरू किया कि गांधीजी द्वारा प्रणीत अहिंसक असहयोग जैसे कड़े रास्ते का ही अवलम्बन करना चाहिए। १४ मई १९२० को वे सन्धि-शर्तें प्रकाशित हुईं जो तुर्किस्तान पर लादी गई थीं। २८ मई १९२० को खिलाफत समिति की बैठक हुई और उसमें यह निश्चय किया गया कि असहयोग का अवलम्बन किया जाय।

पञ्जाब के अत्याचारों पर लीपापोती करने वाली हंटर-कमेटी की रिपोर्ट २८ मई को प्रकाशित हुई। उसी महीने की ३० तारीख को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई और उसमें यह निश्चय किया गया कि सितम्बर के मध्य में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन बुलाया जाय।

गांधीजी ने घोषणा की कि १ अगस्त १९२० को अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया जायगा। खिलाफत कमेटी ने तो इस सम्बन्ध में जून में ही प्रस्ताव पास कर लिया था। इस दूसरे राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह आन्दोलन के सम्बन्ध में गांधीजी यंग इण्डिया (२८-७-२०) में लिखते हैं—"विगत वर्ष ६ अप्रैल जितना महत्व-पूर्ण सिद्ध हुआ इतिहास में उतना ही महत्त्वपूर्ण १ अगस्त भी होगा। ६ अप्रैल के दिन रौलट एक्ट को गाड़ देने का श्रीगणेश हुआ......जो सरकार सत्ता नहीं सौंपना चाहती उससे न्याय प्राप्त करने की यदि कोई शक्ति है तो वह सत्याग्रह ही है, फिर उस सत्याग्रह को चाहे सविनय कानून भंग चाहे असहयोग कहें।......पहिले की ही भांति यह लड़ाई उपवास और प्रार्थना से शुरू की जाय। आम हड़ताल की जाय। सन्धि की शर्तों पर पुनर्विचार करने और पञ्जाब के अन्यायों के लिए न्याय की मांग करने तथा जबतक न्याय न मिले तबतक असहयोग की भावना का प्रचार करने के लिए आम सभाएं की जांय। इस दिन सरकारी पदवियों को छोड़ना शुरू किया जाय। लेकिन सब से ज्यादा महत्त्व की बात यह है कि जनता में अनुशासन और

व्यवस्थितता लाने का प्रयत्न किया जाय।" साथ-ही-साथ उन्होंने सम्पूर्ण अहिंसा की आवश्यकता पर भी जोर दिया।

४ सितम्बर १६२० को कलकत्ता में कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में असहयोग का प्रस्ताव १८८६ के विरुद्ध ८८४ मतों से पास हो गया। इस प्रस्ताव का मुख्य उद्देश्य था पञ्जाब के अत्याचार और खिलाफत-सम्बन्धी अन्याय के लिए न्याय प्राप्त करना तथा स्वराज्य की स्थापना करना। दिसम्बर १६२० में नागपुर में कांग्रेस का विशाल अधिवेशन हुआ। उसमें १४५८२ प्रतिनिधि उपस्थित थे। इनमें से १०५० मुसलमान और १६६ स्त्रियां थीं। अतीव उत्साह के वातावरण में कांग्रेस ने असहयोग का प्रस्ताव पास किया। कलकत्ता में जिन लोगों ने प्रस्ताव के विरुद्ध मत दिया था अब उनका मत-परिवर्त्तन हो गया था। श्री० देशबन्धुदास ने प्रस्ताव उपस्थित किया और लाला लाजपतराय ने इसका समर्थन किया।

यह आन्दोलन 'प्रगतिशील अहिंसात्मक असहयोग' के नाम से पुकारा जाने लगा। इस कार्यक्रम में पदवियों व उपाधियों, चुनाव व धारासभा, स्कूल व कालेज, कोर्ट व कचहरी तथा विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार का पहिला कार्यक्रम था। इसके साथ ही रचनात्मक कार्यक्रम भी जोड़ दिया गया था। वह था राष्ट्रीय स्कूल व कालेजों की स्थापना करना, न्याय पञ्चायत व ग्राम पञ्चायत कायम करना तथा चर्खे के द्वारा स्वदेशी का प्रचार करना। इसी प्रकार दरबार तथा सरकारी व अर्ध-सरकारी समारंभों का बहिष्कार करना तथा शान्तिपूर्ण धरने के द्वारा शराब आदि मादक द्रव्यों की बन्दी करना भी इस कार्यक्रम में शामिल था। जनता से यह भी कहा गया कि वह मुल्की या फौजी नौकरी में भर्ती न हो।

सन् १६२१-२२ के महान् परिवर्तनशील वर्ष में हिन्दुस्तान में अभूतपूर्व जाग्रति, उत्साह, ऐक्यता और निश्चय दिखाई देने लगा। हिन्दू-मुस्लिम समाज मानो एकरूप हो गये थे। यह आन्दोलन जो

कि प्रार्थना व उपवास के कार्यक्रम से प्रारम्भ हुआ दावानल की तरह चारों ओर फैल गया। जनता ने स्वयं स्फूर्ति से शराब-बन्दी का काम अपने हाथ में लिया। हां, कुछ अवसरों पर कहीं-कहीं भीड़ ने हिंसा का अवलम्बन भी कर डाला लेकिन यह कहा जा सकता है कि कुल मिलाकर यह आन्दोलन जितना जोरदार और प्रभावशाली था उतना ही अहिंसक भी था। इन दिनों सैकड़ों राष्ट्रीय स्कूल खोले गये। अ० भा० काँ० कमेटी की बेजवाड़ा की बैठक में कांग्रेस के सदस्यों की संख्या ५००००००० तक बढ़ा लेने का संकल्प किया गया। तिलक स्वराज्य फण्ड की रकम भी जितनी निश्चित की गई थी उससे ज्यादा जमा हो गई और वह १ करोड़ १५ लाख हो गई। हिन्दुस्तान में लगभग २००००० चरखे चलने लगे।

देश में एक बड़ी संख्या में गिरफ्तारियां हो रही थीं। इसमें प्रमुख कार्यकर्ता बचे नहीं थे। हिन्दुस्तान की सरकार ने सन् १६२० के नवम्बर मास में यह बात प्रकट की कि जिन लोगों ने आन्दोलन के मूल संगठन-कर्त्ताओं के आदेश से आगे बढ़कर अपने भाषण अथवा लेखों के द्वारा जनता को हिंसा के लिए उत्तेजित किया और फौज व पुलिस को भड़काने का प्रयत्न किया उन्हीं लोगों पर मुकदमे चलाने का आदेश प्रान्तीय सरकार को दिया गया है।

लेकिन मालूम होता है कि प्रान्तीय सरकार ने इस तारतम्य का ध्यान नहीं रखा। अन्यथा धारवाड़ आदि स्थानों में गोली चलाने का मौका न आता। धारवाड़ की सामूहिक गिरफ्तारी और बनारसी मुकदमे भी केन्द्रीय सरकार की हिदायतों से बेमेल थे। प्रायः सभी प्रान्तों के प्रमुख कॉंग्रेस कार्यकर्त्ताओं को सजाएँ दी गई और अनेक की नागरिक स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। बेजवाड़ा में स्वीकृत कार्यक्रम की सफलता, प्रिन्स ग्राफ वेल्स के दौरे का सफल बहिष्कार आदि अनेक कारणों से सरकार आगबबूला हो गई थी। जिन कॉंग्रेसी कार्य-कर्त्ताओं पर मुकदमे चल रहे थे उनमें से प्रायः सभी ने अपनी ओर से अदालत में पैरवी करवाने से इन्कार कर दिया अतः उनमें से बहुतों

को वर्ष के अन्त तक जेल में जाना पड़ा। दिसम्बर तक क्रिमिनल अमेन्डमेन्ट लॉ जारी कर दिया जिसके अनुसार सरकार किसी भी कांग्रेसी कार्यकर्त्ता को पकड़ सकती थी। सरकार ने संयुक्तप्रान्त और बंगाल के स्वयंसेवक संगठनों को गैर कानूनी ठहरा दिया। इससे उस सविनय अवज्ञा आन्दोलन को प्रारम्भ करने का घर बैठे मौका मिल गया जो अभी तक काँग्रेस के साधारण कार्यक्रम का अंग न बन पाया था। सरकार ने दमनचक्र चलाकर यह रास्ता दिखा दिया। धीरे-धीरे राजबन्दियों की संख्या बढ़ते-बढ़ते दिसम्बर के अन्त तक ३०००० तक पहुँच गई। हाँ, सरकार का लाठीराज उस समय तक अलबत्ता कहीं भी शुरू नहीं हुआ था।

अत्यन्त प्रक्षुब्ध वातावरण में काँग्रेस का अधिवेशन अहमदाबाद में शुरू हुआ। वहाँ उग्र कार्यक्रम की माँग की गई। नागपुर काँग्रेस से एकदम आगे बढ़कर यहाँ यह आदेश दिया गया कि जहाँ अनुकूल वातावरण हो व्यक्तिगत के साथ-साथ सामूहिक सविनय अवज्ञा आन्दोलन भी शुरू कर दिया जाय। स्वयंसेवकों के ऊपर जो सामूहिक मुकदमे चल रहे थे उनका उत्तर देने के लिए काँग्रेस ने अहिंसा की शपथ लेने वाले ५०००० स्वयंसेवकों को भर्ती करने का निश्चय किया।

काँग्रेस के सामूहिक सविनय कानून भंग शुरू करने के निश्चय के अनुसार गांधीजी ने सूरत जिले के बारडोली ताल्लुके में करबन्दी का जबरदस्त आन्दोलन शुरू करने की योजना बनाई। ३१ जनवरी १९२२ को ताल्लुका कान्फ्रेन्स ने एक प्रस्ताव पास किया जिसका आशय यह था कि वह आन्दोलन के लिए तैयार है अतः अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी की ओर से उसे इसकी इजाजत दी जाय। गांधीजी ने १-२-२२ को यह विस्तृत पत्र वाइसराय को लिखा कि चूँकि शिकायतें दूर करवाने के दूसरे रास्ते असफल सिद्ध हो गये हैं अतः हम बारडोली ताल्लुके में करबन्दी आन्दोलन शुरू कर रहे हैं। वाइसराय ने जल्दी ही जवाब देकर अपनी दमन-नीति का समर्थन किया और गांधीजी

को चेतावनी दी कि वे करबन्दी आन्दोलन शुरू न करें।

लेकिन एक ऐसी दुःखद घटना हुई जिससे पांसा काँग्रेस के विरुद्ध पड़ गया। युक्तप्रान्त में गोरखपुर जिले के एक कोने में बसे हुए चौराचौरी गाँव में कुछ काँग्रेसी स्वयंसेवकों ने क्रोध में पागल होकर बीस सिपाहियों और एक सबइन्सपेक्टर को मार डाला। इस घटना से गांधीजी का सारा कार्यक्रम बिगड़ गया। नवम्बर १९२१ के तीसरे सप्ताह में बम्बई में जो साम्प्रदायिक दंगा हुआ वैसा ही किन्तु उससे छोटे पैमाने पर १३ जनवरी १९२२ को मद्रास में उस समय हुआ जब कि प्रिन्स आफ वेल्स वहाँ दौरा कर रहे थे। इस प्रकार के हिंसामय वातावरण में सविनय अवज्ञा आन्दोलन चालू रखना गांधीजी को अनुचित लगा। अतः यद्यपि वर्किंग कमेटी तैयार नहीं थी तो भी गांधीजी ने सामूहिक अवज्ञा आन्दोलन वापस लेने के लिए उसको राजी कर लिया। अवज्ञा आन्दोलन के स्थान पर कमेटी ने रचनात्मक कार्यक्रम की एक विस्तृत योजना तैयार की। देहली में इसी महीने की २४ तारीख को अ० भा० काँ० कमेटी की बैठक हुई जिसमें वर्किंग कमेटी का निर्णय स्वीकार कर लिया गया। अलबत्ता आवश्यकतानुसार व्यक्तिगत सत्याग्रह करने की स्वतन्त्रता अवश्य दी गई।

१० मार्च को गांधीजी गिरफ्तार कर लिये गये और १८ मार्च को उन्हें ६ वर्ष की जेल की सजा दे दी गई। सविनय अवज्ञा आन्दोलन कमेटी ने नवम्बर १९२२ में अपनी रिपोर्ट दी। उसने इस रिपोर्ट में अपना यह अभिप्राय व्यक्त किया कि देश की वर्तमान स्थिति में सविनय अवज्ञा आन्दोलन चालू रखना व्यावहारिक नहीं है। कौन्सिल-प्रवेश के कार्यक्रम की हवा उस समय भी बहने लगी थी। लेकिन कौन्सिल-वादी दल के यह कहने पर भी कि वे 'अन्दर से असहयोग' करेंगे उन्हें एक वर्ष तक काँग्रेस का बाजाप्ता समर्थन प्राप्त नहीं हुआ। हाँ, सविनय कानून भंग उस समय तक ठंडा हो गया था। इसी तरह अहिंसात्मक असहयोग भी ढीला पड़ता जा रहा था।

सत्याग्रह की दूसरी लड़ाई १ अगस्त १६२० को खिलाफत समिति की ओर से शुरू की गई। ४ सितम्बर १६२० को कलकत्ता के विशेष अधिवेशन में उसका समर्थन किया गया और उसे विस्तृत कर दिया गया। दिसम्बर १६२० में नागपुर काँग्रेसने उसे पूरी तरह स्वीकार किया और अखिल भारतीय आन्दोलन शुरू कर दिया। दिसम्बर १६२१ के अहमदाबाद अधिवेशन के बाद सविनय अवज्ञा आन्दोलन, करबन्दी और क्रिमिनल ला अमेन्डमेन्ट एक्ट का प्रतिकार आदि बातें कार्यक्रम में शामिल की गईं लेकिन १२-२-१६२२ को वर्किंग कमेटी ने अधिकृत रूप से सविनय अवज्ञा आन्दोलन वापस ले लिया। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि १ अगस्त १६२० से १२ फरवरी १६२२ तक सत्याग्रह आन्दोलन पूरे जोर पर था।

इस आन्दोलन ने समूचे देश की जड़ हिला दी। सब जातियों और जमातों ने इसमें भाग लिया। विद्यार्थियों ने इस समय बड़ा महत्त्वपूर्ण काम किया। उनमें अपूर्व जाग्रति थी।

अनेक काँग्रेसी स्वयंसेवकों के हाथों बिना चाहे ही ऐसे काम हो गये जिनका अहिंसा से कोई मेल नहीं था और साधारणतः वातारण लड़ाई के अनुकूल नहीं था। अतः आन्दोलन वापस लेना पड़ा। इससे आन्दोलन का तात्कालिक उद्देश्य पूरा न हो सका। लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से कई फायदे भी हुए। सितम्बर १६२२ में जब यरवदा जेल में इस आन्दोलन की उपयोगिता पर प्रश्न किये गये तो गांधीजी ने छाती ठोंककर कहा—"इस आन्दोलन के द्वारा देश कम-से-कम ३० वर्ष आगे बढ़ गया है। बम्बई के तत्कालीन गवर्नर ने इस आन्दोलन के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा था—"यह आन्दोलन करीब-करीब सफलता के द्वार तक पहुँच गया था।"

: २२ :

स्वराज्य के लिये सविनय क़ानून भंग

चार मार्च १९३० को गांधीजी ने वाइसराय को जो पत्र लिखा उसमें सविनय क़ानून भंग का उद्देश्य हिन्दुस्तान के लिए पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना बताया गया था।

आइये आन्दोलन की प्रत्यक्ष जानकारी करने के पहिले उसकी पृष्ठभूमि को थोड़े में समझ लें। मार्च १९२२ में जब गांधीजी गिरफ्तार कर लिये गये तो सविनय क़ानून भंग आन्दोलन का संचालन करने वाली कमेटी ने देश भर का दौरा किया और कुछ सिफारिशें कीं। नवम्बर १९२२ के अन्तिम सप्ताह में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने उन सिफारिशों को पूरी तरह मंजूर कर लिया। सामूहिक क़ानून भंग स्थगित कर दिया गया। इस बैठक के सामने कौंसिल प्रवेश का कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया गया। यद्यपि उस समय उस पर विचार करना स्थगित कर दिया गया फिर भी देश में धीरे-धीरे इस विचारधारा के अनुकूल वातावरण बन रहा था। ५ फरवरी १९२२ को अपेन्डिसाइ-टीज़ के आपरेशन के लिए गांधीजी जेल से छूटे। इस बीच स्वराज्य पार्टी की स्थापना हो चुकी थी। इतना ही नहीं कांग्रेस की अनुमति से उसका कामकाज भी शुरु हो गया था। गांधीजी को स्वराज्य पार्टी को कुचल देना अच्छा नहीं लगा। इसके बजाय उन्होंने उन्हें अपने रास्ते पर चलने की इजाजत दे दी और अपना कार्यक्षेत्र मर्यादित करके केवल बड़े पैमाने पर रचनात्मक कार्यक्रम को सफल बनाकर दिखाने का निश्चय किया। संक्षेप में यह कि सन् १९२४ से सन् १९२९

तक का समय दुहरे कार्यक्रम—रचनात्मक तथा कौन्सिल के कार्यक्रम—का ज़माना था।

कांग्रेस के अधीर वृत्ति के लोग चुपचाप नहीं बैठ रहे। सन् १९२७ तक मुकम्मिल आजादी की कल्पना हिन्दुस्तानी लोगों में—खासकर हिन्दुस्तानी युवकों में घर कर चुकी थी। औपनिवेशिक स्वराज्य तथा उससे मिलने वाले फायदों के जो गीत गाये जाते थे उनसे उनका जी ऊब उठा था। पं० जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस, श्रीनिवास आयंगर, सांबमूर्ति आदि कुछ लोग इस नये विचार के प्रधान समर्थक थे। सन् १९२७ के दिसम्बर में मद्रास में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ उसमें यह प्रस्ताव पास हुआ कि—"हिन्दुस्तानी जनता का ध्येय पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करना है।" सन् १९२९ की लाहौर कांग्रेस में तो कांग्रेस का ध्येय ही पूर्ण स्वराज्य घोषित कर दिया गया। एक दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना के कारण या यों कहिये कि ब्रिटिश सरकार की जबरदस्त भूल के कारण इस समय लोगों में इतनी ऐक्य भावना फैल गई थी जितनी सन् १९२१ के बाद कभी भी नहीं हुई थी। वह घटना थी सायमन कमीशन, जिसे हिन्दुस्तान के राजनैतिक सुधारों की जांच करने के लिए नियुक्त किया गया था और जिसमें सब गोरे लोग ही थे। यह कमीशन ३–२–२८ को बम्बई आया। देशव्यापी हड़ताल एवं विरोधी सभाओं के द्वारा इसका स्वागत किया गया। कमीशन का विरोध करने के मामले में हिन्दुस्तान के लगभग सभी पक्ष पूरी तरह एकमत थे। इतना ही नहीं सभी ने उसके साथ असहयोग किया। बहिष्कार के कारण अकेले ही अपना काम पूरा करके १४–४–१९२९ को कमीशन वापस विलायत लौट गया। जिन दिनों वह यहाँ रहा उसने बड़े-बड़े शहरों का दौरा किया और लगभग सभी जगह जनता द्वारा जबरदस्त विरोधी प्रदर्शन किये गये। मद्रास, लाहौर, कलकत्ता आदि जगहों में प्रदर्शनकारियों पर लाठी-चार्ज किया गया। कहीं-कहीं पुलिस ने गोली भी चलाई।

इस कमीशन की नियुक्ति ने यह प्रकट कर दिया कि ब्रिटिश सरकार हिन्दुस्तानी लोकमत की उपेक्षा करती थी। जब हिन्दुस्तानियों की राजनैतिक आकांक्षाओं के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार की इतनी उदासीनता प्रकट हो गई तो कांग्रेस ने सीधे हमले के कार्यक्रम को अपनाने का निश्चय किया। इस बीच कांग्रेस ने पं० मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में हिन्दुस्तान में औपनिवेशिक स्वराज्य के ढंग पर विधान तैयार करने के लिए एक कमेटी की नियुक्ति की। सप्रू और जयकर जैसे प्रसिद्ध उदारदली नेता भी इस कमेटी में थे। सन् १९२८ के अन्त में लखनऊ में जो सर्वदल सम्मेलन हुआ उसमें इस समिति की रिपोर्ट पास कर ली गई। इस वर्ष कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। अधिवेशन में यह तय हुआ कि सर्वदल सम्मेलन द्वारा स्वीकृत विधान यदि पार्लियामेन्ट ने ३१ दिसम्बर १९३१ के पहिले ज्यों-का-त्यों मंजूर कर लिया तो कांग्रेस उसे मंजूर कर लेगी। इसके साथ ही यह भी घोषित किया गया कि यदि पार्लियामेन्ट ने इसे मंजूर नहीं किया तो असहयोग आन्दोलन शुरू करने के लिए बल्कि करबन्दी तक को अपनाने के लिए अथवा अन्य तरह से सविनय कानून भंग करने के लिए कांग्रेस स्वतन्त्र रहेगी। सन् १९३० के आन्दोलन के बीज बोने की शुरुआत इस प्रकार हुई।

सरकार ने इस प्रस्ताव पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। इसी वर्ष सायमन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। ब्रिटिश सरकार अपनी नीति पर कायम रही। ता० २३-२-२९ को अर्थात् लाहौर अधिवेशन के एक सप्ताह पहिले वाइसराय ने गांधीजी और पं० मोतीलाल नेहरू को मिलने के लिए बुलाया। इस मुलाकात की बातचीत में गांधीजी की इच्छा औपनिवेशिक स्वराज्य के प्रश्न पर कोई समझौता कर लेने की थी। गांधीजी ने वाइसराय से स्पष्ट रूप से पूछा था कि क्या आगामी गोलमेज-परिषद् का उद्देश्य हिन्दुस्तान को निश्चित रूप से तुरन्त औपनिवेशिक स्वराज्य देना है? लेकिन वाइसराय

गांधीजी को किसी प्रकार का भी वचन न दे सके। इस सम्बन्ध में सरकार ने जो गोलमोल घोषणा पहिले की थी, वाइसराय उससे आगे नहीं जा सके। इससे यह स्पष्ट हो गया कि ब्रिटिश राजनेता इस प्रश्न के सम्बन्ध में टालमटोल कर रहे हैं। अतः स्वभावतः ही लाहौर अधिवेशन में मुख्य प्रस्ताव पूर्ण स्वतन्त्रता पर ही केन्द्रित हो गया था। ३१ दिसम्बर १९२९ को कांग्रेस के ध्येय में 'स्वराज्य' के स्थान पर 'पूर्ण स्वराज्य' रख दिया गया। स्वातन्त्र्य संग्राम की पूर्व तैयारी करने के लिए धारा-सभाओं के कांग्रेसी सदस्यों को आदेश दिया गया कि वे उसकी सदस्यता से त्यागपत्र दे दें और लोगों से कहा गया कि वे चुनावों में भाग न लें। उसी प्रस्ताव में आगे कहा गया—"यह कांग्रेस जनता से अपील करती है कि वह रचनात्मक कार्यक्रम को निष्ठापूर्वक पूरा करे। जब उचित हो तब करबन्दी सहित सविनय कानून भंग करने का अधिकार अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को दिया जाता है।......" इस प्रकार सन् १९३० के सविनय कानून भंग आन्दोलन का विधिवत प्रारम्भ हुआ।

नई वर्किङ्ग कमेटी की बैठक २ जनवरी १९३० को हुई। केन्द्रीय असेम्बली के २१ तथा कौन्सिल आफ स्टेट के ९ सदस्यों ने स्तीफे दे दिये। प्रान्तीय धारा सभाओं के १७२ सदस्यों ने भी अपने स्तीफे दे दिये। समर्थन के रूप में यह प्रतिक्रिया सन्तोषजनक थी। वर्किङ्ग कमेटी ने निश्चय किया २६ जनवरी १९३० को सारे देश में स्वतन्त्रता दिवस मनाया जाय। उस दिन के लिए एक प्रतिज्ञा तैयार की गई और उसकी प्रतियां सब घर बाँटी गईं।

२५ जनवरी १९३० को वाइसराय ने केन्द्रीय धारासभा में जो भाषण दिया उसमें अनेक मुद्दों को स्पष्ट किया गया। उन्होंने बताया कि यद्यपि यह स्पष्ट कर दिया गया है कि औपनिवेषिक स्वराज्य हिन्दुस्तान का अन्तिम ध्येय है लेकिन उसे आज ही अमल में लाने का सरकार का इरादा नहीं है। इससे कांग्रेस ने जो नीति अपनाई वह

और भी समर्थनीय सिद्ध हो गई। गांधीजी ने अपनी ११ शर्तें पेश कीं और कहा कि ये शर्तें स्वतन्त्रता का सार है। उन्होंने कहा कि यदि ये मांगें मंजूर कर ली जाती हैं तो अवज्ञा आन्दोलन का प्रश्न ही नहीं उठेगा। लेकिन यदि ये साधारण-सी किन्तु महत्त्वपूर्ण मांगें मंजूर न की गईं तो कानून भंग का रास्ता पकड़ना पड़ेगा, यह बात भी उन्होंने कह दी। उन्होंने यह जाहिर किया कि दूसरे राष्ट्रों के लिए भिन्न-भिन्न मार्ग हो सकते हैं लेकिन हिन्दुस्तान के सामने तो केवल एक अहिंसात्मक असहयोग का ही मार्ग है।

अपार उत्साह के वातावरण में सारे हिन्दुस्तान में स्वतन्त्रता-दिवस मनाया गया। इससे गांधीजी को देश की असीम सुप्त शक्ति की कल्पना हुई। १४ फरवरी १६३० को साबरमती में वर्किङ्ग कमेटी की जो बैठक हुई उसमें गांधीजी को यह अधिकार दिया गया कि वे जो ठीक समझें उस रास्ते से सत्याग्रह आन्दोलन शुरू कर दें। वर्किङ्ग कमेटी ने इस समय एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त सामने रखा। उन्होंने निश्चय किया कि अहिंसा जिसकी जीवन-निष्ठा बन गई है उन्हींके हाथ में पूर्ण स्वराज्य के लिए किये जाने वाले आन्दोलन के सूत्र दिये जायं। थोड़े ही दिनों बाद मार्च १६३० में अहमदाबाद में अ० भा० कां० कमेटी की बैठक हुई और उसमें कानून भंग आन्दोलन करने का प्रस्ताव पास हुआ। इस समय तक गांधीजी अपने चुने हुए आश्रमवासियों के साथ दाण्डी के आधे रास्ते पर पहुँच चुके थे।

फरवरी में जब वर्किङ्ग कमेटी की बैठक हो रही थी तभी गांधीजी के मन में देश के लिए कलंक-रूप कानून को तोड़ने का विचार घूम रहा था। २ मार्च को गांधीजी ने अपना ऐतिहासिक पत्र वाइसराय के पास भेजा। इसमें उन्होंने हिन्दुस्तान के स्वराज्य का पक्ष पूरी तरह उपस्थित किया था और आगामी युद्ध की पार्श्वभूमि पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला था। वाइसराय की ओर से जल्दी ही गांधीजी को उत्तर भेजा गया लेकिन उसमें उन्होंने गांधीजी के रास्ते के प्रति अपनी

नापसन्दगी जाहिर की थी। किन्तु यह तो निश्चित-सा ही था। ७६ चुने हुए अनुयायियों को लेकर सूरत ज़िले के दाण्डी स्थान में पैदल जाने के लिए गांधीजी १२-३-३० को साबरमती से निकले। साबरमती से दाण्डी २०० मील है। इस अन्तर को २४ दिन में पूरा करके ६ अप्रैल के पहिले वहां पहुंच जाना था। ६ अप्रैल को गांधीजी प्रदर्शन के साथ नमक-कानून तोड़ने वाले थे। इसके पहिले किसीको भी उसे नहीं तोड़ना था; लेकिन इसके बाद तो यह अपेक्षा की जाती थी कि उसे सभी को तोड़ना चाहिए।

जैसे-जैसे दिन बीतने लगे और गांधीजी अपने मुकाम के पास पहुंचने लगे वैसे-वैसे देश में जाग्रति बढ़ने लगी और हजारों लोग शीघ्र ही आने वाले कष्ट, संकट और त्याग की तैयारी करने लगे। ५ अप्रैल १९३० को गांधीजी दाण्डी पहुँचे। दूसरे दिन उन्होंने एक मुट्ठीभर नमक उठाया और नमक-कानून भंग किया। बस फिर तो हिन्दुस्तान में लाखों लोगों ने उस दिन से नमक-कानून तोड़ना प्रारम्भ किया और उसके लिए उन्हें जो कुछ सज़ाएँ मिलीं उसे उन्होंने हँसते-हँसते सहन किया। दमन तो पहिले ही शुरू हो चुका था। अब तो लाठी और आर्डीनेन्स का राज्य शुरू होने वाला था। मार्च के पहिले सप्ताह में सरदार वल्लभभाई पटेल को गिरफ्तार करके तीन मास की सज़ा दी गई। गांधीजी के दाण्डी पहुँचने के पहिले बंगाल के सेनगुप्त पकड़ लिये गये। मेरठ-षड्यन्त्र का लम्बा मामला भी कई दिनों से लटकता आ रहा था। राजद्रोही भाषण और लेखों के लिए कितने ही लोग पकड़े जा चुके थे। स्वयं गांधीजी का भी यही ख्याल था कि वे भी न जाने कब पकड़ लिये जायंगे। इसीलिए उन्होंने हमेशा की भांति 'मैं गिरफ्तार हो गया तो ?' नामक लेख लिखकर लोगों को पहिले ही सारी सूचना दे दी थी। उन्होंने लोगों से प्रार्थना की थी कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन इसी प्रकार चालू रखा जाय और चाहे

रहते ही गांवों के लगभग २०० पटेलों ने अपने त्यागपत्र दे दिये।

सरकार का मानसिक सन्तुलन विगड़ता जा रहा था। राष्ट्रीय सप्ताह के दिनों पेशावर, मद्रास तथा अन्य कुछ स्थानों पर गोली चलाई गई। रत्नागिरी, पटना, शिरोड़ा, कलकत्ता, सोलापुर तथा और भी कितनी ही जगह पुलिस ने पाशवी व्यवहार किया। मद्रास इलाके में तो उन्होंने लोगों को पीटा। इसका यह अर्थ था कि कायदे-कानून को ताक में रखकर जो मन में आए वे पाशवी कृत्य लाठीचार्ज और बिना कायदे-कानून लोगों को सताने के काम में सरकार आगा-पीछा सोचने वाली नहीं थी। २३–४–३० को बंगाल आर्डीनेन्स की अवधि फिर बढ़ा दी गई। सन् १९१० का प्रेस ऐक्ट प्रेस आर्डीनेन्स निकाल कर फिर से शुरु कर दिया गया। गांधीजी का पत्र 'यंग इण्डिया' सायक्लोस्टाइल पर छपने लगा। गांधीजी ने लिखा कि आज सारे हिन्दुस्तान में एक तरह का फौजी शासन कायम हो गया है और सारा देश मानो एक बड़ा जेलखाना-सा बन गया है।

कारण कुछ भी हो लेकिन गांधीजी काफी अर्से तक गिरफ्तार नहीं किये गये। अतः कराड़ी में डेरा डालकर गांवों में खुलेआम नमक-क़ानून तोड़ने का प्रचार किया। इसके बाद उन्होंने वाइसराय को पत्र लिखकर यह बताया कि वे धारासना की नमक की खानों पर आक्रमण करके उसपर क़ब्जा करने वाले हैं। इस सम्बन्ध में उनका यह कहना था कि वह जनता की सम्पत्ति है। अतः नमक पर कर लगाने का सरकार को कोई अधिकार नहीं है। उनका विचार था कि लोगों को नमक मुफ्त मिलना चाहिए। उन्होंने लोगों को ताड़ी के पेड़ काटने की भी इजाजत दी और उन्होंने स्वयं ताड़ी के पेड़ पर कुल्हाड़ी का पहिला प्रहार किया। लोगों को यह कार्यक्रम खूब आकर्षक मालूम हुआ। कर्नाटक जैसे कुछ भागों में तो आगे चलकर वह नित्य का कार्यक्रम हो गया।

बाद में ४ मई १९३० को आधी रात के समय उन्हें अचानक ही यरवडा जेल में ले जाया गया। जबतक ५ तारीख को वे उसकी चार-दीवारी में सुरक्षित न पहुँचे तबतक बहुत कम लोगों को यह बात मालूम हुई। जाते-जाते उन्होंने यह सन्देश दिया—"दूसरों को बिना मारे मरो" यही उनका अन्तिम सन्देश था।

पूर्व योजना के अनुसार अब्बास तैयबजी ने लड़ाई का नेतृत्व स्वीकार किया और काम चालू रखा। लेकिन १२ मई को उन्हें पकड़ लिया गया। उनका स्थान सरोजिनी देवी ने लिया।

गुजरात, बम्बई, महाराष्ट्र और कर्नाटक की क्रमशः धारासना, वड़ाला, शिरोड़ा, साणीकट्टा की नमक की खानों पर आक्रमण किये जा रहे थे। खासकर धारासना के आक्रमण तो विदेशी संवाददाताओं तथा निष्पक्ष हिन्दुस्तानी निरीक्षकों ने प्रत्यक्ष रूप से देखे हैं। वहां के स्वयंसेवकों ने अपने रक्त से इतिहास के नये पृष्ठ लिखे हैं। धारासना और वड़ाला के अहिंसक आक्रमणों में स्वयंसेवकों ने जो अद्वितीय सहनशक्ति और अनुशासन दिखाया उसकी ब्रेल्सफोर्ड और स्लोकोंब जैसे प्रसिद्ध विदेशियों ने भी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। २१ मई को २५०० स्वयंसेवकों ने धारासना की नमक की खानों पर आक्रमण किया। वहाँ लाठीचार्ज में २९० व्यक्ति घायल हुए। इनमें से दो व्यक्ति कुछ दिनों के बाद मर गये। स्वयंसेवक तथा अन्य लोगों ने मिलकर जिनकी सख्या १५००० थी वड़ाला पर आक्रमण किया। इसमें लाठी-चार्ज से लगभग १५० व्यक्ति घायल हुए। साणीकट्टा में १० से १५ हजार व्यक्तियों की भीड़ ने नमक की खानों पर आक्रमण किया और सैकड़ों मन नमक पर कब्जा कर लिया। लेकिन इन सत्याग्रही आक्रमणों में महत्त्व इस बात का नहीं है कि उन्होंने कितनी चीजें अपने कब्जे में कीं बल्कि सच्चा महत्त्व तो इस बात का है कि जनता ने हिंसा या प्रतिहिंसा का प्रयोग किये बिना यह जानते हुए कि इसमें अपार कष्ट

सहन करने होंगे अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए निर्भयतापूर्वक खुलेआम प्रतिकार किया।

'न्यू फ्री मेन' पत्र के श्री वेबमिलर ने धारासना के बारे में निम्नलिखित बातें लिखी हैं—"अपने १८ वर्ष के संवाददाता-जीवन में मैंने धारासना जैसे हृदयहारी दृश्य नहीं देखे। कितनी ही बार तो वह दृश्य इतना दुःखद होता था कि मुझे उसकी ओर पीठ करनी पड़ती थी। इन सब घटनाओं में आश्चर्यजनक विशेषता थी स्वयंसेवकों का अनुशासन पालन। गांधीजी का अहिंसा का सिद्धान्त उनके रोम-रोम में समाया हुआ दिखाई दिया।" किसी प्रत्याघात या प्रतिहिंसा का ही नहीं बल्कि गाली-गलौज करने की भी कोई घटना नहीं हुई और यह सब लगातार चलता रहा।

यद्यपि लोगों ने आदर्श संयम का परिचय दिया और पूरी तरह अहिंसा का आचरण किया फिर भी त्याग करने और मातृभूमि के लिए अपना खून देने के लिए तैयार रहने वाले हजारों निश्चयी स्त्री-पुरुषों के साथ पुलिस और फौज ने बड़ा पाशवी व्यवहार किया। कितनी ही बार तो निरपराध दर्शकों के ऊपर भी जबरदस्त मार पड़ती थी और सैकड़ों लोग जख्मी हो जाते थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकारी यन्त्र कितने हृदयहीन हो गये, पुलिस और फौजी कितने पाशविक बन गये; अपने ही हाड़-मांस से बने हुए लोगों को सरकार कितनी निष्ठुरता से कत्ल कर सकती है और यदि श्री स्लोकोंब के शब्दों में कहें तो कितने 'हास्यास्पद' एवं ऊटपटांग व्यवहार में वह निर्दयतापूर्ण हो सकती है। इसके अलावा सरकार ने दस-बारह आर्डीनेन्स निकाले और उस वर्ष के अन्त तक सैकड़ों कांग्रेस कमेटियों को गैर-कानूनी करार दे दिया। इस प्रकार ब्रिटिश हुकूमत चल रही थी। सन् १६४० के आन्दोलन की शुरुआत से उसने लाठी-चार्ज का एक नया शस्त्र काम में लाना शुरू कर दिया था। सविनय अवज्ञा करने वाले को कानूनी दृष्टि से यदि कोई सजा हो सकती है तो वह है—जेल में

डाल देना। लेकिन कानून तोड़ने वालों की संख्या बहुत बड़ी होने के कारण सरकार को इस मार्ग का अवलम्बन करना अव्यावहारिक मालूम हुआ। अतः चूंकि दूसरी ओर से तनिक भी पाशवी शक्ति का प्रयोग नहीं किया जाता था, सरकार ने कम-से-कम शक्ति का प्रयोग करने के बहाने लाठी ढूंढ़ निकाली। लेकिन मजे की बात तो यह थी कि इस 'कम-से-कम' के प्रयोग से ही हर बार सैकड़ों आदमी जख्मी हो जाते थे और उनमें से कितने ही लोगों को तो कई बार इतनी जोर की चोट लगती थी कि वे बेहोश हो जाते थे। आन्दोलनों में हर जगह लाठी-चार्ज पुलिस का रोज का काम हो गया था; अतः कुल लाठी-चार्ज कितने हुए, इसका कोई हिसाब रखना भी अशक्य हो गया था।

भीड़ों पर गोली भी खुलेआम चलाई गई। दो महीनों में जो गोली-बार हुआ और उसमें जितने लोग जख्मी हुए, उसके खुद सरकारी आंकड़े इस प्रकार हैं—केन्द्रीय असेम्बली में श्री एस. सी. मित्र के प्रश्न का उत्तर देते हुए माननीय एच. जी. हेग ने एक वक्तव्य पेश किया (ले० अ० डिबेट १४-३-३०; ह्वा० ४ नं० ६, पृष्ठ २३७)। उसमें कहा गया कि केवल अप्रैल और मई के महीनों में १९ जगहों पर गोली चलाई गई और उसमें १११ व्यक्ति मारे गये तथा ४२२ जख्मी हुए। इसपर से पाठकों को इस बात की कल्पना अच्छी तरह हो सकती है कि इस अहिंसक आन्दोलन को बिल्कुल कुचलने के लिए कैसे-कैसे मार्ग का अवलम्बन किया गया।

अब तटस्थ लोगों ने समझौते के जो प्रयत्न किये उनका उल्लेख किये बिना कानून-भंग-सम्बन्धी यह प्रकरण समाप्त नहीं हो सकता। श्री स्लोकोंब का प्रयत्न बिलकुल असफल सिद्ध हुआ। उन्हें गांधीजी से भेंट करने की इजाजत मिल गई और वे गांधीजी से कुछ मसविदा लेकर वाइसराय के पास गये लेकिन वाइसराय के रुख से स्लोकोंब को बहुत निराशा हुई। इसके बाद श्रीसप्रू और श्रीजयकर ने जून और अगस्त महीनों में समझौतों के प्रयत्न किये। यह सिलसिला बहुत लम्बा

चला। नेहरू (पिता पुत्र) तथा वर्किंग-कमेटी के अन्य सदस्यों को गांधीजी से विचार विनिमय करने के लिए यरवडा लाया गया। लेकिन इस सबका कोई परिणाम नहीं निकला। श्रीसप्रू को लिखे हुए २३-३-३० के अपने अन्तिम पत्र में वाइसराय ने कहा—"मुझे स्पष्ट रूप से यह कह देना चाहिए कि (कांग्रेसी नेताओं के) पत्रों की बातों के आधार पर चर्चा करना मुझे असम्भव प्रतीत होता है।" इसके थोड़े ही दिन बाद श्रीहोरेस अलक्जेंण्डर ने वाइसराय और गांधीजी दोनों से मुलाकात की लेकिन उसका भी कोई नतीजा नहीं निकला।

लेकिन गोलमेज परिषद् की योजना जोर-शोर से कार्यान्वित की गई थी। उसकी पहिली बैठक १२-११-३० को लन्दन में हुई। ५७ सरकार द्वारा नियुक्त, १६ देशी नरेशों द्वारा नियुक्त और १३ इंग्लैण्ड के अलग-अलग पक्षों के प्रतिनिधियों ने इकट्ठे होकर प्रारम्भिक चर्चा की। यह चर्चा जनवरी के तीसरे सप्ताह तक चालू रही। गोलमेज परिषद् के अधिवेशन के समाप्त होने के एक सप्ताह के अन्दर गांधीजी और उनके करीब-करीब २६ साथी एकाएक २६ जनवरी को मुक्त कर दिये गये। इसके बाद समझौते की बातचीत शुरू हुई जिसका अन्त ५-३-३१ को गांधी-इरविन पैक्ट के रूप में हुआ।

गांधीजी के मुक्त होने के थोड़े ही दिन पहिले राजेन्द्र बाबू के सभापतित्व में इलाहाबाद में वर्किंग कमेटी की बैठक हुई और उसमें 'अप्रकाशित प्रस्ताव' पास किया गया। उसमें अन्य बातों के साथ-साथ सरकार के लाठी-राज्य का संक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया गया है—"लगभग ७५००० निरपराध स्त्री-पुरुषों की गिरफ्तारी, बिना सोचे-विचारे किये हुए अनेक अमानुषिक लाठी-चार्ज, गिरफ्तारी के बाद पुलिस-हवालात तक में दी गई अनेक यातनाएं, गोली-बारी से सैकड़ों लोगों की मृत्यु और अपंगपन, माल-असबाब की लूट, घरबार का जलाया जाना, सशस्त्र पुलिस और अंग्रेज घुड़ सवार सैनिकों का ग्रामों में दौर-दौरा, सभा-जुलूसों को बन्द करके कांग्रेस तथा उसके जैसी

अन्य संस्थाओं को गैरकानूनी करार देना तथा उनकी चल सम्पति जब्त कर लेना तथा उनके दफ्तरों और घरों पर कब्जा करके उनके भाषण-स्वातन्त्र्य व संघ-स्वातन्त्र्य के अधिकारों का अपहरण आदि बातें बताई जा सकती हैं।" यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि जब ये सब बातें हिन्दुस्तान में चल रही थीं तब इंग्लैण्ड में मजदूर-सरकार शासन कर रही थी और श्रीरेम्से मेक्डानल्ड उसके प्रधान-मन्त्री थे।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि गांधीजी और इरविन की पारस्परिक प्रेम-भावना के कारण ही यह समझौता सफल हुआ; लेकिन बाद में यह स्पष्ट हो गया कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को हिन्दुस्तान को और भी कष्टों में डाले बिना सीधे-साधे इस प्रश्न का सुलझाना मंजूर नहीं था। चाहे किसी दल का शासन क्यों न हो, ब्रिटिश सरकार वास्तविक सत्ता छोड़ना नहीं चाहती थी। गांधी-इरविन पैक्ट कांग्रेस तथा उसके अहिंसा सिद्धान्त की नैतिक विजय थी। इससे नमक-कानून तथा देश में कांग्रेस के स्थान के सम्बन्ध में कुछ कानून बने लेकिन उसके अलावा राजनैतिक क्षेत्र में हिन्दुस्तान को कोई लाभ नहीं मिलने दिया गया। उल्टे इससे ज्यादा प्रतिकूल परिस्थितियों में हिन्दुस्तान पर जल्दी ही एक और लड़ाई लाद दी गई।

सारी स्थिति का सिंहावलोकन करके हमें मालूम होता है कि यह आन्दोलन ४-३-३० से ४-३-३१ तक पूरे एक वर्ष चलता रहा। सारे हिन्दुस्तान ने यह जबरदस्त लड़ाई चालू रखी और बदले या प्रतिहिंसा की कल्पना स्वप्न में भी न करके अकथनीय मुसीबतें और हानियां हँसते-हँसते सहन कीं। दूसरी ओर आधुनिक शस्त्रास्त्रों से लैस ब्रिटिश सरकार ने अलबत्ता आर्डीनेन्स, लाठी-चार्ज तथा दमन के अन्य तरीकों से हिन्दुस्तान की सारी हिम्मत ही कुचल देने का मंसूबा बांधा था। कितने ही मौकों पर पुलिस और फौजी सिपाहियों ने साधारण सौजन्य तक नहीं दिखाया, फिर उदारता की तो बात ही क्या? इस लड़ाई में पहिली बार स्त्रियों ने बड़ी निर्भयता से और दिल खोलकर भाग

लिया, जिसमें हजारों गिरफ्तार की गईं; उनपर लाठी-चार्ज किया गया और उन्हें कठोर व्यवहार का मुकाबला करना पड़ा। उनमें से कई को तो जंगल में ले जाकर कुसमय में वहां छोड़ दिया गया।

नमक-कानून को सविनय भंग करना नमक की खानों पर अहिंसक आक्रमण करना, आर्डीनेन्सों का उल्लङ्घन करना, हिन्दुस्तान के कुछ हिस्सों में करबन्दी, प्रेस-एक्ट को सविनय भंग करना, विदेशी कपड़े तथा अन्य चीजों का बहिष्कार (उसमें भी ब्रिटिश कपड़े तथा अन्य माल का बहिष्कार) सरकार से आम असहयोग, धारासभाओं का बहिष्कार—ये सब लड़ाई में प्रयुक्त सत्याग्रह के मुख्य स्वरूप थे। इस सम्बन्ध में सरकार की तथा सरकारी दमन के साधनों की जो प्रतिक्रिया हुई वह ऊपर बताई ही जा चुकी है। इन सबकी परिणति नैतिक विनय में हुई जिसके कारण लोगों के मन में अपने लिए तथा सत्याग्रह-शस्त्र के सम्बन्ध में विश्वास पैदा हुआ। आन्दोलन के अन्त में जो समझौता हुआ उससे कांग्रेस के लिए गोलमेज परिषद् में शामिल होने का रास्ता खुल गया।

: २३ :

कानून-भंग का पुनरुत्थान

यद्यपि यह चौथा अखिल भारतीय सत्याग्रह था तथापि वास्तव में तो इसे ६ मास की शान्ति के बाद पुनः शुरू होने वाला तीसरा सत्याग्रह ही कहना चाहिए।

यदि हिन्दुस्तान की सरकार के फौलादी पंजे ने और लन्दन के ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने ५-३-३१ के गांधी-इरविन पैक्ट का सच्चे हृदय से पालन किया होता तो उसे हिन्दुस्तान के इतिहास में ही नहीं बल्कि सत्याग्रह के इतिहास में एक महत्त्व का स्थान प्राप्त हुआ होता। लेकिन

दुर्भाग्य से होनहार ऐसा नहीं था। अभी समझौते की स्याही सूखने भी न पाई थी कि उसे भंग करने की शुरुआत हो गई।

१७ अप्रैल १९३१ को लार्ड विलिंग्डन हिन्दुस्तान के वाइसराय होकर आये और १८ अप्रैल १९३१ को लार्ड इरविन हिन्दुस्तान से विदा हुए और करीब-करीब उसी समय से जल्दी ही दोनों पक्षों की ओर से शिकायतें शुरू हो गईं। जहाँ सरकारी कर्मचारी समझौता भंग करते हुए दिखाई दिये वहाँ काँग्रेस के कार्यकर्त्ताओं ने उच्च अधिकारियों और काँग्रेसी नेताओं के पास शिकायतें कीं। कभी-कभी थोड़ी-बहुत सुनवाई हुई; लेकिन जब स्थानीय अधिकारियों को ऐसा लगा कि काँग्रेस के कार्यकर्त्ताओं की ओर से समझौता भंग किया जा रहा है तो उन्होंने उच्च अधिकारियों या काँग्रेसी नेताओं के पास जाने के बजाय सीधी कानूनी कार्रवाई करना शुरू कर दिया। यद्यपि काँग्रेस ने अपनी सविनय कानून भंग की तलवार म्यान में रख ली थी तथापि सरकार ने समझौते की कोई परवाह न करके कानूनी कार्रवाई करने का अधिकार जारी रखा। गन्तूर, वेदपल्ली और बड़ापल्ली आदि स्थानों पर लाठी-चार्ज, गोलीबारी आदि बातें भी चल ही रही थीं। विद्रोह या हिंसा की उत्तेजना न देने पर भी बीच-बीच में भाषण और लेखों के लिए मुकद्दमे चलाये जा रहे थे।

इन सब बातों के होने पर भी वाइसराय से गांधीजी की जो अन्तिम मुलाकात ४-३-३१ को हुई उसके बाद बारडोली में पुलिस की सहायता से जो ज्यादा कर वसूल करने का आरोप किया गया उसकी जांच का आश्वासन प्राप्त करके गांधीजी कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में गोलमेज परिषद् में सम्मिलित होने के लिए १९-८-३१ को इंग्लैण्ड रवाना हुए। लेकिन बारडोली के अतिरिक्त और कहीं के भी मामले की जांच करने से वाइसराय ने इन्कार कर दिया। वस्तुतः गांधीजी ने समय-समय पर उपस्थित होने वाले प्रश्नों को सुलझाने तथा समझौतों का अर्थ लगाने के लिए एक समझौता समिति बना देने

की सूचना कर दी थी। उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि गांधी-इरविन पैक्ट एक समझौता है। अतः यदि उसकी किसी धारा का अर्थ लगाने में मतभेद हो जाय या कहीं समझौता भंग हो जाय तो इस प्रश्न को केवल पंच के सामने रखने का उपाय ही शेष रहता है। लेकिन सरकार ने इस भूमिका को मंजूर नहीं किया। कांग्रेस को बराबरी का दर्जा देने के लिए सरकार तैयार नहीं थी। और इस बात को भी स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी कि कांग्रेस सरकार और जनता के बीच का माध्यम है। सारे प्रश्नों के मूल में यही बात थी। यदि पंच-फैसले की बात मूल समझौते में ही होती तो कितना अच्छा होता।

जांच करने का जो आश्वासन दिया था वह भी आखीर तक पूरा नहीं किया गया क्योंकि सरदार वल्लभभाई पटेल ने १२-१-३१ से अपना सहयोग उससे हटा लिया। जांच करने के लिए जिस अधिकारी को नियुक्त किया गया था उसने तत्सम्बन्धी आवश्यक कागज-पत्र मंगवाने से इन्कार कर दिया। अतः जांच से हट जाने के अलावा कोई रास्ता नहीं था। सरदार वल्लभभाई और भूलाभाई देसाई ने ऐसा ही किया।

कांग्रेस की दृष्टि से गोलमेज परिषद् पूरी तरह असफल हुई। परिषद् में न तो स्वतन्त्रता की मांग मंजूर की गई और न कांग्रेस का सारे राष्ट्र की ओर से बोलने का अधिकार ही मान्य किया गया। इसी प्रकार गांधीजी हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न का भी कोई हल नहीं निकाल सके। क्योंकि जबतक सरकार कांग्रेस की अपेक्षा ज्यादा देने का लालच दिखाने के लिए तैयार थी तबतक गांधीजी करते भी क्या? निराश होकर वे तारीख २८-१२-३१ को लौट आये।

हिन्दुस्तान में भी निराशा ही उनके स्वागत के लिए तैयार बैठी थी। बंगाल में तो आर्डिनेन्स का राज्य शुरू हो गया था। २४ दिसंबर १९३१ को संयुक्तप्रान्त और सीमाप्रान्त में भी आर्डिनेन्स जारी कर

दिये गये। मानो यह बड़े दिन की भेंट हो। पं० जवाहरलाल नेहरू और खान अब्दुलगफ्फारखां को पकड़ लिया गया था। भिन्न-भिन्न प्रान्तों की सरकारों ने दमन करने के लिए जो-जो योजनाएं बनाई थीं उनका तो यहां उल्लेख न करना ही अच्छा है।

जिस दिन गांधीजी ने हिन्दुस्तान में पैर रखा उसी दिन से वर्किंग कमेटी की बैठक शुरू हुई और वह २ जनवरी १९३२ तक चलती रही। ता० २८-१२-३१ को गांधीजी ने वाइसराय को तार दिया और मिलकर बातचीत करने की इजाजत देने के लिए संक्षेप में प्रार्थना की। इस तार का जो उत्तर मिला वह ज्यादा आशाजनक नहीं था। ३१-१२-३१ को वाइसराय ने जो उत्तर दिया उसका आशय यह था कि आर्डीनेन्स शुरू करने के प्रश्न पर पर्दा पड़ चुका है, ऐसा समझ लिया जाय। हां, दूसरी बातों के सम्बन्ध में बातचीत करने की इजाजत दे दी गई। पहिली जनवरी १९३२ को गांधीजी ने वाइसराय को दुबारा तार देकर बताया कि भारत सरकार के वर्तमान मनमाने उच्छृङ्खल कृत्यों के सामने घटना-सम्बन्धी प्रश्नों को गौण स्थान प्राप्त हो रहा है। उस तार में उन्होंने यह भी चेताया था कि वाइसराय ने अपने तार पर पुनर्विचार करके आर्डीनेन्सों के कुछ कृत्यों के सम्बन्ध में उचित सहूलियत देने की तैयारी नहीं दिखाई और आगे समझौते के अवसर पर कांग्रेस को अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग रखने का पूरा मौका नहीं दिया गया। इसी प्रकार जबतक पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं मिलती और जबतक देश का शासन जनता के प्रतिनिधियों की सलाह से नहीं चलाया जाता तबतक उन्हें देश को फिर से सविनय कानून-भंग शुरू करने की सलाह देनी पड़ेगी।

३१–१२–३१ की रात को कांग्रेस वर्किङ्ग कमेटी की बैठक हुई जिसमें उपर्युक्त आशय का प्रस्ताव पास किया गया और सरकार द्वारा कांग्रेस की मांगें ठुकराई जाने पर राष्ट्र को करबन्दी सहित दूसरे प्रकार के सविनय क़ानून भंग करने का भी आदेश दिया गया।

अहिंसा पर खास जोर दिया गया। प्रस्ताव इस प्रकार है—जबतक जनता को अहिंसा का महत्त्व मालूम नहीं होता और जबतक वह धन-जन एवं अन्य किसी प्रकार की मुसीबत उठाने के लिए तैयार नहीं होती तबतक कोई भी प्रान्त, जिला, ताल्लुका या गांव सविनय कानून-भंग शुरू नहीं कर सकता। हमारी लड़ाई बदला लेने या अपने ऊपर अत्याचार करने वालों को पीड़ा देने के लिए नहीं है, बल्कि कष्ट-सहन एवं आत्मशुद्धि के द्वारा उनका हृदय-परिवर्तन करने के उद्देश्य से शुरू हुई है। चाहे सरकार की ओर से भड़काने का कितना ही प्रयत्न क्यों न किया जाय हमें इस बात को समझकर मनसा-वाचा-कर्मणा से अहिंसा का पालन करना चाहिए। सरकारी अधिकारी, पुलिस या अराष्ट्रीय लोगों को परेशान करने के उद्देश्य से उनका सामाजिक बहिष्कार न किया जाय। वैसा करना अहिंसा की कल्पना से बेमेल होगा।

वाइसराय ने २ जनवरी १९३२ को पत्र का जवाब देकर गांधीजी पर क़ानून-भंग आन्दोलन शुरू करने की धमकी देने का आरोप लगाया। गांधीजी ने फिर ३ जनवरी को जो उत्तर दिया उसमें लिखा कि प्रामाणिक मत-प्रदर्शन को किसी भी प्रकार धमकी नहीं कहा जा सकता। अवज्ञा आन्दोलन जारी रहते हुए भी दिल्ली में समझौते की बातचीत शुरू हो गई और जब समझौता हो गया तो सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित कर दिया गया। लेकिन कभी भी वह पूरी तरह वापस नहीं लिया गया। उन्होंने आग्रहपूर्वक इस बात का प्रतिपादन किया कि अपने प्रस्थान के समय ही मैंने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि विशेष परिस्थितियों में अवज्ञा आन्दोलन फिर से शुरू करना पड़ेगा। फिर भी बिना किसी प्रकार की रुकावट के मुझे इंग्लैण्ड जाने की इजाजत दे दी गई थी।

लेकिन गांधीजी की यह भूमिका नहीं मानी गई। दिल्ली में सम्भवतः पहिले से ही सब तैयारियां थीं। ४ जनवरी के दिन सुबह

गांधीजी और सरदार वल्लभभाई पटेल को गिरफ्तार कर लिया गया। सैकड़ों कांग्रेस कमेटियां, राष्ट्रीय पाठशालाएं, किसान कमेटियां, सेवादल तथा इसी प्रकार की अन्य संस्थाएं गैरकानूनी करार दे दी गईं; उनपर कब्जा कर लिया गया। उनकी चीजें और सम्पत्ति जब्त कर ली गईं और बाद में नीलाम कर दी गईं। अनुमान है कि सारे हिन्दुस्तान में लगभग १५००० कांग्रेसियों को नजरबन्द कर दिया गया। उनके आर्डीनेन्स जारी किये गये। फिर लाठी-चार्ज और गैरकानूनी कानून, अर्थात् आर्डीनेन्स का राज्य चालू हो गया और थोड़े ही समय में देश की जेलें खचाखच भर गईं। एक लाख से भी ज्यादा लोग पकड़े गये। उनसे तिगुने या चौगुने लोगों को लाठियों और डण्डों का प्रसाद मिला होगा। इस प्रकार अहिंसक और संगठित प्रतिकार का प्रयत्न असफल करने का जी-जान से प्रयत्न किया गया। सन् १९३०-३१ की बातों की ही सन् १९३२-३३ में पुनरावृत्ति हुई। अन्तर इतना ही था कि इस बार की लड़ाई अधिक तीव्र और गंभीर थी। लड़ाई अपने परमोच्च शिखर पर पहुंची भी जल्दी ही। गुजरात के रास और कर्नाटक के अंकोला और सिद्दापुर के भागों को जहां कि करबन्दी-आन्दोलन शुरू किया गया था काफी कष्ट सहन करना पड़ा। इस बार का दमन सन् १९३०-३१ की अपेक्षा अधिक क्रूर एवं संगठित था।

एक प्रकार से १९३२-३४ का आन्दोलन सन् १९३०-३१ के आन्दोलन का ही एक भाग होने के कारण दोनों आन्दोलनों की कितनी ही बातें समान थीं।

देश की परिस्थिति को नवीन चैतन्य देने वाले सितम्बर १९३२ के गांधीजी के उपवास की ओर मुखातिब होने के पहिले यह देख लेना अधिक उद्बोधक सिद्ध होगा कि सन् १९३० और ३२ का आन्दोलन किस प्रकार चलाया गया और उसमें सत्याग्रह के किस-किस स्वरूप का अवलम्बन किया गया।

सन् १६३० में पकड़े जाने पर लड़ाई का नेतृत्व अब्बास तैय्यबजी को सौंपकर गांधीजी ने भावी सूत्र संचालक नियुक्त करने की जो पद्धति शुरु की वह अन्त तक चलती रही। यह भी तय हो गया कि वर्किङ्ग कमेटी के सदस्यों के जेल चले जाने पर वे यह बता दें कि उनकी जगह किसको नियुक्त किया जाय। इस प्रकार गांधी-इरविन पैक्ट तक तीन बार बनी हुई वर्किङ्ग कमेटी के सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया गया था। सरकार ने कमेटियों को गैरकानूनी करार देकर, महत्वपूर्ण कार्यकर्त्ता एवं पदाधिकारियों को गिरफ्तार करके कांग्रेस के रुपये-पैसे एवं प्रान्त और जिले की ही नहीं ग्रामों की कांग्रेस कमेटियों के आफिस और इमारतों को भी अपने कब्जे में लेकर कांग्रेस के संगठन को नष्ट-भ्रष्ट करने का प्रयत्न करके देख लिया। वर्किङ्ग कमेटी के उदाहरण का अनुकरण सभी जगह के लोगों ने किया। जहां-तहां सर्वाधिकारियों (डिक्टेटरों) के नाम पहिले से ही निश्चित हो गये थे और एक के गिरफ्तार होते ही दूसरा उसका स्थान लेने के लिए आगे आ जाता था। कितने ही शहरों में तो सर्वाधिकारियों की शृङ्खला ६० तक पहुँच गई।

लेकिन एक बात स्पष्ट थी कि नये व्यक्तियों को कांग्रेस की नीति में परिवर्तन करने का कोई अधिकार नहीं था। उन्हें तो केवल आन्दोलन को चलाते रहना था। नीति निश्चित करने या समझौते की बात-चीत चलाने का अधिकार केवल वास्तविक वर्किङ्ग कमेटी को ही था।

यह था सर्वाधिकारी नियुक्त करने का साधारण तरीका। लेकिन उसका प्रत्यक्ष व्यवहार किस प्रकार होता था? आफिस के लिए स्थान तो था ही नहीं, अतः कितनी ही बार कांग्रेस का सारा दफ्तर व्यक्ति की जेब में रहता था और वह पुलिस के हाथ नहीं लगता था। अधिकृत खबरें ही प्रकाशित की जाती थीं और खतरा उठाने के लिए तैयार छापाखानों के द्वारा या बहुत हुआ तो सायक्लोस्टाइल के द्वारा सूचनाएं प्रकाशित की जाती थीं। पत्रों और तारों पर पुलिस की नजर

रहने से व्यक्तियों के द्वारा संदेश भेजने का ही तरीका अधिक पसन्द किया जाता था। अतः कई छापाखाने, सायक्लोस्टाइल और सन्देश-वाहक रखने पड़ते थे। लेकिन यह सब अपरिहार्य था।

गांधीजी की गिरफ्तारी के बाद मई १९३० में वर्किङ्ग कमेटी की बैठक हुई और आन्दोलन का क्षेत्र अधिक व्यापक कर दिया गया। जनता को विदेशी कपड़ों के बहिष्कार का आन्दोलन सफल बनाने का आदेश दिया गया। इसी प्रकार करबन्दी और चौकीदारी कर न देने का आदेश भी दिया गया। जङ्गलों के आसपास रहने वाले लोगों के हित की दृष्टि से यह भी निश्चित हुआ कि जङ्गल-सम्बन्धी कानून तोड़े जांय। ब्रिटिश बैंक, नौकानयन व बीमा कम्पनियों का व्यावहारिक बहिष्कार प्रभावशाली ढंग से करने की भी हिदायत दी गई। २७-६-३० को इलाहाबाद में वर्किङ्ग कमेटी की जो बैठक हुई उसमें सरकारी अधिकारियों एवं राष्ट्रीय आन्दोलन को खुलेआम दबाने का प्रयत्न करने वाले लोगों का कड़ा सामाजिक बहिष्कार करने का आदेश दिया गया। लेकिन बाद में गांधीजी ने इसपर अपनी नापसन्दगी जाहिर की। जनता से कहा गया कि वह न तो सरकारी बॉन्ड बेचे, न नये खरीदे। इसी प्रकार कागजी नोट एवं चांदी के सिक्कों को स्वीकार न करके जहां तक सम्भव हो सोने के द्वारा विनिमय चालू करने को कहा गया। कमेटी ने यह भी घोषित किया कि पुलिस और सैनिकों का यह कर्तव्य है कि वे जनता के विरुद्ध अन्यायपूर्ण नीति का अवलम्बन करने में सरकार की मदद न करें।

आइये, ३१-१२-३१ को पास होने वाले वर्किङ्ग कमेटी के उस प्रस्ताव पर नजर डालें जिसके द्वारा सन् १९३२-३४ का सत्याग्रह शुरू किया गया था। उसमें अहिंसा पर इतना ज़ोर दिया गया था जितना कि पहिले कभी भी नहीं दिया गया था। विदेशी कपड़ों के बहिष्कार को बन्धनकारक समझकर शराब तथा अन्य मादक पदार्थों के बहिष्कार पर जोर दिया गया था। खासकर स्त्रियों को इसे सफल

करके दिखाना था। यह कहा गया कि केवल चुने हुए अथवा ऐसे ही व्यक्तियों को इसमें लिया जाय जो जुलूस अथवा सभा के रोक दिये जाने पर गोली या लाठी खाने को तैयार हों। जुल्मी कानूनों एवं आर्डीनेन्सों की अन्यायपूर्ण आज्ञा को तोड़ने की सलाह दी गई।

इस प्रस्ताव के अनुसार जैसा कि पहिले बताया जा चुका सैकड़ों प्रकार से नमक-कानून तोड़ा गया। सारे आर्डीनेंस खुलेआम भंग किये गये और उसके लिये जो भी सजा दी गई उसे खुशी-खुशी सहन किया गया। जाप्ता फौजदारी की १४४ धारा जैसी स्थानीय अधिकारियों द्वारा लगाई हुई पाबन्दियां तोड़ दी गईं। कुछ स्थानों में तो लगान बन्दी के साथ आय-करबन्दी का आन्दोलन भी शुरू कर दिया गया। कुछ स्थानों में चौकीदारी-कर देने से भी इन्कार कर दिया गया और उसके जुर्माने के रूप में लगाये गये कर देने से भी इन्कार कर दिया गया। बड़े-बड़े समूहों ने जंगल के कानून तोड़े। ताड़ी के हजारों वृक्ष काट डाले गये। सभाएँ न करने के कानून को तोड़कर झण्डा-दिवस, गांधी-दिवस, मोतीलाल-दिवस, शहीद-दिवस, सोलापुर-दिवस, स्वातन्त्र्य-दिवस, सीमाप्रान्त-दिवस, गढ़वाल-दिवस तथा इसी प्रकार के अन्य दिवस मनाये गये। नमक-भण्डार तथा सरकार द्वारा कब्जे में ले लिये गए कांग्रेस भवनों पर भी आक्रमण किये गये। प्रतिबन्ध लगा दिये जाने पर भी अप्रैल सन् १९३२ में दिल्ली में और अप्रैल १९३३ में कलकत्ता में कांग्रेस के दो अधिवेशन हुए।

आइये, अब आन्दोलन की घटनाओं की ओर मुड़ें। १२-९-३२ को अचानक यह खबर सारे देश भर में फैल गई कि गांधीजी साम्प्रदायिक निर्णय के प्रश्न पर आमरण अनशन कर रहे हैं। इस साम्प्रदायिक निर्णय के अनुसार १७-८-३२ को हरिजनों को भी पृथक निर्वाचन का अधिकार देने की घोषणा की गई। इस खबर ने देश की हलचल की दिशा ही बदल दी। २०-९-३२ को उपवास शुरू हुआ और पूना पैक्ट पर हस्ताक्षर हो जाने के बाद फिर से हरिजनों को

संयुक्त निर्वाचन में सम्मिलित करके २६ दिनों के बाद वह समाप्त हुआ।

सविनय कानून भंग चल ही रहा था; लेकिन उसके साथ-ही-साथ अस्पृश्यता-निवारण की ओर कांग्रेसियों का ध्यान अधिकाधिक आकर्षित होने लगा। ता० ६-४-३३ को एक विज्ञप्ति प्रकाशित होने के कारण कांग्रेस के अस्थायी अध्यक्ष बाबू राजेन्द्रप्रसाद को गिरफ्तार कर लिया गया। उस विज्ञप्ति में उन्होंने जनता से लड़ाई चालू रखने के लिए कहा था। इसके बाद बहुत समय तक श्री० अणे अध्यक्ष के रूप में काम करते रहे।

इसके बाद मई मास में फिर आत्मशुद्धि के लिए गांधीजी ने २१ दिन का उपवास शुरू किया। सरकार ने उसी समय उन्हें छोड़ दिया। तुरन्त ही छः सप्ताह तक आन्दोलन स्थगित कर दिया गया। बाद में यह अवधि तीन सप्ताह तक और बढ़ा दी गई। अन्त में १२-७-३३ को पूना में प्रमुख कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं की बैठक हुई जिसमें निश्चित हुआ कि सामूहिक सविनय कानून भंग स्थगित कर दिया जाय और व्यक्तिगत कानून भंग ही शुरू रखा जाय।

ज्यादा-से-ज्यादा त्याग के प्रतीक के रूप में गांधीजी ने अपना आश्रम छोड़ दिया और व्यक्तिगत सत्याग्रह करने के लिए ३४ चुने हुए आश्रमवासियों को साथ लेकर रास नामक ग्राम की ओर प्रस्थान करने का विचार प्रकट किया। उनको गिरफ्तार कर लिया गया और उस गांव को छोड़ देने की पाबन्दी लगाकर छोड़ दिया गया। लेकिन जब उन्होंने इस पाबन्दी को मानने से इन्कार कर दिया तो उसी समय उन्हें फिर पकड़ लिया गया और एक वर्ष की सजा दे दी गई, जब जेल में हरिजन-कार्य चलाने के लिए उन्हें कुछ सहूलियतें देने से इन्कार कर दिया गया तो उन्होंने उपवास शुरु कर दिया। इससे अगस्त के तीसरे सप्ताह में उन्हें छोड़ा गया। जैसे ही वे जेल से छूटे उन्होंने सजा की शेष अवधि में अपनी इच्छा से ही राजनीति में भाग न लेने का

निश्चय किया और नवम्बर तक हरिजन-कार्य के लिए हिन्दुस्तान का दौरा किया।

अन्त में ७ अप्रैल १९३४ को गांधीजी ने व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन भी स्थगित करने का निर्णय प्रकट किया। वह अधिकार उन्होंने सिर्फ अपने लिए ही सुरक्षित रखा। उस समय तक जनता में किसी भी प्रकार के सविनय अवज्ञा आन्दोलन के लिए उत्साह शेष नहीं रहा था। १८ मई १९३४ को पटना में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में गांधीजी के निर्णय को स्वीकार कर लिया गया। उसी समय स्वराज्यदल का पुनःसङ्गठन करके केन्द्रीय धारा-सभा के चुनाव लड़ने का निश्चय किया गया। इस प्रकार जबतक सन् १९४० में फिर से सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू नहीं हुआ तब-तक कांग्रेस की शक्ति रचनात्मक कार्यक्रम एवं धारासभा के काम पर ही केन्द्रित रही।

: २४ :

व्यक्तिगत सत्याग्रह

अब हम यह देख चुके हैं कि पहिले चार-सत्याग्रहों का उद्देश्य अधिकाधिक व्यापक होता गया। साथ ही उन-उन मौक़ों और प्रसंगों के अनुसार सत्याग्रह के स्वरूप में भी परिवर्तन होता गया। यदि १९१९ के सत्याग्रह का उद्देश्य एक खास अपमानजनक कानून रद्द करवाना था तो दूसरे आन्दोलन का उद्देश्य था—पञ्जाब एवं खिलाफत-सम्बंधी अन्याय को दूर करवाना। तीसरे और चौथे सत्याग्रह का—चौथा सत्याग्रह तीसरे का ही एक अंग था—प्रत्यक्ष ध्येयपूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना था। व्यक्तिगत सत्याग्रह का स्वरूप अलबत्ता पूरी तरह स्वतन्त्र था क्योंकि उसे गुण-प्रधान सत्याग्रह कह सकते हैं। इंग्लैण्ड की जीवन-मरण की लड़ाई और सरकार को संकट के समय मुसीबत में

न डालने की कॉंग्रेस की साधारण नीति—इन दोनों बातों को सामने रखकर इस सत्याग्रह का स्वरूप निश्चित किया गया। इसे व्यक्तिगत सत्याग्रह इसीलिए कहा जाता है कि सत्याग्रह की प्रत्येक बात केवल व्यक्तिगत जुम्मेदारी के साथ की गई। इसे गुणप्रधान सत्याग्रह इसलिए कह सकते हैं कि विशेष गुण वाले व्यक्तियों को ही सत्याग्रह के लिए चुनकर बाकी लोगों को छोड़ दिया गया था। जनता के सारे प्रतिनिधियों को, फिर चाहे वे धारासभा में हों, स्थानीय संस्थाओं में हों, कांग्रेस कमेटियों में हों, सत्याग्रह करने के लिए कहा गया और उन्होंने वैसा किया भी। अतः इसे 'प्रतिनिधिक सत्याग्रह' भी कहा जा सकता है।

१५-६-४० को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में आन्दोलन प्रारम्भ करने के लिए जो प्रस्ताव पास हुआ वह इस प्रकार है—"कांग्रेस-जनों के मन में ब्रिटिश लोगों के प्रति दुर्भावना नहीं होनी चाहिए। सत्याग्रह के मूल में जो कल्पना है वह कोई काम करने से कॉंग्रेस को रोकती है। लेकिन यह मर्यादा जो कि कॉंग्रेस ने स्वयं अपने लिए बनाई है इस हद तक नहीं जा सकती कि जिससे कांग्रेस का ही आत्मघात हो जाय। सम्पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए अहिंसा पर आधारित अपनी नीति का समर्थन कॉंग्रेस को दृढ़ता से करना चाहिए। तथापि प्रतिकार की आवश्यकता पड़ने पर जनता के नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिए आवश्यकता से अधिक अहिंसक प्रतिकार की व्यापकता फैलाना आज की परिस्थिति में कांग्रेस नहीं चाहती।"

यह प्रश्न हमेशा किया जाता है कि जो गांधीजी हमेशा ब्रिटेन को कठिनाई में बिल्कुल न डालने की बात कहते हैं, उन्होंने ही ब्रिटिश लोगों को थोड़ी-बहुत मुसीबत में डालने वाले इस प्रस्ताव का प्रचार कैसे किया? इस प्रश्न का उत्तर गांधीजी ने बम्बई की अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में दिये हुए अपने भाषण में दे रखा है। वे कहते हैं कि राह देखते रहने का गुण ही दुर्गुण की सीमा तक पहुँचता जा रहा है। ब्रिटिश

सरकार को भिन्न-भिन्न मार्ग सुझाये गये। हिन्दुस्तान को स्वतन्त्र कर देने की घोषणा देने की प्रार्थना की गई। लेकिन सरकार इस प्रश्न को टालती रही। यह भी कहकर देख लिया गया कि विधान परिषद् के द्वारा बनाया हुआ विधान हिन्दुस्तान में चालू कर दिया जाय। लेकिन इस कल्पना का भी मज़ाक उड़ाया गया। पूना में यहां तक तैयारी बताई गई कि यदि हिन्दुस्तान की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली गई तो हम पूर्ण रूप से सशस्त्र सहयोग करेंगे। पूना वाले प्रस्ताव को तो पास करके कांग्रेस ने अपने को और आज तक की कसौटी पर खरी उतरी हुई अपनी नीति को तिलाञ्जलि ही दे दी। लेकिन वह मांग भी अस्वीकृत कर दी गई। वस्तुतः आज तक सरकार ने किसी बात की सुनवाई नहीं की। यह ठीक है कि संयम का अवलम्बन अच्छा है लेकिन जिस आत्मशक्ति की सहायता से वह संयम व्यवहार में लाया जाता है यदि वह उसीपर आघात करने लगे तो वह सद्गुण नहीं रह जाता। वह दुर्गुण का रूप धारण कर लेता है। गांधीजी ने आगे अपने भाषण में कहा—"मैं केवल कांग्रेस की ओर से ही नहीं बोल रहा हूँ लेकिन उन सब लोगों की ओर से भी बोल रहा हूं जो विशुद्ध राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के पक्षपाती । आज यदि मैं यह कहता हुआ बैठा रहूँ कि 'अंग्रेज़ों को कठिनाई में मत डालो' तो वह उन सबके साथ प्रतारणा करने जैसा होगा और आज के कठिन समय में अपने ऊपर इस प्रकार के बन्धन लाद लेना आत्मघातक सिद्ध होगा।"

इसीलिए इस मौके पर सरकार से एक चौथी मांग की गई। उसमें यह कहा गया था कि "यदि सरकार ने यह घोषित किया कि हिन्दुस्तान के लिए अहिंसात्मक रीति से खुलेआम 'युद्ध-विरोधी नीति का प्रचार करने की स्वतन्त्रता है और हिन्दुस्तान इस बात के लिए स्वतन्त्र है कि सरकारी युद्ध-प्रयत्नों से असहयोग करने की शिक्षा जनता को दे सकता है तो भी हम सविनय अवज्ञा आन्दोलन नहीं करेंगे।" लेकिन जब कांग्रेस की इस मांग को भी स्वीकार नहीं किया गया तो

फिर कांग्रेस के लिए कोई कदम उठाने के अतिरिक्त रास्ता नहीं रहा।

हिंसा को उत्तेजना देने के लिए नहीं बल्कि केवल रामगढ़ कांग्रेस (१६४०) के युद्ध-विषयक प्रस्ताव को जनता को सविस्तार समझाने के लिए ही देश भर में अनेक लोगों पर मुकद्दमे चलाये जा रहे थे। गांधीजी ने कहा—"हम चुपचाप नहीं बैठ सकते। भाषण-स्वातन्त्र्य के अधिकार की स्थापना करने वालों को चुपचाप बैठकर जेल जाते हुए देखना सत्याग्रह नहीं है। यदि हम इसी प्रकार चुपचाप रहे तो कांग्रेस नष्ट हो जायगी और उसके साथ ही देश का साहस नाममात्र के लिए ही रह जायगा।"

मत-स्वातन्त्र्य के अधिकार के लिए जो व्यक्तिगत सत्याग्रह हुआ उसकी उत्पत्ति इस प्रकार हुई। यदि अहिंसा से स्वराज्य प्राप्त करके उसे टिकाये रखना है तो नागरिक स्वतन्त्रता को उसका मूलाधार मानना चाहिए। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में गांधीजी ने जो भाषण दिया उसमें वे कहते हैं—"सरकार यह तो कर ही सकती है। इस अधिकार के लिए झगड़ा करना हमारा कर्तव्य है। इस अधिकार के लिए यदि सरकार ने विरोध किया और उसके लिए हमें लड़ाई लड़नी पड़ी और सरकार को कठिनाई में पड़ना पड़ा तो फिर यह कहा जायगा कि सरकार ने वह कठिनाई खुद होकर ही मोल ली है।"

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के उपर्युक्त प्रस्ताव के आधार पर गांधीजी ने २७ और ३० सितम्बर को वाइसराय से मुलाकात की। लेकिन गांधीजी जिस भाषण-स्वातन्त्र्य के अधिकार को मांग रहे थे उसे स्वीकार करने के लिए वाइसराय तैयार नहीं हुए। गांधीजी की मांग अत्यन्त मामूली और स्पष्ट थी। गांधीजी ने युद्ध-नीति को पूर्वतः अहिंसक ढंग से प्रचार करने की और चूंकि सारे युद्ध-प्रयत्न अन्याय-पूर्ण एवं विनाशकारी होते हैं। अतः जनता को यह बात कहने की कि 'युद्ध-प्रयत्नों में मदद मत करो' स्वतन्त्रता मांगी थी। वाइसराय कुछ

सीमा तक कांग्रेस की मांग स्वीकार करने के लिए तैयार थे; लेकिन कांग्रेस द्वारा प्रस्तुत की हुई सारी मांगों को स्वीकार करने से उसने इन्कार कर दिया।

इंग्लैंड में तो नैतिक दृष्टि से युद्ध का विरोध करने वालों को लड़ाई के काम में भाग न लेने की सहूलियत मिलती है। इतना ही नहीं, उन्हें प्रकट रूप से भी अपने विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता होती है। हाँ, उनको इतनी सुविधा नहीं दी जाती कि वे युद्ध से अपना समर्थन हटा लेने के लिए कहें अथवा युद्ध-प्रयत्नों को बन्द करने के लिए दूसरों को प्रवृत्त करें। वाइसराय ने कहा कि इससे ज्यादा सहूलियत हिन्दुस्तान को नहीं दी जा सकती। लेकिन वे यह बात भूल गये कि हिन्दुस्तान इंग्लैण्ड नहीं है। गांधीजी ने स्पष्ट रूप से कह दिया कि हिन्दुस्तान की वर्तमान परिस्थिति में इतने भर से काम नहीं चल सकता। उन्होंने यह भी कहा कि यदि कांग्रेस का अन्त ही होना है तो अपनी निष्ठा प्रकट करते-करते मरना कहीं अच्छा है।

इसके बाद सत्याग्रह आन्दोलन शुरू हुआ। गांधीजी ने सत्याग्रह के लिए कड़े-कड़े नियम बनाये और एक प्रतिज्ञा तैयार की। इस बार उनका ध्यान सत्याग्रही के 'गुणों' पर ज्यादा था। उन्होंने जाहिर किया कि इस बार वे स्वयं सत्याग्रह नहीं करेंगे। क्योंकि इससे सरकार अधिक कठिनाई में पड़ सकती है। उन्होंने श्रीविनोबा भावे को प्रथम सत्याग्रही के रूप में चुना। सत्याग्रह की तारीख और जगह निश्चित की गई। १७-१०-४० को पवनार में वह सत्याग्रह होने वाला था। वहां विनोबाजी एक भाषण देकर लोगों से यह प्रार्थना करने वाले थे कि युद्ध अनैतिक और अनिष्टकारी है; अतः लोगों को युद्ध-प्रयत्न में मदद नहीं करनी चाहिए। चार दिन तक भाषण देते रहने के बाद वे गिरफ्तार किये गये और उनको ३ महीने की सज़ा दी गई। इसी प्रकार गांधीजी ने कांग्रेस के कुछ कार्यकर्ताओं को युद्ध-सम्बन्धी नीति पर भाषण देते हुए दिल्ली की ओर पैदल जाने को

कहा। अतः सैकड़ों व्यक्ति दिल्ली के लिए रवाना हुए। लेकिन रास्ते में उनके प्रान्त में ही उन्हें पकड़ लिया गया और सजाएं दे दी गईं।

पहिले सत्याग्रही के रूप में विनोबा का चुनाव करते समय गांधीजी ने कहा था कि वे आदर्श सत्याग्रही हैं। उनका वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि कताई के सारे क्षेत्रों में वे प्रवीण हैं। वे जिस ग्राम में रहते हैं वहां से उन्होंने अस्पृश्यता को भगा दिया है। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्यता पर उनका अटल विश्वास है। उन्होंने अनेक अनुयायी और कार्यकर्त्ताओं का निर्माण किया है और वे मानते हैं कि हमारे राष्ट्र के लिए स्वतन्त्रता की आवश्यकता है। इसी प्रकार खादी की प्रधानता वाले रचनात्मक कार्यक्रम के द्वारा ही स्वतन्त्रता मिल सकती है। इस बात पर उनका पूरा विश्वास है। इसके अतिरिक्त उनका यह भी विश्वास है कि राजनैतिक कार्यक्रम की भीड़भाड़ की अपेक्षा रचनात्मक कार्यक्रम एवं सविनय अवज्ञा आन्दोलन का मिला-जुला कार्यक्रम अधिक प्रभावशाली है और सबसे ज्यादा महत्त्व की बात यह है कि वे युद्ध-विरोधी हैं।

"मुझे निर्दोष लड़ाई लड़नी है, संख्या-बल की अपेक्षा मुझे उच्चतम गुणों की आवश्यकता है।" इस आशय की महत्त्वपूर्ण सूचना उन्होंने दे रखी थी। इसके बाद गांधीजी ने सत्याग्रहियों को भाषण देने और वक्तव्य निकालने के बजाय इस आशय के नारे लगाने के लिए कहा कि ब्रिटिशों को युद्ध-प्रयत्न में धन या जन की मदद करना गलत है और सारे युद्धों के प्रतिकार का सर्वोत्तम उपाय अहिंसा ही है। उन्होंने कहा कि इस प्रकार के नारे लगाते हुए उन्हें गिरफ्तार हो जाना चाहिए।

इस प्रश्न पर लगभग ३०००० लोगों ने जेल-जीवन अपनाया और ६ लाख रुपये जुर्माने के रूप में वसूल किये गये। सत्याग्रही स्थानीय मजिस्ट्रेट को सत्याग्रह का समय, स्थान और स्वरूप की

विधिवत नोटिस देते थे। प्रारम्भ में कुछ लोगों ने युद्ध-कमेटी के सदस्यों को पत्र लिखकर उनसे त्यागपत्र देने की प्रार्थना की। कुछ लोगों ने भाषण दिये लेकिन बाद में युद्धविरोधी नारे लगाना ही एकमात्र कार्यक्रम निश्चित किया गया।

यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य है कि प्रान्तीय एवं केन्द्रीय धारासभा, लोकल बोर्ड व म्युनिसिपैलिटियां, कांग्रेस कमेटी एवं अन्य सार्वजनिक क्षेत्रों के बहुत-से प्रतिनिधि इस आन्दोलन में जेल गये। इसके आंकड़े इस प्रकार हैं—११ कांग्रेस वर्किङ्ग कमेटी के सदस्य, १७६ अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य, २९ भूतपूर्व मन्त्री, २२ केन्द्रीय धारासभा के सदस्य और ४०० प्रान्तीय धारासभा के सदस्य। इस दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि यह सत्याग्रह सबसे ज्यादा प्रतिनिधिक था।

१९४१-४२ में जब कुछ सत्याग्रही जेल से छूटे तो गांधीजी ने उनसे कहा कि वे आन्दोलन शुरू रहने तक बार-बार सत्याग्रह करते रहें। मध्यप्रान्त के एक एम. एल. ए. श्री जकातदार का उदाहरण ऐसा है कि बाद में तो सरकार ने उनको जेल न भेजकर जुर्माना करना शुरू कर दिया। फिर भी उन्होंने पाँच बार सत्याग्रह किया। उनके जुर्माने की कुल रकम करीब-करीब १० हजार रुपये हो गई। दो बार सत्याग्रह करने वाले तो सैकड़ों ही थे।

फिर भी इस सत्याग्रह के समय पुलिस या सरकार ने बहुत अनुचित व्यवहार किया, ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसका कारण तो यही है कि सरकार को यह अनुभव हो गया कि परिस्थिति अत्यन्त 'सुरक्षित' है। सरकार को विश्वास था कि इस आन्दोलन से उसकी सत्ता को कोई खतरा नहीं हो सकता। पूर्व सूचना करने वाले सत्याग्रही प्रसन्न मुख से व्यास-पीठ पर चढ़कर निश्चित नारे लगाते और उसी समय उनको गिरफ्तार कर लिया जाता। सैकड़ों लोग उनके आसपास जमा हो जाते और उनको इस प्रकार धूमधाम से विदाई देते मानो वे हवा

बदलने के ही लिए जा रहे हैं। भय, आशंका या कटुता का कहीं भी नाम-निशान नहीं था।

१९४१ के अन्त तक यह सिलसिला चलता रहा। उस समय तक जनता का उत्साह कम हो गया। इस बीच वाइसराय के कार्यकारी मण्डल में अधिक हिन्दुस्तानियों को लिया गया। कांग्रेस ने अपनी ओर से कोई कदम नहीं उठाया। दूसरे दलों और जनमत के दबाव से सरकार ने सत्याग्रहियों को छोड़ना तय किया। इसके बाद बिना किसी कारण के ही सरकार ने यह मान लिया कि कांग्रेस युद्ध-प्रयत्नों में मदद करेगी। इतना ही नहीं, सरकारी पत्रों में भी इस बात का उल्लेख किया गया। सारे कैदियों को छोड़ देने की नीति के अनुसार ४ दिसम्बर १९४१ को सारे कैदी छोड़ दिये गये।

जनवरी १९४२ में वर्धा में वर्किंग कमेटी एवं अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की जो बैठक हुई उसमें फिर से लड़ाई शुरू करने का आदेश नहीं दिया गया। लेकिन जापान के सम्भावित आक्रमण को ध्यान में रखकर स्वयं पूर्णता और आत्मरक्षा पर जोर दिया गया।

आइये, अब उस जबरदस्त लड़ाई की ओर मुड़ें जो इसके बाद ८ अगस्त १९४२ को बम्बई में होने वाली अ० भा० कां० कमेटी के प्रस्ताव के अनुसार शुरू हुई।

: २५ :

'भारत छोड़ो' आन्दोलन

इस समय तक जितने अखिल भारतीय अहिंसक आन्दोलन हुए उनमें यह आन्दोलन अन्तिम है। आज की स्थिति में इस आन्दोलन का संक्षिप्त वर्णन तक नहीं किया जा सकता। लेकिन जिन घटनाओं के कारण यह आन्दोलन प्रारम्भ हुआ वे ही यहां दी जा रही हैं।